संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ७

त्रिकालवर्ती महापुरुष

संकलन एवं सम्पादन
मुनि आदिसागर महाराज शेडवाल

प्रकाशक
जैन विद्यापीठ
सागर (म० प्र०)

त्रिकालवर्ती महापुरुष

संकलन एवं सम्पादन : मुनि आदिसागर महाराज शेडवाल
संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ शुक्ल ५, वीर निर्वाण संवत् २५४३)
आवृत्ति : ११००
वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान
जैन विद्यापीठ
भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२
ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक
विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स
प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

प्रथमानुयोग सम्बन्धी सभी प्रकार की जानकारियों के लिए यह ग्रन्थ एक कुंजी के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। इस ग्रन्थ का संकलन एवं सम्पादन दक्षिण भारत के मुनि आदिसागर शेडवाल ने किया था। इस बात की पर्याप्त जानकारी उपलब्ध है फिर भी अनेक प्रकाशन संस्थाओं के द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों में मुनि श्री का नाम लुप्त हो गया था। जिस कमी को इस संस्करण में पूर्ण किया गया है। एतदर्थ पूर्व प्रकाशक संस्था, संकलन कर्ता एवं पुनः प्रकाशन में सहयोगी सभी सुधी जनों का आभार व्यक्त करते हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना। जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

मुनि श्री आदिसागरजी महाराज का परिचय

जब चन्द्रगुप्त के शासनकाल में उत्तर भारत में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था, तब अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने विशाल संघ को लेकर धर्म रक्षणार्थ दक्षिण गए थे। तब से दक्षिण-भारत वसुंधरा ने जैन समाज के लिए जैन-धर्म के दिग्गज विद्वान् आचार्य समन्तभद्र, अकलंक, जिनसेन, वीरसेन, गुणभद्र जैसे रत्नों को पैदा किया तथा समय-समय पर अनेक नरपुंगव जन्म लेकर जैनधर्म का आचरण कर अपने जीवन को कृतार्थ कर स्वर्ग पथ के पथिक बने।

शेडवाल दक्षिण भारत के जैनियों का अच्छा केन्द्र है। यहाँ पर समय-समय पर जैन धर्म के प्रभावक विद्वान्, मुनि गण होते चले आ रहे हैं। हमारे चरित्र नायक ने अपने जन्म से शेडवाल की भूमि को अलंकृत किया। आपके पिता का नाम देवगौड़ा पाटिल था। माता सरस्वतीबाई थी। उनको **जिजाबाई** भी कहते थे। जो आदर्श गृहिणी सच्चरित्र महिला थी और जैनधर्म की क्रिया व्रत विधान पालने में सदा तत्पर रहती थी। उन्हीं आदर्श-माता के धार्मिक संस्कार बालक **बालगौड़ा** पर अमिट अङ्कित हुए। बालक बालगौड़ा बाल्यावस्था को पार कर विद्याशाला में बैठाये गए और चन्द दिनों में ही आपने मराठी और कन्नड़ी भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। फिर जब तरुण अवस्था में पहुँचे, राज कर्मचारी पद को सुशोभित किया अपने उस पद पर भी नीति पूर्वक कार्य करके अच्छी ख्याति प्राप्त की।

गृहस्थाश्रम में प्रवेश—आपके २ पाणिग्रहण संस्कार हुए, जिनसे आपको चार पुत्र और दो कन्याएँ प्राप्त हुईं। विधि के विधान को कौन मेंट सकता है कि थोड़े दिनों में ही आपके चारों पुत्रों को कराल काल ने अकाल में कवलित कर लिया। दोनों पुत्रियाँ अपने-अपने घर में शान्ति पूर्वक रहने लगीं। जल में भिन्न कमल की भाँति आप गृहस्थाश्रम से विरक्त रहने लगे और अणुव्रतों को अङ्गीकार सच्चे श्रावक पद को धारण करते हुए ३७ वर्ष तक निरतिचार व्रतों का पालन किया। फिर जीवन का अन्त नजदीक (निकट) आया जानकर वीर नि. सं. २४८० फाल्गुन शुक्ल ११ सोमवार के दिन शुभ मुहूर्त और शुभ लग्न में आपने चारित्र चूड़ामणि **श्री १०८ मुनि वर्धमानसागरजी** से दिगम्बरी-दीक्षा धारण कर ली और उपवास कर केशलोंच कर निर्ग्रंथ साधु बन गए। उसी दिन से साधु के २८ मूलगुणों को दृढ़ता से पालने लगे। आप सदा ज्ञान-ध्यान-तप में लीन रहते हैं और अहोरात्रि जैन साहित्य और धर्म शास्त्रों का स्वाध्याय में लगे रहते हैं। आपकी वीतराग मुद्रा सरल, शान्त आकृति मुमुक्षु जीवों को साक्षात् कल्याण-पथ का उपदेश देती रहती है। वे सरस्वती माता एवं पिता धन्य है, जिन्होंने धर्मधीर पुत्र रत्न को पैदा किया।

पूर्व संस्करण से साभार

विषयानुक्रमणिका

परिशिष्ट

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

त्रिकालवर्ती महापुरुष

मंगलाचरण

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु ससप्तत्तिशतात्मके।
धर्मक्षेत्रे त्रिकालेभ्यो जिनादिभ्यो नमो नमः॥

जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप, पुष्करार्धद्वीप इन अढ़ाईद्वीप के एक सौ सत्तर धर्मक्षेत्रों में (विदेहों में भरत, ऐरावत क्षेत्रों में) विराजमान त्रिकालवर्ती जिनेन्द्र भगवान् आदि को मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ।

१. जिनागम—सच्चे सुख तथा अक्षय आनन्द की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन को मुख्य माना गया है। आप्त, आगम और सच्चे साधुओं पर निर्दोष श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। आज अरिहंत परमेष्ठी का इस क्षेत्र में लाभ नहीं होता क्योंकि हुण्डावसर्पिणीकाल का भेद दुःखमाकाल यहाँ विद्यमान है। भगवान् के प्रतिनिधि रूप में उनकी वीतराग वाणी विद्यमान है। उनकी वाणी को आगम कहा गया है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार में आगम का स्वरूप इस प्रकार कहा है–

तस्य मुहग्गयवयणं, पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं, तेणदु कहिया हवंति तच्चत्था॥८॥

अरिहंत भगवान् के मुख से उत्पन्न हुए पूर्वापर दोष से रहित तथा शुद्ध वचनों को आगम कहा है। इस आगम में तत्त्वार्थों का निरूपण किया गया है। आगम में प्रतिपादित जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इसीलिए कुन्दकुन्द स्वामी ने आगम के अभ्यास को सम्यक्त्व में निमित्त कारण स्वीकार किया है।

२. जिनागम के कर्ता—जिनागम के कर्ता तीन प्रकार के कहे गए हैं। अर्थकर्ता, ग्रन्थकर्ता और उत्तर ग्रन्थकर्ता–सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर परमदेव अर्थकर्ता हैं। सात ऋद्धियों के स्वामी चार ज्ञानधारी

श्रमण शिरोमणि गणधर गौतम स्वामी ग्रन्थकर्ता हैं। रागद्वेष रहित तथा आगम के मर्म को समझने वाले मुनीश्वर उत्तर ग्रन्थकर्ता हैं। गणधरदेव तथा आचार्य परम्परा के द्वारा तीर्थंकर भगवान् के वचनामृत का रसास्वाद आज भी भव्य जीव कर सकते हैं।

इस प्रसंग में निम्नलिखित विवेचन ध्यान देने योग्य है।

शास्त्रों में अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर प्रभु को अर्थकर्ता कहा गया है। '**महावीरोऽर्थकर्ता**' (धवला टीका) उनको मूलग्रन्थकर्ता भी कहते हैं। उनने दिव्यध्वनि के द्वारा सूत्रार्थ को प्रकाशित किया था। षट्खण्डागम सूत्र की टीका में लिखा है–

उप्पण्णम्हि अणंते णट्ठम्मि य छादुमत्थिएणाणे।
णवविहपयत्थगब्भा दिव्वज्झुणी कहेइ सुत्तट्ठं ॥६४॥

छद्मस्थावस्था सम्बन्धी ज्ञान के नष्ट होने पर तथा अनंतज्ञान के उत्पन्न होने पर नौ प्रकार के पदार्थों से गर्भित दिव्यध्वनि सूत्रार्थ का प्रतिपादन करती है।

उस दिव्यध्वनि द्वारा कथित पदार्थ का इन्द्रभूति गौतम गणधर ने अवधारण किया। गणधरदेव ने बारह अंग तथा चौदह पूर्व रूप ग्रन्थों की रचना एक मुहूर्त मात्र में भी की थी ''**इंदभूदिणा...बारहंगाणं चोद्दस पुव्वाणं च गंथाण मेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा।**'' भावश्रुत तथा अर्थ पदों के कर्ता तीर्थंकर हुए। तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुत पर्याय से परिणत हुए। इसलिए द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर हैं। इस प्रकार गौतम गणधर से ग्रन्थ रचना हुई। कहा भी है–''**तदो भावसुदस्स अत्थपदाणं च तित्थयरोकत्ता। तित्थयरादो सुदपज्जाएण गोदमो परिणदो त्ति दव्व सुदस्स गोदमोकत्ता। तत्तो गंथ रयणा जादेत्ति।**'' (धवला टीका, भाग १, पृ० ६५)

३. चार अनुयोग–द्वादशांग रूप जिनवाणी को **प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग** तथा **द्रव्यानुयोग** रूप चार भेदों में विभक्त किया गया है। दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग के तीसरे भेद का नाम प्रथमानुयोग है। उसमें पाँच हजार पदों के द्वारा पुराणों का वर्णन किया गया है। धवला टीका में ये महत्त्वपूर्ण गाथाएँ उद्धृत की गई हैं–

बारस विहं पुराणं जंगदिहं जिणवरेहि सव्वेहिं।
तं सव्वं वण्णेदि हु जिणवंसे रायवंसे य॥

पढमो अरहंताणं विदियो पुण चक्कवट्टि वंसो दु।
विज्जहराणं तदियो चउत्थओ वासुदेवाणं॥

चारणवंसो तह पंचमो दु छट्ठो य पण्णसमणाणं।
सत्तमओ कुरुवंसो अट्ठमओ तह य हरिवंसो॥

णवमो य इक्खायाणं दसमो वि य कासियाण बोद्धव्वो।
वाईणेक्कारसमो बारसमो णाह वंसो दु॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव ने बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया है। अत: वे समस्त पुराण जिन वंश तथा राजवंशों का वर्णन करते हैं। पहला पुराण अरिहंतों का, दूसरा चक्रवर्तियों का, तीसरा विद्याधरों का, चौथा नारायण, प्रतिनारायणों का, पाँचवाँ चारणों का, छट्ठा प्रज्ञाश्रमणों का, सातवाँ कुरुवंश का, आठवाँ हरिवंश का, नौवाँ इक्ष्वाकुवंश का, दशवाँ काश्यप वंश का, ग्यारहवाँ वादियों के वंश तथा बारहवाँ नाथ वंश का निरूपण करते हैं। (पृ० ११२, भाग १) प्रथमानुयोग का स्वरूप समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में इस प्रकार कहा है–

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं, चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधि: समाधिनिधानं, बोधति बोध: समीचीन:॥४३॥

अर्थ—समीचीन ज्ञान पुराणों तथा चारित्र ग्रन्थों को, जो श्रोताओं के पुण्य का कारण होने से पुण्य स्वरूप है, जिनमें परमार्थरूप तत्त्वों का, पदार्थों का कथन है, अर्थात् जिनमें काल्पनिक बातों का निरूपण नहीं किया गया है, जो रत्नत्रय की प्राप्ति रूप बोधि तथा समाधि अर्थात् रत्नत्रय के रक्षण और ध्यान में कारण है, वह प्रथमानुयोग कहलाता है।

प्रभाचन्द्राचार्य की टीका में लिखा है–''**एक पुरुषाश्रिता कथा चरितं**'' एक पुरुष सम्बन्धी कथन को चरित्र कहते है। ''**त्रिषष्ठिशलाका पुरुषाश्रिता कथा पुराणं**'' अर्थात् त्रेसठ शलाका पुरुषों सम्बन्धी कथा को पुराण कहते हैं। ''**तदुभयमपि प्रथमानुयोग शब्दाभिधेयम्**'' चरित्र तथा पुराण इन दोनों को प्रथमानुयोग शब्द से कहा गया है।

तार्किकचूड़ामणि समन्तभद्र स्वामी की उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथमानुयोग में सच्चा इतिहास है। वह काल्पनिक सामग्री से नहीं भरा है। अत: भव्यों के द्वारा अत्यन्त आदर योग्य है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति प्रथमानुयोग में अपने लिए बोधि तथा समाधि की महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त करता है। मिथ्यात्वी भद्र जीव प्रथमानुयोग की वाणी के स्वाध्याय द्वारा मिथ्यात्व रूप महारोग से छूटकर मोक्षमार्ग में लगता है।

प्रथमानुयोग का अर्थ गोम्मटसार जीवकाण्ड की बड़ी टीका के पृ० ७७३ में इस प्रकार कहा है– ''**प्रथमं मिथ्यादृष्टिमव्रतिकमव्युत्पन्नं वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोनुयोगोऽधिकार प्रथमानुयोग:। चतुर्विंशति तीर्थंकर द्वादश चक्रवर्ति-नवबलदेव-नववासुदेव-नव प्रतिवासुदेव रूप त्रिषष्टि शलाका पुरुष पुराणानि वर्णयति**'' अर्थात् प्रथम शब्द द्वारा मिथ्यादृष्टि, अव्रती तथा अव्युत्पन्न अर्थात् विशेष ज्ञान रहित जीव का ग्रहण किया गया है। इन प्रतिपाद्यों अर्थात् उपदेश के पात्रों का आश्रय लेकर प्रवृत हुए अधिकार को प्रथमानुयोग कहा है। इस प्रथमानुयोग में चौबीस तीर्थंकर,

द्वादश चक्रवर्ती, नव बलभद्र, नव नारायण, नव प्रतिनारायण इन त्रेसठ शलाका पुरुषों का वर्णन किया गया है।

जीवन चरित्र तथा इतिहास के पठन-पाठन द्वारा जीवन को उज्ज्वल बनाने में बहुत प्रेरणा प्राप्त होती है। आत्मा को संकट के समय धैर्य प्राप्त होता है, अशुभ परिणाम तथा आर्त-रौद्र नाम के दुर्ध्यान नहीं होते हैं।

आचार्य जिनसेन लिखते हैं-

पश्य धर्मतरोरर्थः फलं कामस्तु तद्रसः।
सत्रिवर्गत्रयस्यास्यमूलंपुण्यकथाश्रुतिः ॥२-३१॥

हे श्रेणिक! देखो, यह धर्म तो एक वृक्ष रूप है, जिसका फल अर्थ है और उस फल का रस काम पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ और काम रूप इस त्रिवर्ग का मूल अर्थात् मुख्य कारण रूप यह पुण्य पुरुषों की कथा का सुनना है।

४. महापुरुष—सामान्य रूप से ही मनुष्य की मुद्रा धारण करना प्रत्येक मनुष्यायु के उदय का अनुभव करने वाले मानव में पाया जाता है। उनमें जो पुरुष वासनाओं, विकारों, कषायों आदि का दास न बनकर आत्मावलम्बी हो अपने रत्नत्रय धर्म को उज्ज्वल बनाते हुए आत्म विकास के क्षेत्र में वर्धमान होते हैं, उन मनस्वी व्यक्तियों को महापुरुष कहते हैं। जो आत्मा हिंसादि विकारों से मलिन हो, रागद्वेष मोहादि मल से कलंकित हो, उसे जघन्य जीव कहते हैं। महापुरुष के लिए जितेन्द्रियत्व अत्यन्त आवश्यक गुण है। मद्य, मांसादि पाप कार्यों में आसक्त लौकिक क्षणिक प्रभाव प्रदर्शित करने वाले व्यक्ति को महापुरुष कहने की प्रणाली बहिर्जगत् में पाई जाती है, किन्तु धर्म के उज्ज्वल क्षेत्र में ऐसे पापी प्राणी को महापुरुष मानना न्यायोचित नहीं है।

सर्वज्ञ, वीतराग तथा **हितोपदेशी** जिनेन्द्र भगवान् ने अपने केवलज्ञान के द्वारा त्रिकालवर्ती पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान करके अपनी दिव्यध्वनि द्वारा उनका प्रतिपादन किया था। अतएव जिनागम के आश्रय से त्रिकालवर्ती महापुरुषों के जीवन, गुण आदि के विषय में संक्षेप प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायेगा।

भरत क्षेत्र में, जिनागम में १६९ महापुरुष कहे गए हैं। ये विशेष पुण्याधिकारी होते हुए अंत में मोक्ष पदवी को प्राप्त करते हैं। उनके विषय में ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला जाता है।

क्रमांक	१६९ महापुरुषों के नाम	संख्या	विशेष कथन
१.	कुलकर या मनु	१४	ये तीसरे काल के अंत में होते है तथा सभी ऊर्ध्वगामी होते हैं।
२.	तीर्थंकरों के पिता	२४	सब ऊर्ध्वगामी होते हैं।

३.	तीर्थंकरों की माता	२४	सब ऊर्ध्वगामी होते हैं।
४.	तीर्थंकर	२४	ये सब चौथे काल में होते हैं और सभी मोक्षगामी होते हैं।
५.	सकल चक्रवर्ती	१२	कोई मोक्षगामी कोई उर्ध्वगामी कोई अधोगामी होते हैं।
६.	बलदेव (राम)	९	सब ऊर्ध्वगामी होते हैं।
७.	वासुदेव (नारायण)	९	सब अधोगामी होते हैं।
८.	प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण)	९	सब अधोगामी होते हैं।
९.	नारद	९	सब अधोगामी होते हैं।
१०.	रुद्र	११	सब अधोगामी होते हैं।
११.	कामदेव	२४	सब मोक्षगामी होते हैं।
	कुल	१६९	

इन १६९ महापुरुषों में इस हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से कुछ संख्या में न्यूनता आ गई है। इसलिए **शांतिनाथ, कुन्थुनाथ** तथा **अरनाथ** इन तीन तीर्थंकरों को कामदेव तथा चक्रवर्ती इन दो पदवियों के भी स्वामी कहा गया है। इस प्रकार ये तीन पदवी तीर्थंकर, कामदेव तथा चक्रवर्ती के धारक कहे गए हैं। अतएव व्यक्तियों के गणना की अपेक्षा १६३ महापुरुष हुए हैं।

५. त्रेसठ शलाका महापुरुष—उपरोक्त १६९ पुण्य पुरुषों में चौबीस तीर्थंकर, द्वादश चक्रवर्ती, नव बलदेव, नव वासुदेव, नव प्रतिवासुदेव, इस प्रकार ६३ सत्पुरुषों को त्रेसठ शलाका पुरुष कहते हैं।

यह कथन जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्र की अपेक्षा है। धातकीखण्ड द्वीप में दो भरत क्षेत्र हैं। इसी प्रकार पुष्करार्धद्वीप में भी दो भरत क्षेत्र हैं। इन चारों क्षेत्रों में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र समान १६९ पुण्य पुरुष माने गए हैं। पञ्च ऐरावत क्षेत्रों के विषय में भी ऐसा ही कथन पाया जाता है। पञ्च भरत, पञ्च ऐरावत के समान पञ्च विदेह भी कहे गए हैं। प्रत्येक पूर्वापर विदेह में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के समान बत्तीस-बत्तीस देश हैं। विदेह में सदा चौथे काल सदृश रचना पाई जाती है। यही बात त्रिलोकसार संस्कृत टीका पृ० ६७३, गाथा ८८२ में इस प्रकार कही गई है–''**चतुर्थ कालो विदेहे चावस्थित एव।**'' विदेह में चतुर्थकाल अवस्थित ही रहता है। उसमें यह भी कहा है–

भरहइरावद पण-पण म्लेच्छखंडेसु खयरसेढीसु।
दुस्समसुसमादीदो अंतोत्ति य हाणिवड्ढी य ॥८८३॥

(सं. छाया) –**भरतः ऐरावतः पञ्च-पञ्च म्लेच्छखंडेसु खचरश्रेणिषु।**
दुःषमसुषमादितः अंत इति च हानिवृद्धी च॥८८३॥

अर्थ–भरत तथा ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्डों के तथा विद्याधर श्रेणियों में चतुर्थकाल के आदि से अंत पर्यंत आयु आदि सम्बन्धी हानि होती है। वहाँ पञ्चमकाल तथा छठवें काल नहीं होते हैं उत्सर्पिणीकाल में तृतीय काल के आरम्भ से लेकर उसके अंत पर्यंत वृद्धि होती है। वहाँ चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठमकाल नहीं होते। कहा भी है–**'(अवसर्पिण्यां)' पञ्चमषष्ठकालौ न प्रवर्तेते। उत्सर्पिण्यां तु तृतीयकाल स्यादित आरम्भ तस्यैवांतपर्यन्तं वृद्धि रेव स्यात्। तत्र चतुर्थपञ्चमषष्ठकाला न प्रवर्तन्ते।** (पृ० ३५२)

त्रिलोकसार का यह कथन ध्यान देने योग्य है–

पढमो देवे चरिमो णिरए तिरिए णरेवि छक्काला।
तदियो कुणरे दुस्समसरिसो चरिमुवहिदीवद्धे॥८८४॥

संस्कृत छाया–

प्रथमो देवे चरमो नरके तिरश्चि नरेऽपि षट्काला।
तृतीयः कुनरे दुःषम सदृश चरमोदधिद्वीपार्धे॥

देवगति में प्रथम काल है। नरक में छठवाँ काल है। तिर्यञ्चगति तथा मनुष्य में छहकाल होते हैं। कुमनुष्य भोगभूमि में तीसरा काल रहता है। स्वयंभूरमण द्वीपार्ध में तथा स्वयंभूरमण समुद्र में पञ्चम काल समान काल पाया जाता है।[१]

विदेहक्षेत्र में सदा चतुर्थकाल रहने से शलाका पुरुष सदा पाये जाते है। भरत क्षेत्र में छह प्रकार का काल चक्र चलता रहता है। अतः यहाँ अवसर्पिणी के चतुर्थकाल में तथा उत्सर्पिणी के तृतीय काल में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण आदि महापुरुषों का सद्‌भाव पाया जाता है।

६. तीर्थंकर-चक्रवर्ती और कामदेव पद–भगवान् शांतिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरनाथ तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा कामदेव हुए हैं, अतएव कोई यह सोचते हैं कि शेष इक्कीस तीर्थंकर का

---

१. सिद्धान्तसार दीपक में कहा है–

विजयार्ध नगेष्वत्र म्लेच्छखण्डेषु पञ्चसु।
चतुर्थ काल एवास्ति शाश्वतो निरूपद्रवः॥

विजयार्थ पर्वतों में पञ्च म्लेच्छ खण्डों में सदा उपद्रव रहित चतुर्थकाल रहता है।

नागेन्द्र पर्वताद्बाह्ये स्वयंभूरमणार्णवे।
स्वयंभूरमण द्वीपार्धे कालः पञ्चमोऽव्ययः॥

नागेन्द्र पर्वत के बाहर स्वयंभूरमण द्वीप के अर्धभाग में तथा स्वयंभूरमण समुद्र में अविनाशी पञ्चमकाल रहता है।

पुण्य, प्रभाव तथा सौन्दर्य पूर्वोक्त तीर्थंकर त्रय की अपेक्षा न्यून होगा।

समाधान—जगत् में प्रत्येक दृष्टि से तीर्थंकर का पद श्रेष्ठ कहा गया है। जिस प्रकार प्रकाश में सूर्य के तेज की श्रेष्ठता को सभी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार रूप, प्रभाव, पुण्य प्रताप आदि समस्त गुणों की अपेक्षा तीर्थंकर भगवान् के समान अन्य नहीं है। धवला टीका, भाग १, पृ० ५८ में लिखा है–

सकलभुवनैकनाथस्तीर्थंकरो वर्ण्यते मुनिवरिष्ठैः।
विधुधवलचामराणां तस्य स्याद्वै चतुःषष्ठिः॥

अर्थ—मुनीन्द्रों ने तीर्थंकर को त्रिभुवन का अद्वितीय स्वामी कहा है। उनके ऊपर चन्द्रोज्ज्वल चौंसठ चामर ढुराये जाते हैं।

त्रिलोकसार में लिखा है–

सयणभुवणेक्कणाहो तित्थयरो कोमुदीव कुंदं वा।
धवलेहिं चामरेहिं चउसट्ठिहि विज्जमाणो सो ॥६८६॥

अर्थ—जो तीन लोक के अद्वितीय स्वामी हैं। चाँदनी के समान अथवा कुन्द पुष्प के समान धवल चौंसठ चँवर जिन पर ढुराये जाते हैं, वे तीर्थंकर भगवान् हैं।

अकलंक स्वामी ने राजवार्तिक में लिखा है, **''यस्योदयात् आर्हंत्यमचिंत्यविभूति विशेष युक्त मुपजायते तत्तीर्थकरत्व नाम कर्म प्रतिपत्तव्यं''** (पृ० ३०९) जिस कर्म के उदय से अचिंत्य अर्थात् जिसकी कल्पना तक न की जा सके, ऐसी विभूति विशेष युक्त अर्हत् पद प्राप्त हो, उसे तीर्थंकरत्व नामकर्म जानना चाहिए।

स्वामी समन्तभद्र ने तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली अर्हत् पदवी को अचिंत्य कहा है, अद्‌भुत होने के साथ त्रिलोक द्वारा पूजा अर्थात् स्तुति का पात्र कहा है। स्वयंभू स्तोत्र में पार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति में उन्होंने अरिहंत भगवान् के प्रति पूर्वोक्त विशेषणों का प्रयोग किया है। यथा–

स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम्।
अवापदार्हंत्यमचिंत्यमद्‌भुतं त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम्॥१३३॥

अतएव तीर्थंकर पदवी के समक्ष कामदेव पदवी अथवा चक्रवर्ती की वैभव-विभूति अपनी विशेषता नहीं रखती। जिस प्रकार सूर्य के नभो मण्डल में प्रकाश व्याप्त होने पर रात्रि के समय अपनी ज्योत्स्ना द्वारा जगत् को आनंदित करने वाला चन्द्र पलाश पत्र के समान पाण्डुर वर्णयुक्त हो जाता है **''यद्वासरे भवति पाण्डु पलाशकल्पम्''** उसका रंचमात्र भी महत्त्व नहीं रहता है और न उसके प्रकाश का स्वतंत्र पता चलता है, उसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति रूप सूर्य के प्रकाश फैलने पर

चक्रवर्तित्व अथवा कामदेवपने की विशेषता उस पुण्य सिंधु में विलीन हो जाती है।

कामदेव सौन्दर्य का अप्रतिम पुंज माना गया है, किन्तु उसकी तुलना तीर्थंकर से नहीं हो सकती। तीर्थंकर भगवान् के जन्म होते ही जन्माभिषेक के लिए उनको मेरु पर ले जाते समय इन्द्र प्रभु के सौन्दर्य को देखकर इतना चकित होता है कि वह विस्मय युक्त हो प्रभु के रूप सुधा पान की लालसावश अपने दो नेत्रों के स्थान पर हजार नेत्र बनाता है। यही बात समन्तभद्र स्वामी ने अरनाथ भगवान् की स्तुति में कही है–

तवरूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान्।
द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः॥८९॥

ऐसा सौन्दर्य कामदेव में कहाँ पाया जाता है कि देवेन्द्र तक विस्मय के सिन्धु में डूब जायें।

मानतुंगाचार्य जिनेन्द्र के सौन्दर्य के विषय में लिखते हैं–

यैः शांतरागरूचिभिः परमाणुभिस्त्वम्।
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ॥
तावंत एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्याम्।
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति॥१२॥

हे त्रिलोक में शोभायमान जिनेन्द्र! जिनशांतता परिपूर्ण परमाणुओं द्वारा आपके शरीर की रचना हुई है, वे परमाणु जगत् में उतने ही थे, इसी कारण आपके समान सुन्दर अन्य व्यक्ति नहीं पाया जाता।

महावैभव तथा विभूति का अधिपति भी तीर्थंकर के चरणों को प्रणाम करता है, क्योंकि ज्ञान साम्राज्य के अधिपति तथा धर्म चक्र के स्वामी तीर्थंकर की सेवा द्वारा वह अपनी आत्मा के लिए प्रकाश प्राप्त करता है। इससे तीर्थंकरत्व के समक्ष चक्रवर्ती पद तथा कामदेव पद विशेषता नहीं धारण करते।

प्रश्न—तीर्थंकर भगवान् की विशेषता में कहा गया सम्पूर्ण कथन हमें मान्य है, फिर भी यह जानना है कि तीर्थंकरत्व के साथ उपरोक्त चक्रवर्ती और कामदेव पदवी का संयोग उनमें अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा कोई विशेषता उत्पन्न करता है या नहीं?

समाधान—लोक व्यवहार में शांतिनाथादि तीन तीर्थंकरों को तीन पदवी का धारक कहते हैं और शेष इक्कीस भगवान् की इस प्रकार स्तुति नहीं की जाती, इतना अंतर तो उनमें है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से सबमें समानता है। एक उदाहरण से विषय स्पष्ट हो जायेगा। दिन के प्रकाश में यदि कोई एक जगह दो दीपक जला दे, तो क्या उस उजाले से सूर्य के प्रकाश में वृद्धि हो जायेगी और उनके बुझाने से प्रकाश में न्यूनता आ जायेगी? सूर्य के प्रकाश के आगे दीपकों का जलना न जलना तनिक भी महत्त्व नहीं रखता। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् के कामदेव तथा चक्रवर्ती पदवी के धारण करने तथा न करने

के विषय में बात जानना उचित होगा। "**सर्वे पदाः, हस्तिपदे निमग्नाः**" हाथी के पाँव के भीतर सभी के पाँव समा जाते हैं, इसी प्रकार अचिंत्य, अद्‌भुत तथा त्रिलोकवंद्य तीर्थंकर पदवी के समक्ष अन्य पदवियों का सद्‌भाव कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता है।

तीर्थंकर प्रकृति की श्रेष्ठता को सूचित करते हुए अकलंक स्वामी लिखते है–"**तीर्थंकरत्वं हि प्रधानभूतं सर्वेषुशुभकर्मसु ततस्तस्य पृथग्ग्रहणं क्रियते**" (राजवार्तिक, पृ० ३१०) समस्त शुभ कर्मों में तीर्थंकरत्व प्रधान रूप है, इससे उसका नामकर्म की प्रकृतियों में पृथक् रूप से सूत्र में उल्लेख किया गया है।

७. त्रेसठ शलाका पुरुष कहाँ-कहाँ से आकर जन्म लेते हैं?

समाधान—मूलाचार में लिखा है–

णिरयेहिं णिग्गदाणं अणंतरभवम्हिणत्थि णियमादो।
बलदेव-वासुदेवत्तणं च तह चक्कवट्टित्तं॥११६३॥

अर्थ—नरक से आने वाला जीव अनन्तर भव में बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती पद को नहीं प्राप्त करता है।

स्वर्ग से आने वाला जीव उपरोक्त पदों को प्राप्त करता है। सिद्धान्तसार दीपक में लिखा है–

निर्गत्य नरकाज्जीवा चक्रेश-बल-केशवाः।
तच्छत्रवो न जायंते चयंत्यंते यतो दिवः॥

अर्थ—नरक से निकलकर बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव और चक्रवर्ती पद को नहीं प्राप्त करते किन्तु स्वर्ग से आने वाले इन पद को धारण करते हैं।

त्रिलोकसार में भी लिखा है–"**णिरयचरोणत्थि हरिबल-चक्की**"

मूलाचार में लिखा है–

माणुस तिरियाय तहा सलागपुरिसाण होंति खलु णियमा।
तेसिं अणंतरभवे भयणिज्जं णिव्वुदीगमणं॥११७२॥

मनुष्य और तिर्यञ्चगति से आकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण रूप शलाका पुरुष नहीं होते।

मूलाचार में यह भी लिखा है कि–

आजोदि संति देवा सलागपुरिसा ण होंति ते णियमा।
तेसिं अणंतरभवे भजणिज्जं णिव्वुदीगमणं॥११८१॥

भवनत्रिक देवों में से आकर कोई शलाका पुरुष नहीं होते। यही बात त्रिलोकसार में भी इस

प्रकार कही गई है–

णर-तिरिय-गदीहिं तो भवणतिया-दोय णिग्गया जीवा।
ण लहंते ते पदविं तेवट्ठि-सलागपुरिसाणं॥५४९॥

अर्थ– मनुष्य तथा तिर्यञ्चगति से निकले तथा भवनत्रिक से निकले जीव त्रेसठ शलाका पुरुषों की पदवी को नहीं प्राप्त करते हैं।

मूलाचार में लिखा है–

णिव्वुदिगमणे रामत्तणेयतित्थयर-चक्कवट्टि ते।
अणुदिसणुत्तरवासी तदो चुदा होंति भयणिज्जा ॥११८३॥

अनुदिश तथा अनुत्तर विमानवासी कल्पातीत देव चयकर बलदेव, तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती पदवियों को प्राप्त कर सकते हैं।

उपरोक्त आगम से यह बात स्पष्ट होती है कि नरक से चय कर तीर्थंकर पदवी के सिवाय चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव नहीं होते। तीसरे नरक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर हो सकता हैं। भवनत्रिक से चय कर तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि शलाकापुरुष नहीं होते। भावों की विचित्रता है कि भवनत्रिक रूप देव पर्याय वाला जीव तीर्थंकर नहीं होता और तीसरे नरक तक का नारकी तीर्थंकर हो सकता है। विमानवासी देव शलाका पुरुष हो सकता है।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है–

तित्थयरा-तग्गुरुओ-चक्की-बल केसि-रुद्द-णारद्दा।
अंगज-कुलयर पुरिसा, भव्वा सिज्झंति णियमेण॥४-१४८५॥

तीर्थंकर, उनके माता, पिता, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, प्रति नारायण, रुद्र, नारद, कामदेव और कुलकर ये सभी भव्य रहते हैं और नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

८. विशेष प्रसिद्ध हुए महापुरुषों के नाम—इन १६९ महापुरुषों में ये जगत् में विशेष प्रसिद्ध हुए हैं:-

१. नाभिराज—मनु (कुलकरों में १४ वां कुलकर)

२. श्रेयांसराजा—दातृशिरोमणि हस्तिनापुर के राजा।

३. भरत चक्रवर्ती—श्री ऋषभनाथ भगवान् के ज्येष्ठ पुत्र, भावों की निर्मलता में विख्यात हुए, इन्होंने अन्तर्मुहूर्तकाल में केवलज्ञान प्राप्त किया।

४. बाहुबली—श्री ऋषभनाथ भगवान् के पुत्र, प्रथम कामदेव, तप में प्रसिद्ध हुए। एक वर्ष तक कायोत्सर्ग आसन से खड़े रहे थे।

५. **रामचन्द्र**—अष्टम बलभद्र।

६. **हनुमान**—१८ वाँ कामदेव, रूप में प्रसिद्ध हुए।

७. **रावण**— ८ वाँ प्रति नारायण, मानी पुरुषों में प्रसिद्ध हुए।

८. **कृष्ण**—९ वाँ नारायण।

९. **पार्श्वनाथ स्वामी**—तीर्थंकर, उपसर्ग केवली।

१०. **महादेव**—११ वाँ रुद्र पार्वती का पति।

कुलकर-मनु या युगादि पुरुष

भोगभूमि का अंत होते समय तथा कर्मभूमि के प्रारम्भ काल में विशेष परिवर्तन देखकर चकित और चिंतित मानव समाज को निराकुल बना ठीक मार्ग का प्रदर्शन करने वाले चौदह महापुरुष होते हैं। इनको **'कुलकर'** कहते हैं। महापुराण में लिखा है कि–ये सब कुलकर अपने पूर्वभव में विदेह क्षेत्र में उच्च कुल वाले महापुरुष थे उन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण करने के पूर्व में पुण्यप्रद पात्र दान आदि उज्ज्वल कार्यों के द्वारा भोगभूमि की आयु बाँध ली थी। पश्चात् जिनेन्द्र भगवान् के समीप उन्होंने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया और विशेष श्रुतज्ञान की प्राप्ति की तथा आयु के अंत होने पर मरण कर वे इस भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए थे। इनमें से कितने ही अवधिज्ञानरूपी नेत्र के धारक थे और कितने ही जातिस्मरण युक्त थे इसलिए उन्होंने विचार कर प्रजा के लिए उपकारी कार्यों का उपदेश दिया था। (महापुराण पर्व ३ श्लोक २०७-२१०) जिनसेन स्वामी कहा है–

प्रजानां जीवनोपायमननान्-मनवोमताः।
आर्याणां कुलसंस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे ॥३-२११॥
कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति।
युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः ॥२१२॥

ये प्रजा के जीवन का उपाय जानने से **'मनु'** कहे गए हैं। आर्य पुरुषों को कुल की भाँति इकट्ठे रहने का उपदेश देने से **कुलकर** कहलाते थे। कुलों के अर्थात् वंशों के धारण करने से अर्थात् उनका स्थापन करने से उन्हें **कुलधर** कहा गया है। युग के आरम्भ में जन्म लेने से इन्हें **युगादि पुरुष** भी कहते है।

इन कुलकरों को हरिवंशपुराण में महाप्रभाव सम्पन्न होने के साथ अपने जन्मांतर के स्मरण समन्वित कहा है।

''**महाप्रभावसम्पन्नः स्वभवस्मरणान्वितः।**'' (७-१२५४) हरिवंश पुराण में इनको मनु इससे कहा है कि ये मनुष्यों के प्रयोजनभूत कार्यों का ज्ञान धारण करते थे। ''**मननात् मनुजार्थस्य**

मनु संज्ञा मनुसृतः'' (८-१)

मनु शब्द मन् धातु से बना है उसका अर्थ है अवबोधन अर्थात् दूसरों को बताना। इन महापुरुषों ने समयानुसार प्रजा जनों को अनेक प्रकार से जीवनोपायों का ज्ञान कराया था। महापुराण में लिखा है–

वृषभस्तीर्थकृच्चैव कुलकृच्चैव सम्मतः,
भरतश्चक्रभृच्चैव कुलधृच्चैव वर्णितः॥३-२१३॥

भगवान् वृषभदेव तीर्थंकर थे तथा कुलकर भी माने गए हैं। भरतेश्वर चक्रवर्ती थे तथा कुलकर भी कहलाते थे।

२. अपराधी प्रजा के लिए दण्डव्यवस्था का स्वरूप—एक से लेकर पाँच कुलकरों ने दोषी मनुष्यों को '**हा**' कहकर अर्थात् खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया है, दण्ड की व्यवस्था की थी। आगे के पाँच कुलकरों ने '**हा**' के साथ '**मा**' रूप दण्ड की व्यवस्था की थी, '**हा मा**' अर्थात् तुमने बुरा किया आगे ऐसा अपराध मत करो। तथा शेष कुलकरों ने '**हा मा धिक्**' अर्थात् तुम्हें धिक्कार है। इस प्रकार दण्ड की व्यवस्था की थी। आदिनाथ भगवान् के समय में उक्त प्रकार की दण्ड पद्धति थी। विशेष दण्ड व्यवस्था की नियोजना करने में सोलहवें कुलकर महाराज भरत का नाम आता है।

महापुराणकार कहते है कि–

शरीरदंडनं चैव वधबंधादिलक्षणम्।
नृणां प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम्॥३-२१६॥

महान् अपराध करने वाले पुरुषों के लिए भरत चक्रवर्ती ने वध, बंधन आदिक शारीरिक दण्ड की पद्धति चलाई थी।

इस प्रकार जैनधर्म की दृष्टि से दण्ड व्यवस्था के पुरस्कर्ता के रूप में भरतेश्वर का प्रथम स्थान है।

ऋषभनाथ भगवान् ने प्रजा को शस्त्र संचालन, कृषि करना, वाणिज्य, शिल्प, मसि तथा पशुपालन आदि प्रजा के जीवनोपयोगी कार्यों को बतलाया था, इसलिए वे प्रजापति कहलाये। यथार्थ में अन्य सम्प्रदाय में कथित प्रजापति की प्रसिद्धि इन ऋषभनाथ भगवान् की ही महिमा को बताती हैं। इन भगवान् ने केवलज्ञान के पश्चात् धर्म तीर्थ का प्रवर्तन किया था। चक्रवर्ती भरत ने छह खण्डों को जीतकर आदर्श राज्य पद्धति की स्थापना की थी। अन्य सम्प्रदाय में आदर्श राज्य को रामराज्य कहा जाता है। भगवान् मुनिसुव्रतनाथ बीसवें तीर्थंकर के शासन काल में महाराज रामचन्द्र हुए हैं। जैनदृष्टि से उनको तथा अन्य नीति मार्ग पर चलने वाले नरेशों को आदर्श शासक चक्रवर्ती भरत की लोक शासन पद्धति से प्रकाश और प्रेरणा मिलती रही है। सिद्धान्तसार दीपक में भी भगवान् ऋषभनाथ

को कुलकर कहा है तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत को चक्री कुलकर तथा वध-बंध आदि दण्ड-प्रदाता कहा है। यथा–

वृषभस्तीर्थकृत पूज्यः कुलकृत् त्रिजगद्धितः।
हा-मा-धिग्नीतिमार्गोक्तोस्य पुत्रो भरतोऽग्रजः॥ अध्याय ९॥
''**चक्री-कुलकरो जातो वध-बंधादिदंडभृत्।**'' (सिद्धान्तसार दीपक)

३. भोगभूमि के युगल और भोग सामग्री–भोगभूमि में स्त्री-पुरुषों में युगल धर्म पाया जाता था। जिनसेन स्वामी का यह कथन ध्यान देने योग्य है 'भोगभूमि में जिस समय दम्पति (युगल) का जन्म होता है उस समय उनके जनक और जननी का देहान्त हो जाता है अतएव वहाँ के जीवों में पुत्र आदि का संकल्प नहीं होता है। (पर्व ९-६०) पुरुष को उसकी स्त्री **आर्य** कहती थी और उसे पुरुष **आर्या** कहता था। भोगभूमि के समय में पुरुषों तथा स्त्रियों के यही साधारण नाम थे। लोग सरल प्रकृति के थे **पुरुष को छींक** आने पर और **स्त्री को जम्हाई** आने पर मरण होता था। इन जीवों को आजीविका के लिए कष्ट नहीं उठाना पड़ता था। वहाँ पाँचों इन्द्रियों को अवर्णनीय सुख सामग्री मिलती थी।

हरिवंश पुराण में लिखा है–

दशधा कल्पवृक्षोत्थं भोगं युग्मानि भुञ्जन्ते।
दशाङ्गभोगचक्रेशभोगतोऽभ्यधिकं तदा॥७-९१॥

अर्थ–वे दम्पति दस प्रकार के कल्पवृक्षों से उत्पन्न भोगों को भोगते थे। जो दशांग भोगों के भोगने वाले चक्रवर्ती के भोगों की अपेक्षा अधिक थे।

उन दस प्रकार के कल्पवृक्षों का इस प्रकार वर्णन किया गया है–

१. **गृहांग**–नाना प्रकार के उत्तमोत्तम गृह देने वाले हैं।

२. **भाजनांग**–नाना प्रकार के उत्तमोत्तम पात्र देने वाले हैं।

३. **भोजनांग**–नाना प्रकार के उत्तमोत्तम भोजन देने वाले हैं।

४. **पानांग मद्यांग**–नाना प्रकार के उत्तमोत्तम मधुर रस देने वाले हैं।

५. **वस्त्रांग**–नाना प्रकार के उत्तमोत्तम वस्त्र देने वाले हैं।

६. **भूषणांग**–नाना प्रकार के उत्तमोत्तम रत्नादि आभूषण देने वाले हैं।

७. **माल्यांग (कुसुमांग)**–नाना प्रकार के उत्तमोत्तम सुगंध पुष्प मालाएँ देने वाले हैं।

८. **दीपांग**–चन्द्रमा के समान शीतल प्रकाश देने वाले हैं।

९. **ज्योतिरांग**–सूर्य के समान प्रकाश देने वाले हैं।

१०. तूर्यांग—नाना प्रकार के उत्तमोत्तम भेरी आदि बाजों को देने वाले हैं।

तिलोयपण्णत्ति में इन कल्पवृक्षों के विषय में लिखा है–

ते सव्वे कप्पदुमाणवणप्फदी णो वेंतरा सव्वे।
णवरिं पुढविसरूवा पुण्णफलं देंति जीवाणं॥३५८॥

अर्थ–ये समस्त कल्पवृक्ष न वनस्पति रूप हैं और न ये सब व्यंतर रूप हैं। यथार्थ में ये पृथ्वी स्वरूप हैं तथा जीवों को उनके पुण्य कर्मों का फल देते हैं।

कल्पवृक्षों के सम्बन्ध में महापुराण का यह स्पष्टीकरण है कि ये वृक्ष ''**निसर्गात् फलदायिनः**'' अर्थात् स्वभाव से फल देते हैं। ''**नहि भाव-स्वभावानां उपालंभः सुसंगतः**'' इन वृक्षों का जो स्वभाव है उसके विषय में दूषण देना उचित नहीं है। जिनसेन स्वामी कहते हैं–

नृणां दानफलादेते फलन्ति विपुलं फलम्।
यथान्यपादपाः काले प्राणिनामुपकारकाः॥९-५१॥ महापुराण

जिस प्रकार अन्य वृक्ष अपने-अपने समय पर अनेक प्रकार के फल देकर प्राणियों का उपकार करते हैं, उसी प्रकार दान के फल से ये कल्पवृक्ष भोगभूमि को विपुल फल देते हैं।

४. भोगभूमि में शरीर की पूर्णता—तिलोयपण्णत्ति में कहा है कि उत्तम भोगभूमि में शरीर की पूर्णता होने पर २१ दिन में सम्यग्दर्शन धारण करने की योग्यता हो जाती है। मध्यम भोगभूमि में ३५ दिन में तथा जघन्य भोगभूमि में ४९ दिन में सम्यक्त्व लाभ करने की योग्यता प्राप्त होती है (गाथा ३८०-४००-४०७ अध्याय ४)। हरिवंशपुराण सर्ग ७ के पद्य ९२, ९३, ९४ से यह सूचित होता है कि सभी भोगभूमि में सप्त सप्ताहों में सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता आती है। कहा भी है–

तदास्ति पुंस युग्मानां गर्भा त्रिर्लुठितात्मनाम्।
दिनानि सप्त गच्छन्ति निजांगुष्ठाबलेहनैः ॥९२॥
रंगतामपि सप्तैव सप्तास्थिरपराक्रमैः।
स्थिरैश्च सप्ततैः सप्त कलासुच गुणेषु च ॥९३॥
कालेन तावता तेषां प्राप्तयौवनसंपदाम्।
सम्यक्त्वग्रहणेपि स्याद् योग्यता सप्तभिर्दिनैः॥९४॥

अनेक ग्रन्थों में कथन आता है कि ४९ वें दिन के पश्चात् भोगभूमियों में सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता होती है। तिलोयपण्णत्ति में कथित २१ तथा ३५ दिन का काल उत्तम भोगभूमि तथा मध्यम भोगभूमि की विशेष अपेक्षा से कहा गया जानना चाहिए।

कर्मभूमि के मनुष्यों में सम्यक्त्व की उत्पत्ति पर्याप्त अवस्था में आठ वर्ष की अवस्था के आगे होती हैं। मनुष्य की दृष्टि से भोगभूमि तथा कर्मभूमि में समानता होते हुए भी सम्यक्त्व की

उत्पत्ति सम्बन्धी योग्यता में काल कृत अन्तर इस बात को सूचित करता है कि सूक्ष्म दृष्टि से दोनों अवस्थाओं में भिन्नता भी है। सुख और आनन्द की सामग्री भोगभूमि में प्रचुर प्रमाण में पाई जाती है, किन्तु मुक्ति प्राप्ति के योग्य श्रेष्ठ रीति से रत्नत्रय धर्म की समाराधना कर्मभूमि में ही होती है, अतएव कर्मभूमि में मनुष्य पर्याय पाने का विशेष महत्त्व है।

यह बात भी कम महत्त्व की नहीं है कि तिर्यञ्चों में दिवस पृथक्त्व अर्थात् तीन से अधिक और नौ दिनों के भीतर सम्यक्त्व उत्पन्न करने की योग्यता पाई जाती है। देवों में पर्याप्ति पूर्ण होने के अन्तर्मुहूर्त के आगे सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है, इसी प्रकार अर्थात् देवों के समान नारकियों में वर्णन कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि कर्मभूमि का मनुष्य चारों गति में सबसे अधिक काल बीतने पर सम्यक्त्व पैदा करता है। एक दृष्टि से मनुष्य पर्याय अपूर्व है कि सम्यक्त्व उत्पन्न करने के साथ सकल संयम को स्वीकार करने वाला साधु अन्तर्मुहूर्त में सर्वज्ञ परमात्मा भी बन सकता है।

५. भोगभूमि मनुष्यों के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें —तिलोयपण्णत्ति के चतुर्थ अधिकार में लिखा है कि–''भोगभूमि के मनुष्यों का शरीर बहुत बलशाली होता है। नौ हजार हाथियों के सदृश बल होता है ''**ठावणाग-सहस्स-सरिस बल जुत्ता।**'' वे आर्जव भाव सहित, मंदकषायी, सुशीलता पूर्ण, वज्रवृषभनाराचसंहनन युक्त, समचतुरस्रसंस्थान सहित, बालसूर्य सदृश तेजस्वी, कवलाहार करते हुए भी नीहार रहित युगल धर्म युक्त होते हैं। उस काल में नर नारी के अतिरिक्त अन्य परिवार नहीं होता। भोगभूमि के मनुष्य तथा तिर्यञ्चों की नौ मास आयु शेष रहने पर उनके गर्भ रहता है और मृत्यु काल आने पर उनके युगल-संतान उत्पन्न होती हैं।

मृत्यु होने पर भोगभूमि के मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यञ्च भवनत्रिक में और सम्यग्दृष्टि सौधर्म ईशान स्वर्ग में जन्म लेते हैं। भोगभूमियाँ जीव जातिस्मरण से, कोई देवों के प्रतिबोधित करने से और कोई चारण मुनि आदि के उपदेश से सम्यक्त्व ग्रहण करते हैं। कहा भी है–

जादिभरणेण केई केई पडिबोहणेण देवाणं।
चारणमुणिपहुदीणं सम्मत्तं तत्थ गेण्हंति॥३८५॥

विशेष यह है कि उनमें संयम नहीं होता है। कहा भी है–

ते सव्वे वरजुगला अण्णोण्णुपण्णपेमसंमूढा।
जम्हा तम्हा तेसुं सावय-वद-संजमो णत्थि॥३९०॥

अर्थ—ये सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेम में अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं, इसलिए उनके श्रावक के व्रत और संयम नहीं होता है। वे नर-नारी युगल, गणित, शिल्प, गंधर्व, चित्र आदि चौंसठ कलाओं में स्वभाव से ही अतिशय निपुण होते हैं। उनमें कुल जाति का भेद नहीं, कहा है (**कुल-जादि भेद हीणा-३८७**)।

वहाँ व्याघ्र आदिक भूमिचर और काक आदि नभ चर तिर्यञ्च मांसाहार के बिना कल्पवृक्षों का मधुर फल भोगते हैं। अन्य तृणजीवी पशु युगल दिव्य तृणों का भक्षण करते हैं।

जिन्होंने पूर्व में मनुष्य आयु को बाँध लिया है और पश्चात् तीर्थंकर के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है ऐसे क्षायिक सम्यक्त्व पुरुष भी भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं। कितने ही मिथ्यादृष्टि मनुष्य निर्ग्रन्थ मुनियों को दानादि देकर भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं। पापों के त्यागी, गुणों के अनुरागी तथा मंदकषाय वाले भी वहाँ उत्पन्न होते हैं।

भोगभूमि में ग्राम नगरादिक सब नहीं होते। केवल वे सब कल्पवृक्ष होते हैं जो भोगभूमियाँ जीवों को मनोवांछित वस्तु देते हैं। कहा भी है–

गाम-णयरादि सव्वं ण होदि ते होंति सव्वकप्पतरू।
णिय-णियमण संकप्पिद-वत्थूणिं देंति जुगलाणं॥३४५॥

भोगभूमि के पुरुष इन्द्र से भी अधिक सुंदराकार होते हैं, **देविंदादोवि सुंदराकारा)**। स्त्रियाँ अप्सराओं के सदृश होती हैं। ये भोगभूमिजों के युगल कदलीघात मरण से रहित होते हुए आयु पर्यन्त चक्रवर्ती के भोग समूह की अपेक्षा अनंत गुणा भोगों को भोगते हैं। कहा भी है–

जुगलाणि अणंतगुणं भोगं चक्कहरभोगलाहादो।
भुंजंति जाव आउं कदलीघादेण रहिदाणि॥४-३५७॥

तिलोयपण्णत्ति में यह भी लिखा हैं, वे युगल कल्पवृक्षों से दी गई वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया से बहुत से शरीरों को बनाकर अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हैं।

६. भोगभूमि में तिर्यञ्च कौन जीव होता है ?

समाधान–तिलोयपण्णत्ति में इस प्रकार कहा है–''जो पापी जिनलिंग को ग्रहण करके (उत्तम आर्जव धर्म, उत्तम शौच धर्म, उत्तम सत्य धर्म) संयम एवं सम्यक्त्व भाव को छोड़ देते हैं और पश्चात् माया में प्रवृत्त होकर चरित्र को नष्ट करते हैं तथा जो कोई मूर्ख मनुष्य कुलिंगियों को नाना प्रकार के दान देते हैं या उनके भेष को धारण करते हैं, वे भोगभूमि में तिर्यञ्च होते हैं।'' (गाथा ३७३-३७४)

७. भोगभूमि का अंत होने पर नैसर्गिक परिवर्तन–भोगभूमि का अंत होने पर ये कल्पवृक्ष नष्ट हो गए थे। इससे प्रजा जन अत्यन्त व्याकुल हो गए थे। वातावरण में अद्भुत परिवर्तन हो रहा था। अनेक प्रकार के धान्यादि स्वयं उत्पन्न हो गए थे। इस विषय में जिनसेन स्वामी लिखते हैं–

तदा पितृव्यतिक्रान्तावपत्यानीव तप्तदम्।
कल्पवृक्षोचितं स्थानं तान्यध्यासिषत स्फुटम्॥३-१८४॥

जिस प्रकार पिता की मृत्यु होने पर उनके स्थान पर पुत्र आरूढ़ होता है, उसी प्रकार कल्पवृक्षों के अभाव होने पर वे धान्यादि उनके स्थान पर आरूढ़ हुए थे।

उस समय आकाश में मेघ इकट्ठे होकर वर्षा करने लगे। इस पर महाकवि उत्प्रेक्षा करते हैं–

ध्वनन्तो ववृषुर्मुक्तस्थूलधारं पयोधराः।
रुदन्त इव शोकार्ताः कल्पवृक्षपरिक्षये॥३-१७३॥

उस समय मेघ गर्जनापूर्वक स्थूल धारा से बरसते हुए ऐसे प्रतीत होते थे मानो कल्पवृक्षों के क्षय हो जाने से शोकयुक्त होते हुए रो रहे हैं।

८. 'आदिब्रह्मा' श्री ऋषभनाथ तीर्थंकर–भोगभूमियाँ जीवों का कथन करते समय तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि–**''जुगला कुल-जाति भेद हीणा''** (४-३८७) अर्थात् उन युगल मनुष्यों में कुल, जाति का भेद नहीं था तब कर्मभूमि में कुल जाति भेद के साथ वर्ण व्यवस्था आदि कैसे आ गई? इस विषय के समाधान निमित्त महापुराण से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। बात यह है भोगभूमि की प्रणाली लोप होने पर कल्पवृक्ष तो चले गए थे तथा कुछ समय के बाद बिना बोया धान्य का लाभ भी बन्द हो गया, तब महाराज नाभिराज की आज्ञा से दुःखी और क्षुधित भोगभूमियाँ भगवान् ऋषभदेव के चरणों में गए और उन्होंने प्रार्थना कीः–

विभो समूलमुत्सन्नपितृकल्पा महांघ्रिपाः।
फलन्त्यकृष्टपच्यानि सस्यान्यपि च नाधुना॥१६-१३७॥

हे विभो! पिता के समान हमारी रक्षा करने वाले कल्पवृक्ष समूल नष्ट हो गए और अब बिना बोया हुआ परिपाक को प्राप्त होने वाला धान्य नहीं फलता है–

त्वं देवमादिकर्तारं कल्पांघ्रिपमिवोन्नतम्।
समाश्रिता कथं भीतेः पदं स्याम वयं विभो॥१४०॥

हे भगवान्! हम कल्पवृक्ष के समान उन्नत इस युग के आदिकर्ता आपके समीप आये हैं, इसलिए हमें भय किस प्रकार हो सकता है ? उनकी दीन वाणी को सुनकर भगवान् ने यह निश्चय किया कि–

कर्मभूरद्य जातेयं व्यतीतौ कल्पभूरूहाम्।
ततोऽत्र कर्मभिः षड्भिः प्रजानां जीविकोचिता ॥१४६॥

कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर अब यहाँ कर्मभूमि प्रकट हुई, इसलिए प्रजा को असि अर्थात् शस्त्र सञ्चालन, मषि अर्थात् लेखन कार्य, कृषि, शिल्प, वाणिज्य तथा पशुपालन द्वारा आजीविका करना उचित है।

उपरोक्त निश्चय भगवान् ने गम्भीर विचार के उपरांत किया था। उन्होंने विशेष ज्ञानोपयोग द्वारा विदेह की वर्तमान स्थिति का विचार कर विदेह को आदर्श बना यहाँ की वर्णाश्रम व्यवस्था करने का निश्चय किया। जिनसेन स्वामी ने लिखा है–

पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता।
साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः॥१४३॥

पूर्व पश्चिम विदेह में जो स्थिति वर्तमान है, वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है। उससे यह प्रजा जीवित रह सकती है।

षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः।
यथाग्रामगृहादीनां संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः॥१४४॥

जैसे वहाँ असि, मषि आदि छह कर्म हैं तथा वर्णाश्रम की व्यवस्था है और जैसी ग्राम, गृह आदि की अलग-अलग रचना है।

तथात्राप्युचिता वृत्तिः उपायैरेभिरंगिनाम्।
नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति॥१४५॥

उसी प्रकार यहाँ भी होना चाहिए। इन्हीं उपायों से प्राणियों की आजीविका चल सकती है। इनकी आजीविका के लिए कोई अन्य उपाय नहीं है।

इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्णाश्रम व्यवस्था जैनधर्म की किसी धर्म से उधार ली गई वस्तु नहीं है। जिस विदेहक्षेत्र में सदा धर्म का सूर्य प्रकाशमान होता है तथा जहाँ मिथ्या सम्प्रदाय नहीं है वहाँ भी वर्ण व्यवस्था है। उसके ही आधार पर भगवान् वृषभदेव ने इस भरत क्षेत्र में व्यवस्था करने का निश्चय किया। भगवान् को अवधिज्ञान था ही, अतएव वे वर्ण व्यवस्था के लिए आवश्यक तथा सूक्ष्म बातों को दिव्यज्ञान द्वारा जान सके थे। ऐसी स्थिति में शंका के लिए स्थान नहीं रहता है। परम कारुणिक तीर्थंकर वृषभदेव ने गंभीर चिंतन के पश्चात् विदेह की वर्णाश्रम व्यवस्था के आधार पर तत्कालीन समाज के हितार्थ योजना की थी। उसमें छिद्रों की कल्पना करना योग्य नहीं है। वैदिकों की वर्ण व्यवस्था और जैन वर्ण व्यवस्था में अंतर है, यद्यपि बाह्यरूप में उनमें साम्य दिखता है। जैन व्यवस्था अहिंसा की आधार शिला पर अवस्थित है। उसके मूल में पक्षपात, विद्वेष या घृणा का सद्भाव नहीं है। वह पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है। कोई-कोई आगमज्ञ विचारक यह कहते हैं कि जैनों की वर्ण व्यवस्था को ही वैदिकों ने अपनाकर अपनी कर्तृत्ववाद की संस्कृति की मुहर उस पर लगाई है।

प्रश्न—कोई कोई कह बैठते हैं उपरोक्त मत जो जिनसेन स्वामी का रहा है, उसे उन्होंने ऋषभनाथ भगवान् के नाम से लिखा है।

समाधान—यह कथन उचित नहीं है। यह परमागम की चर्चा कोई राजनीति की बात नहीं है। इसमें सर्वज्ञ, हितोपदेशी, वीतराग भगवान् की दिव्यध्वनि से प्रकाशित तथा गणधरदेव द्वारा ग्रन्थ रूप से रचित पदार्थ का निरूपण है। अतएव तत्त्व प्रेमी मुमुक्षुओं को वर्ण व्यवस्था के विषय में परमागमोक्त

उक्त बात श्रद्धान करने योग्य है। इस व्यवस्था की उपेक्षा के कारण ही आज की भौतिक विकास युक्त दुनिया में घृणा अशांति, असंतोष तथा विद्वेष की वृद्धि हो रही है।

९. कृतयुग का (कर्मभूमि) आरम्भ–

युगादिब्रह्मणा तेन यदित्थं स कृतो युगः।
ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः॥१८९॥

युग के आदि विधाता ऋषभनाथ भगवान् ने इस प्रकार कर्मयुग का प्रारम्भ किया था, इससे पुराणवेत्ता उन भगवान् को कृतयुग के नाम से जानते हैं।

आषाढमासबहुलप्रतिपद्दिवसे कृती।
कृत्वा कृतयुगारंभं प्राजापत्यमुपेयिवान् ॥१९०-१६॥

कृतकृत्य भगवान् ऋषभदेव ने आषाढ़ मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन कृतयुग अर्थात् कर्मभूमि का प्रारम्भ करके प्रजापति पद को प्राप्त किया था।

इस प्रसंग में महापुराण का यह कथन भी स्मरण योग्य है कि–भगवान् ऋषभदेव ने प्रजा के हित का विचार कर इन्द्र को स्मरण किया। तत्काल देवों सहित इन्द्र आदिनाथ प्रभु के पास आया और उसने नीचे लिखे अनुसार विभाग कर प्रजा की जीविका के उपाय किए। शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभ मुहूर्त तथा शुभ लग्न के समय और सूर्य आदि ग्रहों के अपने-अपने उच्च स्थानों में स्थित रहने और जगद्गुरु भगवान् के अनुकूल रहने पर इन्द्र ने प्रथम ही मांगलिक कार्य किया और फिर उसी अयोध्या पुरी के बीच में जिन मंदिर की रचना की। इसके बाद पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर इस प्रकार चारों दिशाओं में भी यथाक्रम से जिनमंदिरों की रचना की। कहा भी है–

अथानुध्यानमात्रेण विभोः शक्रः सहामरैः।
प्राप्तस्तज्जीवनोपायानित्यकार्षीद्विभागतः॥१६-१४८॥
शुभे दिने सुनक्षत्रे सुमुहूर्ते शुभोदये।
स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषुच्चैः आनुकूल्ये जगद्गुरोः॥१४९॥
कृतप्रथममांगल्ये सुरेन्द्रो जिनमन्दिरम्।
न्यवेशयत् पुरस्यास्य मध्ये दिक्ष्वप्यनुक्रमात् ॥१५०॥

इस कथन से यह बात भी स्पष्ट होती है कि लोगों को जीविका का उपाय बताने के साथ उनके धर्माराधन के हेतु जिनेन्द्र मंदिर की व्यवस्था की गई थी, जिससे षट्कर्मजनित दोषों का प्रक्षालन भी हो। जीविका का उपाय बताने के सिवाय यदि धर्म का कथन न बताया होता और उसका साधन नहीं जुटाया गया होता तो इससे जीवों का सच्चा कल्याण नहीं हो पाता। तीर्थंकर ऋषभनाथ प्रभु ने ऐसा मार्ग प्रदर्शन किया, जिससे समाज की योग्य व्यवस्था के साथ आत्मा का

परिपूर्ण हित भी होता रहे।

भगवान् ने पाप रहित आजीविका के उपायों का समर्थन किया था। कहा भी है–

यावती जगति वृत्तिः अपापोपहता च या।
सा सर्वास्य मतेनासीत् सहि धाता सनातनः॥१८८॥

उस समय जगत् में पापरहित आजीविका के जो उपाय थे, वे सब भगवान् की सम्मति से प्रवृत्त हुए थे, क्योंकि ऋषभनाथ भगवान् ही सनातन ब्रह्मा हैं।

त्रिलोकसार में कहा है–

पुरग्रामपट्टनादिः लौकिकशास्त्रः लोकव्यवहारः।
धर्मोऽपि दयामूलः विनिर्मित आदिब्रह्मणा ॥८०२॥

अर्थात् आदिब्रह्मा ऋषभनाथ भगवान् ने पुर, ग्राम, पत्तनादि, लौकिक शास्त्र, लोक व्यवहार तथा दयामूलक धर्म की स्थापना की थी।

अवसर्पिणीकाल के तीसरे काल के अंत में चौदह कुलकर हुए थे। भगवान् **ऋषभदेव** तथा **चक्रवर्ती भरत** भी कुलकर नाम से विख्यात हुए। इनको कुलों को धारण करने से कुलधर और कुलों के करने में कुशल होने से कुलकर कहते थे। तिलोयपण्णत्ति में यही बात इन शब्दों द्वारा कही गई है–

कुलधारण दु सव्वे कुलधर-णामेण भुवण-विक्खादा।
कुलकरणम्मिय कुसला कुलकर णामेण सुपसिद्धा ॥४-५१६॥

१०. उत्सर्पिणी का प्रारम्भकाल–इस अवसर्पिणी का अंत होने पर उत्सर्पिणी का प्रथम काल अतिदुःखमा आता है। वह २१ हजार वर्ष का है। उसके बाद २१ हजार वर्ष का दूसरा काल दुःखमा नाम का आता है। इस दुःखमा काल के २० हजार वर्ष बीतने पर तथा एक हजार वर्ष शेष रहने पर कनक आदि सोलह कुलकर उत्सर्पिणी काल सम्बन्धी उत्पन्न होते हैं। इनमें प्रथम कुलकर की ऊँचाई चार हाथ है तथा सोलहवें की ऊँचाई सात हाथ कही गई है।

ये कुलकर कहते हैं कि–(देखो तिलोयपण्णत्ति)

मथिदूण कुणह अग्गिं पचेह अण्णाणि भुंजह जहिच्छं।
करिय विवाहं बंधव पहुदि द्वारेण सोक्खेणं ॥४-१५९५॥

मथ करके आग को उत्पन्न करो। अन्न को पकाओ और विवाह करके बांधवादिक के निमित्त से इच्छानुसार सुख का उपभोग करो।

अंतिम कुलकर के यहाँ प्रथम तीर्थंकर भगवान् महापद्म का जन्म होगा। उस समय से यहाँ विदेह सदृश वृत्ति होने लगती है। तिलोयपण्णत्ति में कहा है–

तक्काले तित्थयरा चउवीस हवंति ताण पढम जिणो।
अंतिमकुलकरसुदो विदेहवत्ती तदो होदि ॥४-१५९९॥

वर्तमानकालीन १४ कुलकर (कुलंकर) अथवा मनु सम्बन्धी कई जानने योग्य बातें

क्र. १	कुलकरों के नाम २	कुलकरों की स्त्रियों के नाम ३	शरीर का वर्ण ४	शरीर की ऊँचाई धनुष में ५
१	प्रतिश्रुति	स्वयंप्रभा	स्वर्ण	१८००
२	सन्मति	यशस्वति	स्वर्ण	१३००
३	क्षेमंकर	सुनन्दा	स्वर्ण	८००
४	क्षेमंधर	विमला	स्वर्ण	७७५
५	सीमंकर	मनोरमण (मनोहरी*)	स्वर्ण	७५०
६	सीमन्धर	यशोधारिणी (यशोधरा*)	स्वर्ण	७२५
७	विमलवाहन	सुमति	स्वर्ण	७००
८	चक्षुष्मान्	वसुन्धरा (धारिणी*)	श्यामवर्ण (स्वर्ण[१*])	६७५
९	यशस्वी	कान्तमाला	श्यामवर्ण (स्वर्ण[१*])	६५०
१०	अभिचन्द्र	श्रीमती	स्वर्ण	६२५
११	चन्द्राभ	प्रजावती (प्रभावती*)	धवल (स्वर्ण[१*])	६००
१२	मरुदेव	अनुपमामणि (सत्या)	स्वर्ण	५७५
१३	प्रसेनजित	अमृतमति (अमितमति)	धवल (श्याम/स्वर्ण[१*])	५५०
१४	नाभिराज	मरु देवी	स्वर्ण	५२५

नोट– १* त्रि० सा० की अपेक्षा नं० ८ व ९ का वर्ण श्याम तथा नं० ११ व १३ का धवल है। ह० पु० की अपेक्षा ८, ९-१३ का श्याम तथा नं० ११ का धवल है। * ति० प०/४/गा० देखें–जै० सि० को० भाग-४, पृष्ठ-२३ पर।

६ **कुलकरों के परस्पर अन्तर और जन्म प्रमाण**	७ **आयु काल प्रमाण**
इनका जन्म तृतीय काल के एक पल्य का १/८ वां भाग बाकी रहने पर होता है।	एक पल्य का १/१० वां भाग प्रमाण
प्रथम कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८० वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।	एक पल्य का १/१०० वां भाग प्रमाण
दूसरे कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८०० वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।	एक पल्य का १/१००० वां भाग प्रमाण
तीसरे कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८००० वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।	एक पल्य का १/१० हजार वां भाग प्रमाण
चौथे कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८०००० वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।	एक पल्य का १/१ लाख वां भाग प्रमाण
पाँचवे कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८ लाख वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।	एक पल्य का १/१० लाख वां भाग प्रमाण
छठे कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८० लाख वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।	एक पल्य का १/१ करोड़ वां भाग प्रमाण

सातवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८ करोड़ वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।	एक पल्य का १/१० करोड़ वां भाग प्रमाण
आठवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८० करोड़ वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।	एक पल्य का १/१०० करोड़ वां भाग प्रमाण
नवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८०० करोड़ वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।	एक पल्य का १/१००० करोड़ वां भाग प्रमाण
दसवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८००० करोड़ वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।	एक पल्य का १/१० हजार करोड़ वां भाग प्रमाण
ग्यारहवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८०००० करोड़ वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।	एक पल्य का १/१ लाख करोड़ वां भाग प्रमाण
बारहवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८ लाख करोड़ वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।	एक पल्य का १/१० लाख करोड़ वां भाग प्रमाण
तेरहवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८० लाख करोड़ वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।	एक करोड़ पूर्व काल प्रमाण

८ **कौन-कौन से कुलकर के समय में कौन कौन सी विशेष बातें हुईं?**	९ **कौन-कौन से कुलकर अपनी अपराधी प्रजा को किस-किस तरह से दण्ड देते रहे उसका स्वरूप**
ज्योतिरांग कल्पवृक्ष का तेज कम होने से आकाश में सूर्य-चन्द्रमा दिखाई पड़ने लगे।	'हा' तुमने बुरा किया है। ऐसे वचन से एक से लेकर पाँच कुलकर अपनी प्रजाजनों को दण्ड देते रहे।
अंधकार, नक्षत्र और तारागण दिखने लगे।	
क्रूरमृग, हिंसक जंतुओं से बाधा होने लगी।	
दीपोद्योतनोपाय बतलाए।	
प्रजाजनों को कल्पवृक्षों की सीमा दिखला दी।	
दिखलाई हुई सीमाविशेष का चिह्न बतला दिया	
हाथी, घोड़े आदि वाहनों का उपभोग बतला दिया।	
बच्चों के मुखावलोकन का भय दूर किया।	
बालकों की नामकरण विधि बतला दी।	'हा मा' तुमने बुरा किया ऐसा काम मत करो! वचनों से छह से लेकर दश कुलकर अपनी प्रजा को दण्ड देते रहे।
शिशुरोदन-निवारण हेतु बालकों के साथ चन्द्र दर्शनादि क्रीड़ा बताई।	
बालक और माता-पिता का परस्पर नाता उनको समझाकर कह दिया।	
नदी समुद्रादि जलाशयों के तरणोपाय रूप नाव, जहाजादि चलाने की रीति बतला दी।	'हा मा धिक्' तुमने बुरा काम किया। ऐसा काम मत करो।
जन्म समय की नाभि के नाल को काटने का उपाय बतला दिया।	तुमको धिक्कार है। इस वचन से ग्यारह से लेकर चौदहवें कुलकर और पंद्रहवें 'मनु' कहलाने वाले वृषभदेव अपनी प्रजा को दण्ड देते रहे।
जन्म समय के जरायु को निकालने का उपाय बतला दिया। इनके समय कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ।	

१० **अनागत अर्थात् भविष्यत् काल में होने वाले १६ कुलकरों के नाम**	११ **विशेष**
अनागत उत्सर्पिणी काल के दूसरे काल के अन्त समय एक हजार वर्ष बाकी रहने पर क्रम से १६ कुलकर होते हैं उनके नाम– १. कनक २. कनकप्रभ ३. कनकराज ४. कनकध्वज ५. कनकपुंगव ६. नलिन ७. नलिनप्रभ ८. नलिनराज ९. नलिनध्वज १०. नलिनपुंगव ११. पद्म १२. पद्मप्रभ १३. पद्मराज १४. पद्मध्वज १५. पद्मपुंगव १६. महापद्म इस प्रकार होंगे। क्षत्रिय आदि कुल का आचार और अग्नि से अन्नादिक पक्वान्नों का विधान बताना इत्यादि कार्य प्रजाजनों को बता देना उनका कर्त्तव्य होगा।	१. तेरहवें कुलकर के समय पुत्र और पुत्री होने लगे और इन्द्र ने उनका विवाह किया था। २. कुलकर को छोड़कर बाकी सबका नाम 'आर्य' था। इसलिए मरुदेवी के पिता का नाम नहीं बताया है। ३. चौदहवें कुलकर राजा नाभिराज और रानी मरुदेवी का विवाह इन्द्र ने किया है। इस प्रकार महापुराण पर्व १२ में लिखा है।

इस काल में भी तीर्थंकर चौबीस होते हैं। उनमें से प्रथम तीर्थंकर अन्तिम कुलकर के पुत्र होते हैं। उस समय से यहाँ विदेहक्षेत्र सदृश वृत्ति होने लगती है।

तीर्थंकर महापुरुष

जब जगत् में अंधकार का अखण्ड साम्राज्य हो जाता है, तब नेत्रों की शक्ति कुछ कार्य नहीं कर पाती है। अंधकार नेत्र युक्त मानव को भी अंध सदृश बना देता है। इस पौद्गलिक अंधकार से गहरी अंधियारी मिथ्यात्व के उदय से प्राप्त होती है। उसके कारण यह ज्ञानवान जीव अपने स्वरूप को नहीं जान पाता है। मोहनीय कर्म के आदेशानुसार यह निंदनीय कार्य करता फिरता है। जड़ शरीर में यह मिथ्यात्वांध व्यक्ति आत्मबुद्धि धारण करता है। जब इसे कोई सत्पुरुष समझाते हैं कि तुम चैतन्यपुंज ज्ञायकस्वभाव आत्मा हो। शरीर का तुमसे कोई सम्बन्ध नहीं है, तो वह अविवेकी उस वाणी को विष समान समझता है।

सूर्योदय होते ही अंधकार का क्षय होता है, उसी प्रकार तीर्थंकर रूप धर्म सूर्य के उदय होते ही जगत् में प्रवर्धमान मिथ्यात्व का अंधकार भी अंतःकरण से दूर होकर प्राणी में निजस्वरूप का अवबोध होने लगता है।

इस स्थिति में आचार्य रविषेण एक मार्मिक तथा सुयुक्ति समर्थित बात कहते हैं कि जब जगत् में धर्मग्लानि बढ़ जाती है, सत्पुरुषों को कष्ट उठाना पड़ता है तथा पाप वृद्धि वालों के पास विभूति का उदय होता है, तब तीर्थंकर रूप महान् आत्मा उत्पन्न होकर सच्चे आत्मधर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाकर जीवों को पाप से विमुख बनाते हैं। पद्मपुराण में रविषेणाचार्य ने लिखा है–

आचाराणां विघातेन कुदृष्टीनां च संपदा।
धर्मग्लानिं परिप्राप्तामुच्छ्रयन्ते जिनोत्तमाः॥५-२०६॥

जब उत्तम आचार का विघात होता है, मिथ्याधर्मियों के समीप श्री की वृद्धि होती है, जैनधर्म के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होने लगता है, तब तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और जैनधर्म का उद्धार करते हैं।

वैदिक धर्म की मान्यता है कि धर्म की ग्लानि होने पर धर्म की प्रतिष्ठा स्थापना हेतु शुद्ध अवस्था प्राप्त परमात्मा मानवादि पर्यायों में अवतार धारण करता है। जिस प्रकार बीज के दग्ध होने पर वृक्ष उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार रागद्वेष, मोह आदि विकारों के बीज आत्मसमाधि से नष्ट होने पर परम पद को प्राप्त आत्मा का रागद्वेष पूर्ण दुनियाँ में आकर विविध प्रकार की लीला दिखाना युक्ति, सद्विचार तथा गंभीर चिंतन के विरुद्ध है।

२. तीर्थ और तीर्थंकर–इस तीर्थंकर शब्द में आगत तीर्थ शब्द के स्वरूप पर विचार करना उचित है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है "**तीर्थमागमः तदाधारसंघश्च**" अर्थात् जिनेन्द्र कथित

आगम तथा आगम का आधार साधुवर्ग तीर्थ हैं। तीर्थ शब्द का अर्थ 'घाट' भी होता है। अतएव ''तीर्थं करोतीति तीर्थंकरः'' का भाव यह होगा, कि जिनकी वाणी के द्वारा संसार सिंधु से जीव तिर जाते हैं वे तीर्थ के कर्ता तीर्थंकर कहे जाते हैं। सरोवर में घाट बने रहते हैं, उस घाट से मनुष्य सरोवर के बाहर सरलता पूर्वक आ जाता है, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् के पथ प्रदर्शन का अवलंबन लेने वाला जीव संसार सिंधु में न डूबकर बाहर आकर चिन्तामुक्त हो जाता है।

मूलाचार में तीर्थ के दो भेद कहे हैं एक द्रव्य तीर्थ, दूसरा भावतीर्थ। द्रव्य तीर्थ के विषय में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है–

दाहोपसमण-तण्हा-छेदो-मलपंकपवहणं चेव।
तिहिं कारणेहिं जुत्तो तम्हा तं दव्वदो तित्थं ॥५६१॥

द्रव्य तीर्थ में ये तीन गुण पाये जाते हैं। प्रथम तो संताप शांत होता है, द्वितीय तृष्णा का विनाश होता है तथा तीसरे मल-पंक की शुद्धि होती है। इस प्रकार आचार्य ने ''**सुदधम्मो एत्थ पुण्णतित्थं**'' शास्त्र रूप धर्म को पुण्य तीर्थ कहा है। जिनवाणी रूप गंगा में अवगाहन करने से संसार का संताप शांत होता है। विषयों की लालसा दूर होती है तथा आत्मा में लगे हुए द्रव्य कर्म, भावकर्म रूप मलिनता का निवारण होता है। अतएव जिनवाणी को द्रव्य तीर्थ कहना उचित है। जिनेन्द्र भगवान् को भावतीर्थ कहा है।

दंसणणाणचरित्ते णिज्जुता जिणवरा दु सव्वेपि।
तिहिं कारणेहिं जुत्ता तम्हा ते भावदो तित्थं ॥५६२॥

सभी जिनेन्द्र भगवान् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र संयुक्त हैं। इन तीन कारणों से युक्त हैं इससे जिन भगवान् भावतीर्थ हैं जिनेन्द्र वाणी के द्वारा जीव अपनी आत्मा को परम उज्ज्वल बनाता है। उस रत्नत्रय भूषित आत्मा को भाव तीर्थ कहा है। जिनेन्द्ररूप भाव तीर्थ के समीप में षोडश कारण भावना को भाने वाला जीव तीर्थंकर बनता है। रत्नत्रय भूषित जिनेन्द्ररूप भावतीर्थ के द्वारा अपवित्र आत्मा पवित्रता को प्राप्त कर जगत् के संताप को दूर करने में समर्थ होता है। इस जिनदेव रूप भावतीर्थ के द्वारा आत्मा तीर्थंकर बनता है और श्रुतरूप तीर्थ की रचना में निमित्त होता है।

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति होती है इससे उनको धर्म तीर्थंकर कहते हैं। मूलाचार के इस अत्यन्त भावपूर्ण स्तुति पद्य में भगवान् को धर्म तीर्थंकर कहा है–

लोगुज्जोय धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते।
कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसंतु ॥५४१॥

जगत् को सम्यग् ज्ञान रूप प्रकाश देने वाले धर्म तीर्थ के कर्ता उत्तम, जिनेन्द्र, अर्हन्त केवली मुझे विशुद्ध बोधि प्रदान करें, अर्थात् उनके प्रसाद से रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति हो।

तीर्थंकर शब्द का प्रयोग भगवान् महावीर के समय में अन्य सम्प्रदायों में भी होता था, यद्यपि प्रचार तथा रूढ़िवश तीर्थंकर शब्द का प्रयोग जिनेन्द्र भगवान् के लिए किया जाता है। जैन शास्त्रों में भी तीर्थंकर शब्द का प्रयोग श्रेयांस राजा के साथ करते हुए उनको '**दान तीर्थंकर**' कहा है। अतएव तीर्थंकर शब्द के पूर्व में धर्म शब्द को लगाकर धर्म तीर्थंकर रूप में जिनेन्द्र का स्मरण करने की प्राचीन प्रणाली रही है।

समीचीन धर्म की व्याख्या करते हुए आचार्य समंतभद्र ने लिखा है कि सम्यदर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् चरित्र रूप धर्म है, जिससे जीव संसार के दु:खों से छूटकर श्रेष्ठ मोक्ष सुख को प्राप्त करता है, इस धर्म तीर्थ के कर्ता इस अवसर्पिणीकाल की अपेक्षा वृषभदेव आदि महावीर पर्यन्त चौबीस श्रेष्ठ महापुरुष हुए हैं। तीर्थंकर का पद किसी की कृपा से नहीं प्राप्त होता है। पवित्र सोलह प्रकार की भावनाओं तथा उज्ज्वल जीवन के द्वारा कोई पुण्यात्मा मानव तीर्थंकर पद प्रदान करने में समर्थ तीर्थंकर प्रकृति नाम के पुण्य कर्म का बंध करता है। यह पद इतना अपूर्व है कि दस कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण इस अवसर्पिणी काल में केवल चौबीस ही तीर्थंकरों ने अपने जन्म द्वारा इस भरत क्षेत्र को पवित्र किया है। असंख्यात प्राणी रत्नत्रय की समाराधना द्वारा अर्हन्त होते हुए सिद्ध पदवी को प्राप्त करते हैं, किन्तु भरत क्षेत्र में तीर्थंकर रूप में जन्म धारण करके मोक्ष जाने वाले महापुरुष चौबीस ही होते हैं।

सोलह कारण भावना—तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारण ये सोलह भावनाएँ आगम में कही गई हैं–१. दर्शनविशुद्धि, २. विनयसम्पन्नता, ३. शील व्रतेष्वनतिचार, ४. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५. संवेग, ६. शक्तितस्त्याग, ७. शक्तितस्तप, ८. साधुसमाधि, ९. वैयावृत्यकरण, १०. अर्हत्भक्ति, ११. आचार्य भक्ति, १२. बहुश्रुत भक्ति, १३. प्रवचन भक्ति,१४. आवश्यकापरिहाणि, १५. मार्ग प्रभावना, १६. प्रवचनवत्सलत्व। इन सोलह प्रकार की श्रेष्ठ भावनाओं के द्वारा श्रेष्ठपद तीर्थंकरत्व की प्राप्ति होती है।

महाबंध ग्रन्थ में तीर्थंकर प्रकृति को तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म कहकर उल्लेख किया गया है यथा "**एदेहिं सोलसेहिं कारणेहिं जीवो तित्थयर णामा गोदं कम्मं बंधदि**" (ताम्र पत्र प्रति पृ० ५) उस महाबंध के सूत्र में सोलहकारण भावनाओं के नामों का इस प्रकार कथन आया है–

"कदिहिं कारणेहिं जीवा तित्थयर णामा गोदं कम्मं बंधदि। तत्थ इमे-णाहिं सोलसकारणेहिं जीवा तित्थरणामा गोदं कम्मं बंधदि। दंसण विसुज्झयाए, विणयसंपण्णदाए, सीलवदेसु णिरदिचारदाए, आवासएसु, अपरिहीणदाए, खणलव-पडिमज्झ (बुज्झ) णदाए, लद्धिसंवेग संपण्णदाए, अरहंतभत्तीए, बहुसुदभत्तीए, पवयणभत्तीए, पवयणवच्छल्लदाए, पवयण-प्रभावणदाए, अभिक्खणं णाणोपयुत्तदाए।"

उपरोक्त नामों में प्रचलित भावनाओं से तुलना करने पर विदित होगा कि यहाँ आचार्य भक्ति का नाम न गिनकर उसके स्थान में "खणलव-पडिबुज्झणदा" भावना का संग्रह किया गया है। इसका

अर्थ है, क्षण में, लव में अर्थात् क्षण-क्षण में अपने रत्नत्रय धर्म के कलंक का प्रक्षालन करते रहना क्षणलवप्रतिबोधनता है।

इन सोलह कारणों के द्वारा यह मनुष्य धर्म तीर्थंकर जिन केवली होता है। कहा भी है– **''जस्स इणं कम्मस्स उदयेण सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स अच्चणिज्जा पूजणिज्जा वंदणिज्जा णमंसणिज्जा धम्मतित्थयरा जिणा केवली (केवलिणो) भवंति''** (पृ० ५)।

३. तीर्थंकर प्रकृति का बंध कौन जीव किस अवस्था में कर सकता है? उसका समाधान जिस तीर्थंकर प्रकृति के उदय से देव, असुर तथा मानवादि द्वारा वंदनीय तीर्थंकर के पद की प्राप्ति होती है, उस कर्म का बंध तीनों प्रकार के सम्यक्त्वी करते हैं। सम्यक्त्व के होने पर ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। किन्हीं आचार्यों का कथन है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल अल्प अंतमुहूर्त प्रमाण होता है। उसमें सोलह भावनाओं का भाया जाना सम्भव नहीं है। अतः उसमें तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होगा।

यह भी बात स्मरण योग्य है कि इसका बंध मनुष्य गति में ही केवली अथवा श्रुतकेवली के चरणों के समीप प्रारम्भ होता है। **''तित्थयरबंधपारंभयाणरा केवलिदुगंते।''** (कर्मकाण्ड गोम्मटसार ९३) इस प्रकृति का बंध तिर्यंचगति को छोड़ शेष तीन गतियों में होता है। इसके बन्ध का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष तथा वर्ष पृथक्त्व कम दो कोटिपूर्व और तैतीस सागर प्रमाण है। इसका उत्कृष्टपने से अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष न्यून तैतीस सागर अधिक दो कोटि पूर्व प्रमाण काल पर्यन्त बंध होता है। केवली श्रुतकेवली का सान्निध्य इसमें आवश्यक कहा है कि **''तदन्यत्र तादृग्विशुद्धि-विशेषासंभवात्''** उनके सान्निध्य के सिवाय वैसी विशुद्धता का अन्यत्र अभाव है।

नरक की प्रथम पृथ्वी में तीर्थंकर प्रकृति का बंध पर्याप्त तथा अपर्याप्त अवस्था में होता है। दूसरी तथा तीसरी पृथ्वी में पर्याप्त अवस्था में ही इसका बंध होता है। आगे के नरकों में इस प्रकृति का बंध नहीं होता है। कहा भी है–**धम्मातित्थं बंधदि वंसा मेघाण पुण्णगो चेव ॥**१०६॥ गो. कर्मकाण्ड ॥

गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा १३६ में लिखा है कि तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बंध अविरत सम्यग्दृष्टि के होता है।

तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ॥ इसकी संस्कृत टीका में लिखा है–**''तीर्थंकरं उत्कृष्टस्थितिकं नरकगतिगमनाभिमुख-मनुष्यासंयतसम्यग्दृष्टिरेव बध्नाति''** (बड़ी टीका, पृष्ठ १३४) उत्कृष्ट स्थिति सहित तीर्थंकर प्रकृति को नरकगति जाने के उन्मुख असंयत सम्यक्त्वी मनुष्य बाँधता है, कारण उसके तीव्र संक्लेश भाव रहता है। उत्कृष्ट स्थिति बंध के लिए तीव्र संक्लेश युक्त परिणाम आवश्यक है। नरकगति में गमन के उन्मुख को तीव्र संक्लेश के कारण तीर्थंकर रूप शुभ

प्रकृति का अल्प अनुभाग बंध होगा क्योंकि "**सुहपयडीण विसोही असुहाण संकिलेसेण**" (ति० लो०, १६३) शुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग बंध विशुद्ध भावों से होता है। तथा अशुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग बंध संक्लेश से होता है, तीर्थंकर प्रकृति का बंध अपूर्वकरण गुणस्थान के छठवें भाग पर्यंत होता हैं अतएव इस गुणस्थानवर्ती मुनिराज के उत्कृष्ट अनुभाग बंध होगा। स्थिति बंध का स्वरूप विपरीत होगा अर्थात् वह न्यून होगा।

४. तीर्थंकर नामकर्म के सोलह कारणों में दर्शनविशुद्धि भावना की प्रमुखता है-पं० आशाधरजी ने सागार धर्मामृत (८-७३) में लिखा है कि केवल दर्शन विशुद्धि भावना से ही श्रेणिक नरेश ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। संस्कृत टीका में उपरोक्त कथन का समर्थन करते हुए ये शब्द लिखे गए हैं-"**एकया-असहायया विनयसम्पन्नतादितीर्थंकरत्वकारणान्तररहितया, दृग्विशुध्या श्रेणिको नाम मगधमहामण्डलेश्वरस्तीर्थकृत धर्मतीर्थंकरो भविता भविष्यति।**" अर्थात् विनय सम्पन्नतादि तीर्थंकरत्व के कारणान्तरों से रहित केवल एक दर्शनविशुद्धि के द्वारा श्रेणिक नामक मगधमहामण्डलेश्वर धर्म तीर्थंकर होंगे।

प्रश्न—उत्तर पुराण में प्रकृत प्रसंग पर प्रकाश डालने वाली एक भिन्न दृष्टि पाई जाती है। वहाँ पर्व ७४ में श्रेणिक राजा ने गणधरदेव से पूछा है कि मेरी जैनधर्म में बड़ी भारी श्रद्धा प्रकट हुई है तथापि मैं व्रतों को क्यों नहीं ग्रहण कर सकता?

समाधान—उत्तर देते हुए गणधरदेव ने कहा तुमने नरकायु का बंध किया है। यह नियम है कि देवायु के बंध को छोड़कर अन्य आयु का बंध करने वाला फिर व्रतों को स्वीकार नहीं कर सकता। इसी कारण तुम व्रत धारण नहीं कर सकते। हे महाभाग! आज्ञा, मार्ग, बीज आदि दस प्रकार की श्रद्धाओं में से आज तुम्हारे कितनी ही श्रद्धाएँ विद्यमान हैं। इनके सिवाय दर्शनविशुद्धि आदि शास्त्रों में कहे हुए जो शुद्ध सोलह कारण हैं, उनमें से सब या कुछ कारणों से यह भव्य जीव तीर्थंकर नाम कर्म का बंध करता है। इनमें से दर्शनविशुद्धि आदि कितने ही कारणों से तू तीर्थंकर नामकर्म का बंध करेगा। मरकर रत्नप्रभा नरक में जायेगा और वहाँ से आकर उत्सर्पिणीकाल में '**महापद्म**' नाम का प्रथम तीर्थंकर होगा। ग्रन्थकार के शब्द इस प्रकार है—

एतास्वपिमहाभाग तव संन्यद्यकाश्चन।
दर्शनाद्यागमप्रोक्तशुद्धषोडशकारणैः ॥४५०-७४॥
भव्योव्यस्तैः समस्तैश्च नामात्मीकुरूते मम।
तेषु श्रद्धादिभिः कैश्चिद्बध्वा तन्नामकारणैः ॥४५१॥
रत्नप्रभांप्रविष्टः संस्तत्फलं मध्यमायुषा।
भुक्त्वानिर्गत्य भव्यास्मिन् महापद्माख्यतीर्थकृत् ॥४५२॥

इस विषय में विद्यानन्दिस्वामी ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार ग्रन्थ १७, पृ०४५६ का यह कथन ध्यान देने योग्य है–

दृग्विशुध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्वस्य हेतवः।
समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुध्या समन्विताः ॥

दर्शनविशुद्धि आदि तीर्थंकर नामकर्म के कारण हैं, चाहे वे सभी कारण हों या पृथक्-पृथक् हों किन्तु उनको दर्शनविशुद्धि समन्वित होना चाहिए। इसके पश्चात् तीर्थंकर प्रकृति के विषय में बड़े गौरव पूर्ण शब्द कहते हैं–**सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत ॥१८॥**

वह पुण्य तीन लोक का अधिपति बनाता है। वह पुण्य सर्वश्रेष्ठ है।

दर्शनविशुद्धि आदि भावनाएँ पृथक् रूप में तथा समुदाय रूप में तीर्थंकर पद की प्राप्ति में कारण है, ऐसा भी अनेक स्थानों में उल्लेख आता है। यथा हरिवंशपुराण में कहा है–

तीर्थंकरनामकर्माणि षोडश तत्कारणान्यमूनि।
व्यस्तानि समस्तानि भवंति सद्भाव्यमानानि॥

अकलंक स्वामी राजवार्तिक में लिखते हैं– **''तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग् भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च तीर्थंकर नामकर्मणःस्तत्र कारणानि प्रत्येतव्यानि॥''** (सूत्र २४, पृ०२६७)

इन भावनाओं में दर्शनविशुद्धि का स्वरूप विचार करने पर उसकी मुख्यता स्पष्ट रूप से प्रतिभासमान होती है। तीर्थंकर प्रकृति रूप धर्म कल्पतरू पूर्ण विकसित होकर रत्नत्रय के फलों से समलंकृत होते हुए पुण्यरूपी पुष्पों से अगणित भव्यों को अवर्णनीय आनंद तथा शांति प्रदान करता है, उस कल्पतरू की बीज रूपता का स्पष्ट रूप से दर्शन प्रथम भावना में होता है।

दर्शनविशुद्धि में आगत दर्शन शब्द सम्यग्दर्शन का वाचक है। इसी कारण यह आगम वाक्य है **''सम्मेव तित्थ बंधो''** तीर्थंकर प्रकृति का बंध सम्यक्त्व होने पर ही होता है। विशुद्धि का भाव है पुण्य प्रद उज्ज्वल भाव, जिसका संक्लेश की कालिमा से तनिक भी सम्बन्ध न हो। कारण विशुद्ध भाव से शुभ प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग पड़ता है। इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखना उचित है कि तीर्थंकर प्रकृति के बंध रूप बीज बोने का कार्य केवली श्रुतकेवली के पादमूल अर्थात् चरणों के समीप होता है। भरतक्षेत्र में इस काल में अब उक्त साधन युगल का अभाव होने से तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं हो सकता है।

प्रश्न—भावना के लिए केवली के चरणों की समीपता का क्या कारण है?

समाधान—इस कथन का उत्तर यह होगा कि उन जिनेन्द्र की दिव्य वाणी के प्रसाद से देव, मनुष्य, पशु सभी जीवों को धर्म का अपूर्व लाभ होता है। यह देखकर किसी महाभाग के हृदय में ऐसे अत्यन्त पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं कि मिथ्यात्व रूप महा अटवी में मोह की दावाग्नि जलने से अगणित

जीव मर रहे हैं, उनके अनुग्रह करने की प्रभो! आपके समान क्षमता, शक्ति तथा सामर्थ्य मेरी भी आत्मा में उत्पन्न हो, जिससे मैं सम्पूर्ण जीवों को आत्म ज्ञान का अमृत पिलाकर उनको सच्चा सुख का मार्ग बता सकूँ। इस प्रकार की विश्वकल्याण की प्रबल भावना के द्वारा सम्यक्त्वी जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है।

विनयसम्पन्नता, अर्हत भक्ति, आचार्य भक्ति, प्रवचन भक्ति, मार्ग प्रभावना, प्रवचनवत्सलत्व सदृश अनेक भावनाएँ सम्यक्त्व के होने पर सहज ही उसके अंगरूप में प्राप्त हो जाती हैं। जिस प्रकार अक्षरहीन मंत्र विषवेदना को दूर नहीं कर सकता है उसी प्रकार अंगहीन सम्यक्त्व भी जन्म संतति का क्षय नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में सम्यक्त्व यदि सांगोपांग हो तथा उसके साथ सर्व जीवों को सम्यक् ज्ञानामृत पिलाने की भावना या मंगल कामना प्रबल रूप से हो जाय तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। दर्शनविशुद्धि भावना परिपूर्ण होने पर अनेक भावनाएँ अस्पष्ट रूप से उसकी सहचरी के रूप में आ जाती हैं। यदि सहचारी रूप भावनाओं के निरूपण को गौण बनाकर कथन किया जाय तो तीर्थंकर पद में कारण दर्शनविशुद्धि को भी (मुख्य मानकर) कहा जा सकता है।

इस प्रसंग में पहले महामण्डलेश्वर राजा श्रेणिक का उदाहरण आ चुका है। श्रेणिक महाराज अव्रती थे, क्योंकि वे नरकायु का बंध कर चुके थे। वे क्षायिक सम्यक्त्वी थे। उनके दर्शनविशुद्धि भावना थी, यह कथन भी ऊपर आ चुका है। महावीर भगवान् का सान्निध्य होने से केवली का पादमूल भी उनको प्राप्त हो चुका था। उनमें शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, आवश्यकापरिहाणि, शीलव्रतों में निरतिचारता सदृश संयमी जीवन से सम्बन्धित भावनाओं को स्वीकार करने में कठिनता आती है, किन्तु अर्हतभक्ति गणधरादि महान् गुरुओं का श्रेष्ठ सत्संग रहने से आचार्य भक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, मार्ग प्रभावना, प्रवचनवत्सलत्व सदृश सद्‌गुणों का सद्‌भाव स्वीकार करने में क्या बाधा आती है? ये तो भावनाएँ सम्यक्त्व की पौषिकाएँ हैं, क्षायिक सम्यक्त्वी के पास इनका अभाव होगा ऐसा सोचना तक कठिन प्रतीत होता हैं। अतएव दर्शनविशुद्धि की विशेष प्रधानता को लक्ष्य में रखकर उसे कारणों में मुख्य माना गया है। इस विवेचन के प्रकाश में प्रतीयमान विरोध का निराकरण करना उचित है।

विशेष—सम्यग्दर्शन और दर्शनविशुद्धि भावना में भिन्नता है। सम्यग्दर्शन आत्मा का विशेष परिणाम है। वह बंध का कारण नहीं हो सकता। उसके सद्‌भाव में एक लोक कल्याण की विशिष्ट भावना उत्पन्न होती है, उसे दर्शनविशुद्धि भावना कहते हैं। यदि दोनों में अंतर न हो, तो मलिनता आदि विकारों से पूर्णतया उन्मुख सभी क्षायिक सम्यक्त्वी तीर्थंकर प्रकृति के बंधक हो जाते; किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः यह मानना तर्क संगत है कि सम्यक्त्व के साथ में और भी विशेष पुण्य भावना का सद्‌भाव आवश्यक है।

आगम में कहा है कि तीनों सम्यक्त्वों में तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है, अतः यह मानना

उचित है कि सम्यक्त्व रूप आत्मनिधि के स्वामी होते हुए भी विशुद्ध भावना का सद्भाव आवश्यक है। उसके बिना क्षायिक सम्यक्त्वी भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं कर सकता। क्षायिक सम्यक्त्व मात्र यदि तीर्थंकर प्रकृति का कारण होता तो सिद्ध पदवी की प्राप्ति के पूर्व सभी केवली तीर्थंकर होते, क्योंकि केवलज्ञानी बनने से पूर्व क्षपक श्रेणी आरोहण करते समय क्षायिक सम्यक्त्वी होना अनिवार्य नियम है। भरत क्षेत्र में एक अवसर्पिणी में चौबीस ही तीर्थंकर हुए हैं। इतनी अल्प संख्या ही तीर्थंकर प्रकृति की लोकोत्तरता को स्पष्ट करती है। क्षायिक सम्यक्त्वी होने मात्र से यदि तीर्थंकर पदवी प्राप्त होती, तो महावीर तीर्थंकर के समवसरण में विद्यमान ७०० केवली सामान्य केवली न होकर तीर्थंकर केवली हो जाते किन्तु ऐसा नहीं होता। एक तीर्थंकर के समवसरण में दूसरे तीर्थंकर का सद्भाव नहीं होता। एक स्थान पर एक ही समय जैसे दो सूर्य या दो चन्द्र प्रकाशित नहीं होते, उसी प्रकार दो तीर्थंकर एक साथ नहीं पाए जाते। हरिवंश पुराण, सर्ग ५४-५९ में कहा है-

नान्योन्यदर्शनं जातु चक्रिणां धर्मचक्रिणाम्।
हलिनां वासुदेवानां त्रैलोक्येप्रतिचक्रिणाम्॥

चक्रवती, धर्मचक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव तथा बलदेव इनका और अन्य चक्रवर्ती, धर्म चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव तथा बलदेव का क्रमशः परस्पर दर्शन नहीं होता है।

५. तीर्थंकर प्रकृति के सद्भाव की विशेषता– तीर्थंकर प्रकृति का उदय केवली अवस्था में होता है। "**तित्थं केवलिणि**" यह आगम का वाक्य है। यह नियम होते हुए तीर्थंकर भगवान् के गर्भ कल्याणक जन्मकल्याणक तथा तपकल्याणक रूप कल्याणक त्रय तीर्थंकर प्रकृति के सद्भाव मात्र से होते हैं। होनहार तीर्थंकर के गर्भ कल्याणक के छह माह पूर्व ही विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में पञ्चकल्याणक वाले ही तीर्थंकर होते हैं। वे देवगति से चयकर आते है या नरक से आकर मनुष्य पदवी प्राप्त करते है। तिर्यञ्च पर्याय से आकर तीर्थंकर रूप से जन्म नहीं होता है। तिर्यञ्चों में तीर्थंकर प्रकृति के सत्त्व का निषेध है। "**तिरियेण तित्थसतं**" यह वाक्य गोम्मटसार कर्मकाण्ड में आया है। पञ्चकल्याणक वाले तीर्थंकर मनुष्य पर्याय से भी नहीं आते। वे नरक देवगति से आते हैं। अपनी पर्याय परित्याग के छह माह शेष रहने पर नरक में देव जाकर होनहार तीर्थंकर के असुरादि कृत उपसर्गों का निवारण करते हैं। स्वर्ग से आने वाले देव के छहमाह पूर्व माला नहीं मुरझाती है। त्रिलोकसार में कहा है-

गाथा– **तित्थयर संतकम्मुवसग्गं णिरए णिवारयंतिसुरा।**
छम्मासाउगसेसे सग्गे अमलाण-मालंको॥ १९५॥

सं. छाया– **तीर्थंकर सत्कर्मोपसर्गं नरके निवारयंति सुराः।**
षणमासायुष्कशेषे स्वर्गे अम्लानमालांकाः॥

इस अवसर्पिणीकाल में सभी तीर्थंकर स्वर्ग से चयकर इस भरत क्षेत्र में आए थे। जब स्वर्ग से चय करने को छह माह शेष रहे तब उस महान् आत्मा के प्रति सुरसमुदाय को महान् आदर भाव उत्पन्न होता था। सबकी दृष्टि भगवान् की ओर केन्द्रित हुआ करती थी। **वर्धमान चरित्र** में बताया है कि जिनेन्द्र होने वाले उस स्वर्ग वासी देव को देवता लोग प्रणाम करने लगते हैं। कवि ने महावीर भगवान् के जीव प्राणतेन्द्र के विषय में जो बात लिखी वह अन्य तीर्थंकरों के विषय में भी उपयुक्त दिखती है। कवि ने लिखा है–

भक्त्या प्रणेमुरथ तं मनसा सुरेन्द्रं। षण्मासशेषसुरजीवितमेत्यदेवाः।
तस्मादनंतरभवे वितनिष्यभाणं। तीर्थं भवोदधिसमुत्तरणैक तीर्थम् ॥१७-३०॥

जिनकी देवगति सम्बन्धी आयु के छह माह शेष रहे हैं तथा जो आगामी जन्म में संसार समुद्र को तरकर जाने के लिए अद्वितीय घाट सदृश धर्मतीर्थ का प्रसार करने वाले हैं ऐसे उस प्राणतेन्द्र के समीप जाकर अनेक देवता अंतःकरण पूर्वक प्रणाम करने लगे थे।

ऐसी भक्तिपूर्वक समाराधना पूर्णतया स्वाभाविक है। होनहार तीर्थंकर देवराज को स्वर्ग में देखकर देवों को, देवियों को तथा देवेन्द्रों को ऐसा हर्ष होता है कि जैसे सूर्य के दर्शन से कमलों को आनन्द प्राप्त होता है और वे विकास को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार किसी जगह पर कोई अद्भुत निधि अल्पकाल के लिए आ जाए तो उसके दर्शन के लिए सभी नागरिक गए बिना नहीं रहते। इसी प्रकार छह माह के पश्चात् स्वर्ग को छोड़कर मनुष्य लोक को प्रयाण करने वाली उस परम पावन आत्मा की सभी देव अभिवन्दना कर अपने को कृतार्थ अनुभव करते हैं। भगवान् छह माह पश्चात् स्वर्ग लोक का परित्याग करने वाले हैं इसलिए ही उन पुण्यात्मा का अनुगमन करने वाली लक्ष्मी छह मास पूर्व ही स्वर्ग से मध्य लोक में रत्नवृष्टि के बहाने से जा रही थी। जिनसेन स्वामी की कल्पना कितनी मधुर है–

संक्रन्दननियुक्तेन धनदेन निपातिताः।
साभात् स्वसंपदौत्सुक्यात् प्रस्थितेवाग्रतो विभोः॥ १२-८॥

इन्द्र के द्वारा नियुक्त हुए कुबेर के द्वारा जो रत्नों की वर्षा हो रही थी वह इस प्रकार शोभायमान होती थी, मानों जिनेन्द्र देव की सम्पत्ति उत्सुकतावश उनके आगमन के पूर्व ही आ गई हो।

६. तीर्थंकरों के पञ्चकल्याणक—तीर्थंकर भक्ति में उनकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। वृषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों का प्रथम विशेषण है ''**पञ्चमहाकल्याण-संपण्णाणं**'' वे पञ्च महान् कल्याणकों को प्राप्त हैं। अतएव प्रभु के पञ्च कल्याणकों आदि के विषय में संक्षेप से प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है।

इस संसार को पञ्च प्रकार के संकटों अकल्याणों की आश्रय भूमि माना गया है। उनको द्रव्य,

क्षेत्र, काल, भव तथा भावरूप पञ्च परावर्तन कहते है। तीर्थंकर भगवान् के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान तथा मोक्ष का स्वरूप चिंतन करने वाले सत्पुरुष को उक्त पञ्च परावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण का कष्ट नहीं उठाना पड़ता है। उनके पुण्य जीवन के प्रसाद से पञ्च प्रकार के अकल्याण छूट जाते हैं। तथा यह जीव मोक्ष रूप पञ्चमगति को प्राप्त करता है। पञ्च अकल्याणों के प्रतिपक्ष रूप तीर्थंकर के जीवन गर्भ जन्मादि पञ्च अवस्थाओं की पञ्च कल्याण या पञ्च कल्याणक नाम से प्रसिद्धि है। इन पाँचों प्रसंगों पर समस्त इन्द्रादिक आकर महान् पूजा उत्सव करते हैं। इन उत्सवों को ''**पञ्च कल्याणक**'' कहते हैं।

७. अयोध्यानगरी की रचना—जिनेन्द्र भगवान् के जननी के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही इस वसुन्धरा (भूमि) में भावी तीर्थंकर के मंगलमय आगमन की महत्ता को सूचित करने वाले अनेक कार्य सम्पन्न होने लगते हैं।

भगवान् वृषभदेव की माता मरुदेवी के गर्भ में आने के छह माह पूर्व ही इन्द्र की आज्ञानुसार देवों ने स्वर्गपुरी के समान '**अयोध्या**' नगरी की रचना की। उसे साकेता, विनीता तथा सुकोलशलापुरी भी कहते हैं। उस नगरी की अपूर्व रमणीयता का कारण महाकवि जिनसेन स्वामी के शब्दों में यह था–

स्वर्गस्यैव प्रतिच्छंदं भूलोकेऽस्मिन् निधित्सुभिः।
विशेषरमणीयैव निर्ममे सामरैः पुरी॥ महापुराण१२-७१॥

देवों ने उस नगरी को विशेष मनोहर बनाया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि देवताओं की यह इच्छा थी कि मध्यलोक में स्वर्ग की एक प्रतिकृति रही आवे।

उस नगरी के मध्य में सुरेन्द्र भवन से स्पर्धा करने वाला महाराज नाभिराज के निवासार्थ नरेन्द्र भवन की रचना की गई थी। उसकी दीवालों में अनेक प्रकार के दीप्तिमान मणि लगे थे। सुवर्णमय स्तम्भों से वह समलंकृत था। पुष्प, मूंगा, मुक्तादि की मालाओं से शोभायमान था। हरिवंशपुराण में लिखा है कि उस राजभवन का नाम '**सर्वतोभद्र**' था। उसके ८१ मंजले थे। वह परकोटा वापिका उद्यानादि से शोभायमान था। हरिवंशपुराणकार के शब्द इस प्रकार है–

सर्वतोभद्रसंज्ञोऽसौ प्रासादः सर्वतोमतः।
सैकाशीतिपदः शालवाप्युद्यानाद्यलंकृतः॥ सर्ग ८-४॥
शातकुंभमयस्तंभो विचित्रमणिभित्तिकः।
पुष्पविद्रु ममुक्तादिमालाभिरुपशोभितः ॥३॥

आदिनाथ भगवान् जिस नगरी में जन्म लेने वाले हैं तथा जहाँ सभी देव निरन्तर आया करेंगे, उसकी श्रेष्ठ रचना में संदेह के लिए स्थान नहीं हो सकता है। इसका कारण महापुराणकार इस प्रकार प्रकट करते हैं–

सुत्रामा सूत्रधारोऽस्या:शिल्पिन: कल्पजा: सुरा:।
वास्तुजातं मही कृत्स्ना सोद्धानास्तु कथं पुरी ॥१२-७५॥

उस जिनेन्द्रपुरी के निर्माण में इन्द्र महाराज सूत्रधार थे, कल्पवासीदेव शिल्पी थे तथा निर्माण के योग्य समस्त पृथ्वी पड़ी थी, वह नगरी प्रशंसनीय क्यों न होगीं? वह नगरी द्वादश योजन प्रमाण विस्तार युक्त थी।

जिनसेन स्वामी का कथन है–उस अयोध्या नगरी में सब देवों ने हर्षित होकर शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभयोग तथा शुभलग्न में पुण्याहवाचन किया। जिन्हें अनेक सम्पदाओं की परम्परा प्राप्त हुई है, ऐसे महाराज नाभिराज तथा महारानी मरुदेवी ने हर्षित हो समृद्धि युक्त अयोध्या नगरी में निवास प्रारम्भ किया।

विश्वदृश्वैतयो: पुत्रो जनितेति शतक्रतु:।
तयो:पूजां व्यधत्तोच्चैरभिषेकपुरस्सरम् ॥१२-८३॥

इन राजदम्पति के सर्वज्ञ पुत्र उत्पन्न होने वाला हैं, इसलिए इन्द्र ने अभिषेक पूर्वक उन दोनों की बड़ी पूजा की थी।

८. रत्नवृष्टि–भगवान् के जन्म के १५ माह पूर्व से उस जन्म नगरी में प्रभात, मध्याह्न, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में चार बार साढ़े तीन-साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती थी। इस प्रकार **चौदह करोड़** रत्नों की प्रतिदिन वर्षा हुआ करती थी। महापुराण व हरिवंश पुराण में लिखा है कि यह रत्नवर्षा राजभवन में होती थी। वर्धमान चरित्र में कहा है। किं **तिर्यग्विजृंभक** नाम के देवगण कुबेर की आज्ञा से चारों दिशाओं में साढ़े तीन कोटि रत्नों की वर्षा करते थे। (सर्ग १७, श्लोक ३६)

९. जिनेन्द्र जननी की अनेक देवांगनाएँ सेवा करती रहती हैं–धर्मशर्माभ्युदय में लिखा है कि उनमें से श्री देवी सेवार्थ राज भवन में पहुँची और भगवान् के पिता से कहने लगी।

निर्जरासुर-नरोरगेषु ते कोऽधुनापिगुणसाम्यमृच्छति।
अग्रतस्तुसुतरां यतोगुरुस्त्वं जगत्त्रयगुरो र्भविष्यसि॥ ५-२९॥

देव, असुर, मानव तथा नागकुमारों में अब कौन आपके गुणों से समानता को प्राप्त करेगा, क्योंकि आप त्रिलोक के गुरु के भी गुरु होंगे।

इसके पश्चात् वे देवियाँ माता की सेवा के लिए अन्त:पुर में प्रवेश करती हैं, अशग कवि ने लिखा है कि कुण्डल पर्वत पर निवास करने वाली चूलावती, मालनिका, नवमालिका, त्रिशिरा, पुष्पचूला, कनकचित्रा, कनकादेवी तथा वारूणीदेवी नाम की **अष्टदिक् कन्याएँ** इन्द्र की आज्ञा से जिनमाता की सेवार्थ गई थी। इसी तरह जिनमाता की सेवा करने वाली **५६ देवांगनाओं के नाम**–

१. कल्पावासी देवों के देवेन्द्रों की इन्द्राणियाँ	-	१२
२. भवनवासी देवों के देवेन्द्रों की इन्द्राणियाँ	-	२०
३. व्यन्तरवासी देवों के देवेन्द्रों की इन्द्राणियाँ	-	१६
४. ज्योतिष्क देवों के देवेन्द्रों की इन्द्राणियाँ	-	२
५. कुलाचल वासिनी श्रीदेवी आदि देवियाँ	-	६
कुल	-	५६

इनमें से कुलाचल वासिनी श्री देवी, ह्री देवी, धृति देवी, कीर्ति देवी, बुद्धि देवी एवं लक्ष्मी देवी यह छह देवियाँ माता के गर्भशोधन का कार्य करती हैं। शेष देवियाँ माता की सेवा प्रगट रूप से तथा प्रच्छन्न (गुप्त) से करती रहती हैं, ऐसा पुराणों में लिखा है।

जिनमाता का आलौकिक पुण्य—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर इन चारों दिशाओं में सामान्य दृष्टि से समानता होते हुए भी पूर्व दिशा को विशेष महत्त्व इसलिए दिया जाता है कि भूमण्डल में अपना उज्ज्वल प्रकाश प्रदान करने वाला भास्कर उसी दिशा में उदय को प्राप्त होता है। प्रभातकाल में सूर्योदय के बहुत पहले से ही पूर्व दिशा में विशेष ज्योति की आभा दिखाई पड़ती है और वह दिशा सबके नेत्रों को विशेष रमणीय लगती है। इसी प्रकार जिनेन्द्र जननी के गर्भ से दया धर्म के सूर्य तीर्थंकर परमदेव का जन्म होने के पहले से ही अपूर्व सौभाग्य और सातिशय पुण्य की प्रभा दृष्टिगोचर होती है। तीर्थंकर भगवान् के जन्म लेने के पहले से ही वह भावी जिनमाता मनुष्यों की तो बात ही क्या देवेन्द्रों तथा इन्द्राणियों के द्वारा भक्ति पूर्वक सेवा तथा पूजा को प्राप्त करती है। सचमुच में जिनेन्द्र की जननी का भाग्य और पुण्य अलौकिक है। नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ में गर्भ कल्याणक के प्रकरण में भगवान् की माता की आदर पूर्वक पूजा करते हुए यह पद्य लिखा गया है–

विश्वेश्वरे विश्वजगत्सवित्रि! पूज्ये! महादेवि महासति त्वाम्।
सुमङ्गलेऽर्घ्ये बहुमङ्गलार्थैः संभावयामो भव नः प्रसन्ना॥ पृ०१७७॥

हे विश्वेश्वरा, विश्वजगत् सवित्रि, पूज्य, महादेवी, महासती, सुमंगला, माता अनेक मंगल रूप पदार्थों के अर्घ्य द्वारा हम आपकी समाराधना करते हैं। हे माता हम पर प्रसन्न हो।

१०. गर्भ कल्याणक—स्वर्ग से अवतरण के छह मास के समय में जैसे-जैसे दिन न्यून हो रहे थे वैसे-वैसे यहाँ अयोध्यापुरी की सर्वांगीण श्री, वैभव, सुख आदि की वृद्धि हो रही थी। शीघ्र ही वह समय आ गया, कि देवायु का उदय समाप्त हो गया। मनुष्य गति मनुष्यायु तथा मनुष्यगत्यानुपूर्व्य का उदय आ जाने से वह स्वर्ग की विभूति मानव लोक में आई और उसने माता मरुदेवी को सोलह स्वप्न दर्शन द्वारा उक्त बात की सूचना देने के साथ अपने मंगल जीवन की महत्ता को पहले से ही प्रकट कर दिया।

प्रत्येक जिनेन्द्र-जननी सोलह स्वप्नों को रात्रि के अंतिम प्रहर में दर्शन के पश्चात् अपने पति देव से उनका फल पूछती है, जिससे माता को अपार आनन्द प्राप्त होता है।

११. जिन माता के सोलह स्वप्न—१. गर्जना करने वाला सफेद हाथी को देखा, २. सफेद बैल को देखा, ३. सिंह को देखा, ४. दोनों बाजू से दो हाथी कलशाभिषेक कर रहे हैं ऐसी लक्ष्मी को देखा, ५. लटकती हुई दो फूलों की मालाएँ देखी, ६. चाँदनी युक्त पूर्ण चन्द्रमा को देखा, ७. उदय होते हुए सूर्य को देखा, ८. सरोवर में क्रीड़ा करने वाले दो मीन देखे, ९. कमलाच्छादित सुवर्णमय दो पूर्ण कलश देखे, १०. पद्म सरोवर देखा, ११. उन्मत्त लहरयुक्त समुद्र देखा, १२. रत्नजड़ित सिंहासन देखा, १३. रत्नमणि जड़ित देवविमान देखा, १४. नागेन्द्र भवन देखा, १५. प्रकाशमान रत्नराशि देखी, १६. धूमरहित प्रखर अग्नि ज्वाला देखी। भगवान् के पिता जिनेन्द्र जननी को स्वप्नों का फल इस प्रकार बताते हैं। मुनिसुव्रत काव्य में लिखा है कि–

नागेन तुंगचरितो वृषतो वृषात्मा सिंहेन विक्रमधनो रमयाऽधिक श्रीः।
स्रग्भ्यां धृतश्च शिरसा शशिना क्लमच्छित् सूर्येणदीप्तिमहितो झषतः सुरूपः॥
कल्याणभाक्कलशतः सरसः सरस्तोगंभीरधीरुदधिनासनतस्तदीशः।
देवाहिवास-मणिराश्यनलैः प्रतीतदेवोरगागमगुणोद्गमकर्मदाहः ॥२९-३॥

हे देवि! गजेन्द्र दर्शन से सूचित होता है कि तुम्हारा पुत्र उच्च चारित्र वाला होगा। वृषभ दर्शन से धर्मात्मा, सिंह दर्शन से पराक्रमी, लक्ष्मी से अधिक श्री सम्पन्न, माला से सबके द्वारा शिरोधार्य, चन्द्रमा से संसार के संताप को दूर करने वाला, सूर्य दर्शन से अधिक तेजस्वी, मत्स्य दर्शन से रूप सम्पन्न, कलश से कल्याण को प्राप्त, सरोवर से वात्सल्यभावयुक्त, समुद्र से गंभीर बुद्धि वाला, सिंहासन से सिंहासन का स्वामी, देव विमान से देवों का आगमन, नागभवन से नागकुमार देवों का आगमन, रत्नराशि से गुणों का स्वामी तथा अग्नि दर्शन से सूचित होता है कि वह पुत्र कर्मों का दाह करके मोक्ष को प्राप्त करेगा।

माता मरुदेवी के स्वप्न में ऐसा दिखा था कि माता के मुख से वृषभ ने प्रवेश किया उसका फल यह था कि वृषभनाथ भगवान् तुम्हारे गर्भ में प्रवेश करेंगे। अन्य तीर्थंकरों के आगमन के समय वृषभ के आकार के स्थान में गजाकार धारी शरीर का मुख द्वार से प्रवेश होता है। जिनेन्द्र जननी के समान सोलह स्वप्न अन्य सरागी देवताओं की माताओं के नहीं आते हैं। अष्टांग निमित्त विद्या में एक भेद स्वप्न विज्ञान है। निरोग स्वस्थ व्यक्ति के स्वप्नों द्वारा भविष्य का बोध होता है। क्षत्रचूड़ामणि काव्य में कहा है–"**अस्वप्नपूर्व हि जीवानां नहि जातु शुभाशुभम्**" जीवों के कभी भी स्वप्न दर्शन के बिना शुभ तथा अशुभ नहीं होता है। इस विद्या के ज्ञाताओं की आज उपलिब्ध न होने से उस विद्या को अयथार्थ मानना भूल भरी बात है। तुलनात्मक रीति से विविध धर्मों का साहित्य देखा जाय, तो भावी जिनेन्द्र शिशु की श्रेष्ठता को सूचित करने वाले उपरोक्त स्वप्न जिन

माता के सिवाय अन्य माताओं को नहीं दिखते। इस स्वप्न दर्शन के प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक दृष्टि डालने वाले को जिनेन्द्र तीर्थंकर की श्रेष्ठता स्वयं समझ में आये बिना न रहेगी। माता के गर्भ में पुण्यहीन शिशु के आने पर अमंगल स्वप्न आते हैं। उपरोक्त स्वप्न दर्शन के पश्चात् तीर्थंकर होने वाली आत्मा माता के गर्भ में आ गई।

उस समय समस्त सुरेन्द्रादि गर्भावतरण की बात विविध निमित्तों से जानकर अयोध्यापुरी में आए। सब देवेन्द्रों तथा देवों ने नगर प्रदक्षिणा की और महाराज नाभिराजा तथा माता मरुदेवी को नमस्कार किया। बड़े हर्ष से गर्भ कल्याणक महोत्सव मनाया गया।

भगवान् स्वर्ग छोड़कर अयोध्या में आए हैं, किन्तु उनकी सेवा में तत्पर देव-देवी समुदाय को देखकर ऐसा लगता है कि स्वर्ग का स्वर्ग ही उन प्रभु के पीछे-पीछे वहाँ आ गया है। देवताओं का चित्त स्वर्ग वापस जाने को नहीं होता था, कारण जो निधि जिनेन्द्र भगवान् के रूप में अब अयोध्या में आ गई है, वह अन्यत्र नहीं हैं।

१२. जिनेन्द्र भक्ति और इन्द्र-इन्द्राणी आदि का अद्‌भुत भाग्य—माता का मनोरंजन तथा सेवा का कार्य देवांगनाएँ करने लगी। इन्द्र का एक मात्र यह लक्ष्य है कि देवाधिदेव की सेवा श्रेष्ठ रूप में सम्पन्न हो। इस सेवा तथा भक्ति का पुरस्कार भी तो असाधारण प्राप्त होता है। वादिराज सूरि ने एकीभावस्तोत्र में लिखा हैं भगवन्! इन्द्र ने आपकी भली प्रकार सेवा की इसमें आपकी महिमा नहीं है। महत्त्व की बात यह है कि उसे सेवा के प्रसाद से उस इन्द्र का संसार परिभ्रमण छूट जाता है। कहा भी है—

इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते।
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्यतामातनोति ॥३३३/२०॥

त्रिलोकसार में लिखा है कि सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र उसकी इन्द्राणी वहाँ से चयकर एक मनुष्य भव धारण करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं। सौधर्मेन्द्र तो साधिक दो सागर प्रमाण देवायु पूर्ण होने के पश्चात् मनुष्य होकर मोक्ष जाता है, किन्तु उसकी पट्टदेवी शची पचपन पल्य प्रमाण आयु को भोग मनुष्य होकर शीघ्र मोक्ष जाती है। सागर प्रमाण स्थिति के समक्ष पचपन पल्य की आयु बहुत कम है। इन्द्राणी के शीघ्र मोक्ष जाने का कारण यह है कि जिन माता और जिन प्रभु की सेवा का उत्कृष्ट सौभाग्य उसे प्राप्त होता है। इस कार्य से उसे अपूर्व विशुद्धता प्राप्त होती है। लौकान्तिक देव की पदवी महान् है। उनकी स्थिति आठ सागर है। सर्वार्थसिद्धि के देव लोकोत्तर हैं। उनकी स्थिति ३३ सागर है। इतने लम्बे काल के पश्चात् उन महान् देवों को मोक्ष का लाभ मिलता है। शची का भाग्य अद्‌भुत है। स्त्रीलिंग छेदकर वह शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करती है। जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण इन्द्राणी है। त्रिलोकसार में कहा है—

सोहम्मो वरदेवी सलोगवाला य दक्खिणमरिंदा।
लोयंतिय सव्वट्ठा तदो चुआ णिव्वुदिं जंति ॥५४८॥

सौधर्मेन्द्र, शची, उनके सोम आदि लोकपाल, दक्षिणेन्द्र, लौकान्तिक, सर्वार्थसिद्धि के देव वहाँ से चय करके नियम से मोक्ष जाते हैं।

१३. जिन माता के दोहला—माता की सेवा में तत्पर श्री आदि देवियों ने क्या कार्य किया, इसे महाकवि जिनसेनाचार्य कहते हैं–

श्री ह्री धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिलक्ष्म्यौ च देवताः।
श्रियं लज्जां च धैर्यं च स्तुति-बोधं च वैभवम् ॥१२-१६४॥

श्री देवी ने माता में श्री अर्थात् शोभा की वृद्धि की। ह्री देवी ने ह्री अर्थात् लज्जा की, धृति देवी ने धैर्य की, कीर्ति देवी ने स्तुति की, बुद्धि देवी ने ज्ञान की वृद्धि की तथा लक्ष्मी देवी ने विभूति बढ़ाई।

माता के शरीर में गर्भ वृद्धि का बाह्य चिह्न न देखकर शंकित मन को इससे शान्ति मिलती थी कि जिन माता की तीव्र अभिलाषा त्रिभुवन के उद्धार रूप दोहला में हुआ करती थी। मुनिसुव्रत काव्य में लिखा है–

गर्भस्य लिंगं परमाणुकल्पमप्येतदंगेष्वनवेक्ष्यरक्षी।
जगत्रयोद्धारणदोहदेन परं नराणां बुबुधे ससत्वां ॥४-९॥

अर्थात् भगवान् के पिता ने जिनेन्द्र जननी के शरीर में परमाणु प्रमाण भी गर्भ रूप कार्य के चिह्न न देखकर केवल जगत् त्रय के उद्धार रूप दोहला से उसे गर्भवती समझा। इस कथन से जिनेन्द्र जननी की शरीर स्थिति सम्बन्धी परिस्थिति का ज्ञान होता है, वैसे-भगवान् के गर्भ कल्याणक सम्बन्धी अपूर्व सामग्री को देखकर सभी जीव प्रभु के गर्भावतरण को भली प्रकार जानते थे और उनके जन्म महोत्सव देखने की ममता से एक एक क्षण को ध्यान पूर्वक गिना करते थे। महापुराणकार ने लिखा है–

रत्नगर्भा धरा जाता हर्षगर्भाः सुरोत्तमाः।
क्षोभमायाज्जगद्गर्भो गर्भाधानोत्सवे विभोः ॥१२-९८॥

अर्थात् भगवान् के गर्भ कल्याणक के उत्सव के समय पृथ्वी तो रत्न वर्षा के कारण रत्नगर्भा हो गई है। सुरराज हर्ष गर्भ अर्थात् हर्ष पूर्ण हो गए हैं। जगत् गर्भ अर्थात् पृथ्वी मण्डल क्षोभ को प्राप्त हुआ था। अर्थात् संसार भर में प्रभु के गर्भावतरण की वार्ता विख्यात हो गई थी।

१४. देवियों के माता से किए गए प्रश्नोत्तरों की रूपरेखा—गर्भस्थ शिशु जैसे जैसे वर्धमान हो रहे थे, वैसे-वैसे माता की बुद्धि विशुद्ध होती जा रही थी। नवमा माह निकट आने पर सेवा में संलग्न देवियों ने अत्यन्त गूढ़ तथा मनोरंजक प्रश्न माता से पूछना प्रारम्भ किया तथा माता द्वारा सुन्दर समाधान प्राप्त कर वे हर्षित होती थीं। देवियों ने पूछा-(महापुराण में लिखा है।)

कः पंजरमध्यास्ते कः परुषनिस्वनः।
कः प्रतिष्ठा जीवानां कः पाद्योऽक्षरच्युतः॥ १२-२३६॥

माता! पिंजरे में कौन रहता है? कठोर शब्द करने वाला कौन है? जीवों का आश्रय कौन है? अक्षर च्युत होने पर भी पढ़ने योग्य क्या पाठ है। इन प्रश्नों का माता ने उत्तर दिया–

शुकः पंजरमध्यास्ते काकः परुषनिस्वनः।
लोकः प्रतिष्ठा जीवानां श्लोकः पाद्योऽक्षरच्युतः॥१२-२३७॥

कः पंजर मध्यास्ते। इसमें 'शु' शब्द को जोड़कर माता कहती है शुक पिंजरे में रहता है। दूसरे प्रश्न के उत्तर में माता 'का' शब्द जोड़कर कहती हैं, कठोर स्वर वाला 'काक' पक्षी होता है। तीसरे प्रश्न के उत्तर में माता 'लो' शब्द को जोड़कर कहती हैं जीवों का आश्रय 'लोक' है। चौथे प्रश्न के उत्तर में माता कहती है 'श्लो' शब्द को जोड़ने से अक्षर च्युत होने पर भी श्लोक पठनीय है। तीन देवियों ने क्रम-क्रम से ये प्रश्न पूछे कि–

कः समुत्सृज्यते धान्ये घटयत्यम्ब को घटम्?
वृषान् दशति कः पापी वदाद्यैरक्षरैः पृथक्? ॥२४४॥

माता! धान्य में क्या छोड़ दिया जाता है? घट को कौन बनाता है? वृषान् अर्थात् चूहों को कौन पापी भक्षण करता है? इनका उत्तर पृथक्-पृथक् शब्दों में बताइए जिनके आदि के अक्षर पृथक्-पृथक् हों?

माता ने उत्तर दिया 'पलाल' धान्य में छोड़ा जाता है। 'कुलाल' कुंभकार घट को बनाता है? 'बिडाल' चूहों को खाता है। इस उत्तर में प्रारम्भ के दो शब्द पृथक्-पृथक् होते हुए अंत का अक्षर 'ल' सब में है।

प्रकट रूप से अनेक देवियाँ माता की बड़े विवेकपूर्वक सेवा करती थीं। महापुराण में यह महत्त्वपूर्ण कथन आया है–

निगूढं च शचीदेवी सिषेवे किलाप्सराः।
मघोनाघ-विघाताय प्रहिता सा महासती ॥२६६॥

अपने समस्त पापों का नाश करने के लिए इन्द्र के द्वारा भेजी गई इन्द्राणी अनेक अप्सराओं के साथ माता की गुप्त रूप से सेवा करती थी।

प्रभु की माता में प्रारम्भ से ही लोकोत्तरता थी। अब जिनेन्द्र के गर्भ में आने से वह सचमुच में जगत् की माता या जगदम्बा हो गई। उसकी महिमा का कौन वर्णन कर सकता है?

१५. माता के गर्भ में जिन भगवान् कैसे थे ? समाधान–गर्भ कल्याणक के वर्णन के प्रसंग में माता के गर्भ में विराजमान तथा सूर्य सदृश शीघ्र ही उदय को प्राप्त होने वाले उन भगवान् की

अवस्था पर प्रकाश डालने वाला धर्मशर्माभ्युदय का यह पद्य कितना भावपूर्ण है–

गर्भे वसन्नपि मलैरकलंकितांगो। ज्ञानत्रयं त्रिभुवनैकगुरुर्बभार॥
तुंगोदयाद्रिगहनांतरितोपि धाम। किं नाम मुंचति कदाचन तिग्मरश्मिः ॥६-९॥

अर्थात् वे जिन भगवान् गर्भ में निवास करते हुए भी मल से अकलंक अंग युक्त थे। त्रिभुवन के अद्वितीय गुरु उन प्रभु ने मति, श्रुत तथा अवधि इन ज्ञानत्रय को धारण किया था। उन्नत उदयाचल के गहन में छिपा हुआ भी तिग्मरश्मि अर्थात् सूर्य क्या कभी अपने तेज को छोड़ता है?

१६. जन्म कल्याणक—प्राची दिशा के गर्भ में सूर्य सदृश जिन जननी के गर्भ में छिपे हुए वे धर्म सूर्य जिनेन्द्र भव्यों को अधिक हर्ष प्रदान कर रहे थे। किन्तु जिस समय उन प्रभु का जन्म हुआ, उस समय के आनन्द और शान्ति का कौन वर्णन कर सकता है? अंतःकरणों में सभी जीवों ने जिनेन्द्र जन्म जनित आनन्द का अनुभव किया। त्रिभुवन के सभी जीवों को सुख प्राप्त हुआ। जन्म के समय जननी को कोई कष्ट नहीं हुआ। देवियाँ सेवा में तैयार थीं।

उस समय नैसर्गिक वातावरण अत्यन्त रमणीय और सुन्दर हो गया। नभोमण्डल अत्यन्त स्वच्छ था। मंद सुगंध पवन का संचार हो रहा था। आकाश से सुगन्धित पुष्पों की वर्षा हो रही थी। उससे प्रतीत हो रहा था कि समस्त प्रकृति प्राकृतिक मुद्रा को धारण कर आत्मा की वैभाविक परिणति का त्याग कर अपनी प्राकृतिक स्थिति को ये जिनेन्द्र शीघ्र ही प्राप्त करेंगे, इसलिए सचेतन एवं अचेतन प्रकृति के मध्य एक अपूर्व उल्लास और आनन्द की रेखा दिखाई पड़ती थी।

१७. जन्म समय के चिह्न—महापुराण में जन्म के समय हुई मधुर बातों का इस प्रकार वर्णन किया है–

दिशः प्रसत्तिमासेदुः आसीन्निर्मलमम्बरम्।
गुणानामस्यवैमल्यं अनुकर्त्तुमिव प्रभोः ॥१६-५॥

उस समय समस्त दिशाएँ स्वच्छता को प्राप्त हुई थीं और आकाश भी निर्मल हो गया था। उससे ऐसा प्रतीत होता था मानो भगवान् के गुणों की निर्मलता का वे अनुकरण कर रहे हों।

प्रजानां ववृधेहर्षः सुराविस्मयमाश्रयन्।
अम्लानिकुसुमान्युच्चैः मुमुचुः सुरभूरूहाः ॥१३-६॥

प्रजा का हर्ष बढ़ रहा था। देव आश्चर्य को प्राप्त हो रहे थे। और कल्पवृक्ष ऊँचे से प्रफुल्लित पुष्पों को वर्षा रहे थे।

अनाहताः पृथुध्वाना दध्वनुर्दिविजानकाः।
मृदुः सुगंधिशिशिरो मरुन्मंद तदाववौ ॥१३-७॥

देवों के दुन्दुभि अपने आप ऊँचा शब्द करते हुए बज रहे थे। कोमल शीतल और सुगंधित

पवन मंद-मंद बह रहा था।

प्रचचालमहीतोषात् नृत्यन्तीव चलद्गिरिः।
उद्वेलो जलधिनूनमगमत् प्रमदं परम् ॥१३-८॥

उस समय पहाड़ों को कंपित करती हुई पृथ्वी भी हिलने लगी थी। मानो आनन्द से नृत्य ही कर रही हो। समुद्र की लहरें सीमा के बाहर जाती थीं, जिससे सूचित होता था कि वह परम आनन्द को प्राप्त हुआ हो।

मुनिसुव्रत काव्य में लिखा है–

गृहेषु शंखाभवनामराणां वनामराणां पटलाः पदेषु।
ज्योतिस्सुराणां सदनेषुसिंहाः कल्पेषु घंटाः स्वयमेवनेदुः ॥४-३६॥

प्रभु के जन्म होते ही भवनवासियों के यहाँ शंखध्वनि होने लगी। व्यंतरों के यहाँ भेरी नाद होने लगा। ज्योतिषी देवों के यहाँ सिंहनाद तथा कल्पवासियों के यहाँ स्वयमेव घंटा बजने लगे।

उस समय सौधर्मेन्द्र का आसन कंपित हुआ तथा उनका मस्तक झुक गया था सौधर्मेन्द्र चकित हो सोचने लगे कि यह किस निर्भय, शंकारहित, अत्यन्त बाल-स्वभाव, मुग्ध प्रकृति, स्वच्छंद भाव वाले तथा शीघ्र कार्य करने वाले व्यक्ति का कार्य है।

हरिवंशपुराण में कहा है–

आसनस्य प्रकंपेन दध्यौ विस्मितधीस्तदा।
सौधर्मेन्द्रश्चलन्मौलिर्भूत्वा मूर्धानमुन्नतम् ॥८-१२२॥
अतिबालेन मुग्धेन स्वतंत्रेणाशुकारिणा।
निर्भयेन विशंकेन केनेदमप्यनुष्ठितम् ॥८-१२३॥

इन्द्र महाराज पुनः चिन्ता निमग्न होकर विचार करते हैं–

देवदानवचक्रस्यस्वपराक्रमशालिनः ।
कथंचित्प्रतिकूलस्य यः समर्थः कदर्थने ॥८-१२४॥
इन्द्रःपुरंदरः शक्रः कथं न गणितोऽधुना।
सोऽहं कंपयतानेन सिंहासनमकंपितम् ॥८-१२५॥

अपने पराक्रम से शोभायमान भी देव-दानव समुदाय के किंचित् प्रतिकूल होने पर जो उनके दमन करने की सामर्थ्य धारण करता है, ऐसे शक्र, पुरन्दर, इन्द्र नामधारी मेरे अकंपित सिंहासन को कंपित करते हुए, उसने मेरी कुछ भी गणना नहीं की।

फिर सौधर्मेन्द्र के चित्त में एक बात उत्पन्न हुई कि तीनों लोकों में ऐसा प्रभाव तीर्थंकर भगवान् के सिवाय अन्य में संभावनीय नहीं है–''**संभावयामि नेहेत्थप्रभावं भुवनत्रये प्रभुं तीर्थंकरादन्यम्।**''

पश्चात् अवधिज्ञान द्वारा ज्ञात हो गया कि भरतक्षेत्र में महाराज नाभिराज के यहाँ ऋषभनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ है। तत्काल ही वह विस्मय भाव महान् आनन्द रस में परिणत हो गया। **''जयतां जिन इत्युक्त्वा-प्रणनाम कृतांजलि:''** (१२८ सर्ग ८) जिनेन्द्र भगवान् जयवंत हो ऐसा कहकर सात पग आगे जाकर हाथ जोड़कर जिनेन्द्र भगवान् को परोक्ष रूप से प्रणाम किया।

१८. इन्द्र के आसन कम्पायमान के प्रसंग में एक शंका और उसका समाधान—भगवान् का जन्म तो अयोध्या में हुआ और उनके जन्म की सूचना देने वाली वाद्यध्वनि स्वर्ग लोक में होने लगी। इन्द्रों के मुकुट झुक गए। इस विषय में क्या कोई वैज्ञानिक समाधान भी है या नहीं? **'समाधान'**—जिनागम में जगद्व्यापी एक पुद्गल का महास्कंध माना है, वह सूक्ष्म है। आज के भौतिक शास्त्रज्ञों ने **'ईथर'** नाम का एक तत्त्व माना है, जिसके माध्यम से हजारों मील का शब्द रेडियो यंत्र द्वारा सुनाई पड़ता है। इस विषय में आगम का यह आधार ध्यान देने योग्य है। तत्त्वार्थसूत्र में पुद्गल के शब्द, बंध आदि भेदों का उल्लेख करते हुए उसका भेद सूक्ष्मता के साथ स्थूल भी बताया है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में लिखा है **''द्विविधं स्थौल्यमव गंतव्यं। तत्रांत्यं जगद्व्यापिनिं महास्कंधे॥''** (अध्याय ५, सूत्र २४) दो प्रकार की स्थूलता कही गई है। पुद्गल की अंतिम स्थूलता जगत् भर में व्याप्त महास्कंध में है। इस महास्कंध के माध्यम से जिनेन्द्र जन्म की सूचना तत्काल सम्पूर्ण जगत् को अनायास प्राप्त हो जाती है। इस महास्कंध तत्त्व का स्वरूप किसी भी एकान्तवादी सिद्धान्त में नहीं बताया गया है, कारण वे एकांतवाद अल्पज्ञों के कथन पर आश्रित हैं और जैनधर्म सर्वज्ञ के परिपूर्ण ज्ञान तथा तद्नुसार निर्दोष वाणी पर अवस्थित है।

१९. इन्द्र की सात प्रकार की सेना—सिद्धान्तसार दीपक में लिखा है कि–इन्द्र महाराज की सवारी के आगे-आगे सात प्रकार की सेना मधुर गीत गाती हुई चलती थी। आभियोग्य जाति के देवों ने गज, तुरंग आदि का रूप धारण किया था। देवगति नामकर्म का उदय होते हुए भी अल्पपुण्य होने के कारण उन अभियोग्य जाति के देवों को विविध प्रकार के वाहन आदि का रूप धारण करना पड़ता है। ऐसी ही दशा किल्विषिक देवों की हीन पुण्य होने के कारण होती है। वे अशुद्ध पिंडधारी न होते हुए भी शूद्रों के समान उच्च देवों से पृथक् गमनादि कार्य करते हैं। जिनेन्द्र जन्मोत्सव के समय उनका कहाँ स्थान रहता है, यह पृथक् रूप से उल्लेख नहीं किया गया है।

तीन लोक के स्वामी तीर्थंकर का जन्म जानकर देवों की हाथी, घोड़ा, रथ गंधर्व, पदाति, बैल तथा नृत्यकारिणी रूप धारी सात प्रकार की सेना इन्द्रमहाराज की आज्ञा से निकली। उस समय शोक, विषाद आदि विकारों का सर्वत्र अभाव हो गया था। सर्व जगत् आनन्द के सिंधु में निमग्न था। शांति का सागर दिग्-दिगंत में लहरा रहा था। इन्द्र की सात प्रकार की देव सेना तीर्थंकर आदि का गुणानुवाद तथा नृत्य गायन करती हुई चलती है। इस सम्बन्ध में यह कथन ज्ञातव्य है–

सात प्रकार की देवसेना का स्वरूप	वे देव किसका गुणगान किस स्वर में गाते हुए चलते थे?
पहली– गजरूपधारी देवों की सेना	षडज स्वर में विद्याधर कामदेव आदि का गुणगान करती थी।
दूसरी– तुरंग रूपधारी देवों की सेना	ऋषभ स्वर में मांडलिक, महामांडलिक राजाओं का गुणगान करती थी।
तीसरी– रथ रूपधारी देवों की सेना	गांधार स्वर में बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण के बलवीर्य का गुणगान करती थी तथा नृत्य करती जाती थी।
चौथी– पैदल रूपधारी देवों की सेना	मध्यम स्वर में चक्रवर्ती की विभूति बल वीर्यादि का गुणगान करती थी।
पाँचवी– वृषभ रूपधारी देवों की सेना	पञ्चम स्वर में लोकपाल जाति के देवों का गुणानुवाद करती थी। चरम शरीरी मुनियों का भी गुणगान करती थी।
छठवीं– गंधर्व रूपधारी देवों की सेना	धैवत स्वर में गणधरदेव तथा ऋद्धिधारी मुनियों का गौरवपूर्ण गुणगान करती थी।
सातवीं– नृत्यकारिणी देवों की सेना	निषाद स्वर में तीर्थंकर भगवान् के छियालीस गुणों का और उनके पुण्य जीवन का मधुर गुणगान करती थी।

२०. ऐरावत हाथी—सौधर्मेन्द्र ने एक लाख योजन के ऐरावत हाथी पर शची के साथ बैठकर अनेक देवों से समलंकृत हो अयोध्या को प्रस्थान किया। ऐरावत गज का वर्णन अद्‌भूत रस को जागृत करता है। दैविक चमत्कार का वह अत्यन्त मनोज्ञ रूप था। विक्रिया शक्ति सम्पन्न देवों में कल्पनातीत शक्ति रहती है। इनका शरीर औदारिक शरीर की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म होता है। उस सूक्ष्म परिणमन प्राप्त वैक्रियिक शरीर का स्थूल रूप दर्शन ऐरावत हाथी के रूप में होता था। वह गज लौकिक गजेन्द्रों से भिन्न था। देव सामर्थ्य का सुमधुर प्रदर्शन था। उस गज के ३२ मुख थे। प्रत्येक मुख में ८-८ दाँत थे। प्रत्येक दांत पर एक एक सरोवर था। प्रत्येक सरोवर में एक एक कमलिनी थी। एक-एक कमलिनी में बत्तीस-बत्तीस कमल पत्र थे। कमल के प्रत्येक पत्ते पर बत्तीस-बत्तीस देवांगनाएँ मधुर नृत्य कर रही थी। इस प्रकार २५६ दाँत, ८१९२ कमल, २६२१४४ कमल पत्र तथा ८३८८६०८ देवांगनाएँ थीं। यही बात मुनिसुव्रतकाव्य में इस प्रकार लिखी है–

द्वात्रिंशदास्यानि मुखेऽष्टदंता दंतेऽब्धिरब्धौ बिसिनी बिसिन्यां।
द्वात्रिंशदब्जानि दलानि चाब्जे द्वात्रिंशदिंद्रद्विरदस्य रेजुः ॥५-२२॥

ऐरावत का स्वरूप चिंतन करते ही बुद्धिजीवी मनुष्य में अद्‌भुत रस उत्पन्न हुए बिना न रहेगा। यदि वह सोचे कि स्थूल रूपधारी छोटे दर्पण में बड़े-बड़े पदार्थ प्रतिबिम्ब रूप से अपना सूक्ष्म पणिमन करके प्रतिबिम्बित होते हैं। छोटे से केमरा द्वारा बड़ी वस्तुओं का चित्र खेंचा जाता है, तब इससे भी सूक्ष्म वैक्रियिक शक्तिधारी देव रचित ऐरावत हाथी का सद्भाव पूर्णतया समीक्षक बुद्धि के अनुरूप है। सम्यग्दृष्टि जीव की श्रद्धा पदार्थों की अचिंत्य शक्ति को ध्यान में रखकर ऐसी बातों को शिरोधार्य करने में संकोच का अनुभव नहीं करती है। सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी भगवान् के द्वारा कथित तत्त्व होने से ऐसी बातें सम्यक्त्वी सहज ही स्वीकार करता है। इन बातों को काल्पनिक समझने वाला आगम की विविध शाखाओं का मार्मिक ज्ञाता होने पर भी सम्यक्त्व शून्य ही स्वीकार करना होगा, कारण सम्यक्त्वी जीव प्रवचन में कथित समस्त तत्त्वों को प्रामाणिक मानता है। एक भी बात को न मानने वाला आगम में मिथ्यात्वोदय के अधीन माना गया है।

२१. सौधर्मेन्द्र का अयोध्या नगरी में आगमन—सोलह स्वर्ग तक के समस्त देव, देवांगना तथा भवनत्रिक के देवताओं का समुदाय महान् पुण्यात्मा सौधर्मेन्द्र के नेतृत्त्व में आकाशमार्ग से श्रेष्ठ वैभव, आनन्द, प्रसन्नता तथा अमर्यादित उल्लास के साथ अयोध्या की ओर बढ़ रहा था। जिनसेन स्वामी ने लिखा है–

तेषामापततां यानविमानैराततं नभः।
त्रिषष्टिपटलेभ्योऽन्यत् स्वर्गान्तरमिवासृजत् ॥१३-२२॥

उन आते हुए देवों के विमान और वाहनों से व्याप्त हुआ आकाश ऐसा प्रतीत होता था मानों त्रेसठ पटल वाले स्वर्ग को छोड़ अन्य स्वर्ग का निर्माण हुआ हो। महाराज नाभिराज के राजभवन का

प्रांगण सुरेन्द्रों के समुदाय से भर गया था। देवों की सेनाएँ अयोध्या पुरी को घेर कर अवस्थित हो गई थीं। इन्द्र ने शची को आदेश दिया कि तुम प्रसव मन्दिर में प्रवेश करो। माता को सुखमयी निद्रा में निमग्न करके उनकी गोद में मायामयी शिशु को रखकर जिनेन्द्रदेव को मेरु पर्वत पर अभिषेक के लिए लाओ।

शची ने सुरराज की आज्ञा का पालन करते हुए उस नरेन्द्र भवन के अन्त:पुर में प्रवेश किया और माता मरुदेवी के आंचल के भीतर बैठे हुए बाल स्वरूप जिनेन्द्र का दर्शन किया। उस समय इन्द्राणी के हृदय में ऐसा आनन्द आया कि उसका वर्णन साक्षात् भारती (सरस्वती) के द्वारा भी शायद ही सम्भव हो। त्रिलोकीनाथ की मुखचन्द्रिका दर्शन कर शची के नयन चकोर पुलकित हो रहे थे। हृदय कल्पनातीत आनन्द सिंधु में निमग्न हो रहा था। शची ने बाल जिनेन्द्र सहित माता को बड़े प्रेम, ममता, श्रद्धा तथा भक्ति पूर्वक देखा। अनेक बार भगवान् और जिन माता की प्रदक्षिणा के पश्चात् त्रिभुवन के नाथ भगवान् को बड़ी भक्ति से प्रणाम किया तथा जिन माता की स्तुति करते हुए कहा –

त्वमम्ब भुवनाम्बासि कल्याणीत्वं सुमङ्गला।
महादेवी त्वमेवाद्यत्वं सपुण्या यशस्विनी ॥१३-३०॥

हे माता! तुम तो तीनों लोकों का कल्याण करने वाली विश्व जननी हो। कल्याणकारिणी हो। सुमंगला हो। महादेवी हो। यशस्विनी और पुण्यवती हो।

इस प्रकार जिनेन्द्र जननी के प्रति अपना उज्ज्वल प्रेम प्रदर्शित करते हुए माता को निद्रा निमग्न कर तथा उनकी गोद में मायामयी शिशु को रखकर शची ने जगत्गुरु को अपने हाथ में उठाया और परम आनन्द को प्राप्त किया। जिनसेन स्वामी आदिपुराण में कहते हैं–

तद्गात्र-स्पर्शमासाद्य सुदुर्लभमसौतदा।
मन्येत्रिभुवनैश्वर्यं स्वसात्कृतमिवाखिलम् ॥१३-३३॥

उस समय अत्यन्त दुर्लभ बाल जिनेन्द्र के शरीर का स्पर्श कर शची को ऐसा प्रतीत हुआ मानो तीन लोक का ऐश्वर्य ही उसने अपने अधीन कर लिया हो। इन्द्राणी ने प्रभु को बड़े आदरपूर्वक लेकर इन्द्र को देने के लिए प्रसव मन्दिर के बाहर पैर रखे, उस समय भगवान् के आगे अष्ट मंगल द्रव्य अर्थात् छत्र, चँवर, ध्वजा, कलश, सुप्रतिष्ठ (ठोना), झारी, दर्पण तथा पंखा धारण करने वाली दिक्कुमारी देवियाँ भगवान् की उत्तम ऋद्धियों के समान गमन करती हुई प्रतीत होती थीं। इसके अनन्तर इन्द्राणी ने देवाधिदेव को सुरराज के करतल में सौंपा। कहा भी है–

ततः करतले देवी देवराजस्य तं न्यधात्।
बालार्कमौदये सानौ प्राचीवप्रस्फुरन्मणौ ॥१३-३९॥

जिस प्रकार पूर्व दिशा प्रकाशमान मणियों से शोभायमान उदयाचल के शिखर पर बालसूर्य को

विराजमान करती है, उसी प्रकार इन्द्राणी ने बाल जिनेन्द्र को इन्द्र के करतल में विराजमान कर दिया।

२२. इन्द्र के सहस्र नेत्र—प्रभु की अनुपम सौन्दर्यपूर्ण मनोज्ञ छवि का दर्शन कर सुरराज ने सहस्र नेत्र बनाकर अपने आश्चर्यचकित अंतःकरण को तृप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु फिर भी वह आश्चर्य एवं आनन्द के सिंधु में आकंठ निमग्न रहा आया। जिस समय सुरराज ने जिनराज को गोद में लिया, उस समय जय जयकार के उच्च स्वर से दसों दिशाएँ पूर्ण हो रही थीं। इन्द्र ने प्रभु की स्तुति करते हुए कहा है–

त्वंदेव जगतां ज्योतिस्त्वं देव जगतांगुरुः।
त्वंदेव जगतां धाता त्वंदेव जगतां पतिः॥ १३-४१॥

हे भगवान्! आप विश्वज्योति स्वरूप हो। जगत् के गुरु हो। त्रिभुवन को मोक्षमार्ग प्रदर्शन करने वाले विधाता हो। हे देव! आप समस्त जगत् के नाथ हो।

२३. पाण्डुक शिला की ओर प्रस्थान—भगवान् को अपनी गोद में लेकर सुरराज ऐरावत पर विराजमान हुए। उस समय ऐसा दिखता था मानो निषध पर्वत के अंक में बाल सूर्य शोभायमान हो रहा हो। उस परम पावन दृश्य की क्षण भर अपने मन में कल्पना करने से भी हृदय में एक मधुर रस की धारा प्रवाहित हुए बिना न रहेगी। सौधर्मेन्द्र की गोद में त्रिलोकी नाथ है। ईशान स्वर्ग का सुरेन्द्र धवल वर्ण का छत्र लगाए है। सनत्कुमार तथा महेन्द्र नामक इन्द्र युगल देवाधिदेव के ऊपर चँवर ढुरा रहे हैं। उस लोकोत्तर दृश्य की कल्पना भी जब हृदय में पीयूष धारा प्रवाहित करती है, तब उस समय के दृश्य के साक्षात् दर्शन से जीवों की क्या मनःस्थिति हुई होगी। जिनसेनाचार्य कहते हैं–

दृष्ट्वा तदातनीं भूतिं कुदृष्टिमरुतोऽपरे।
सन्मार्गरुचिमातेनु रिन्द्रप्रामाण्यमास्थिताः॥ १३-६३॥

उस समय की विभूति का दर्शन करके अनेक मिथ्यादृष्टि देवों ने इन्द्र को प्रमाण रूप मानकर सम्यक्त्व भाव को प्राप्त किया था।

२४. ज्योतिषी मण्डल का उल्लंघन—महापुराण में लिखा है– ''मेरुपर्वतपर्यंत नीलमणियों से निर्मित सोपान पंक्ति ऐसी शोभायमान हो रही थी, मानो नीलवर्ण दिखने वाले नभोमण्डल ने भक्तिवश सीढ़ियों रूप परिणमन कर लिया हो।''

समस्त देव समाज ज्योतिष पटल का उल्लंघन कर जब ऊपर बढ़ा। तब वे देव ताराओं से समलंकृत गगन मण्डल को ऐसा सोचते थे मानों यह कुमुदिनियों से शोभायमान सरोवर ही हो। ज्योतिष पटल में ७९० योजन पर ताराओं का सद्भाव है।

ताराओं के आगे ९ योजन ऊँचाई पर केतु (अरिष्ट) का विमान विद्यमान है।

केतु के आगे १ योजन ऊँचाई पर सूर्य का विमान है।

सूर्य के आगे ७९ योजन ऊँचाई पर राहु का विमान है।

राहु के आगे १ योजन ऊँचाई पर चन्द्र का विमान है।

चन्द्र के आगे ३ योजन ऊँचाई पर नक्षत्रों का विमान है।

नक्षत्रों के आगे ३ योजन ऊँचाई पर बुध का विमान है।

बुध के आगे ३ योजन ऊँचाई पर शुक्र का विमान है।

शुक्र के आगे ३ योजन ऊँचाई पर गुरु का विमान है।

गुरु के आगे ४ योजन ऊँचाई पर मंगल का विमान है।

मंगल के आगे ४ योजन ऊँचाई पर शनैश्चर का विमान है।

इस प्रकार समतल भूमि (चित्रा भूमि) से ७९० योजन ऊँचाई पर ११० योजन में ज्योतिषी देवों का आवास है। वे ज्योतिषी देव मेरु पर्वत से ११२१ योजन दूर रह कर मेरु की परिक्रमा करते हैं।

जब जिननाथ को लेकर देव और देवेन्द्र समुदाय ज्योर्तिलोक के समीप से जा रहा था, उस समय के दृश्य को ध्यान में रखकर कवि अर्हद्दास एक मधुर उत्प्रेक्षा करते हैं–

मुग्धाप्सराः कापिचकार सर्वानुत्फुल्लवक्त्रान् किलधूपचूर्णम्।
रथाग्रवासिन्यरुणेक्षिपंति हसंतिचांगारचयस्य बुद्ध्या ॥५-३१॥

किसी भोली अप्सरा ने सूर्य सारथि को अंगार की राशि समझ कर उस पर धूप चूर्ण डाल कर सबको हास्य युक्त कर दिया था।

सुमेरु की ओर जिनेन्द्र देव को लेकर जाता हुआ समस्त सुर समाज ऐसी आशंका उत्पन्न करता था; मानो जिनेन्द्र के समवसरण के समान अब स्वर्ग भी भगवान् के साथ-साथ विहार कर रहा है।

२५. सुमेरु पर्वत और पाण्डुक शिला—जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु का नाम सुदर्शन मेरु है। उस मेरु की नींव एक हजार योजन प्रमाण है। इस मेरु के नीचे भद्रशालवन है। ५०० योजन ऊँचाई पर **नन्दन वन** है। पश्चात् ६२५०० योजन की ऊँचाई पर **सौमनस वन** है। वहाँ से ३६ हजार योजन ऊँचाई पर **पाण्डुक वन** है। इन चारों वनों में चारों दिशाओं में एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है। एक मेरु सम्बन्धी चारों वनों के सोलह चैत्यालय है। **विजय, अचल, मंदर** तथा **विद्युन्माली** नाम के चार **मेरुओं** के सोलह-सोलह जिनालय मिलकर पाँच मेरु सम्बन्धी ८० जिनालय आगम में कहे गए हैं। इन अकृत्रिम जिनालयों में अत्यन्त वैभव पूर्ण जीवित जिनधर्म समान मनोज्ञ १०८ जिनबिम्ब शोभायमान होते हैं। राजवार्तिक में लिखा है–"**अर्हत्प्रतिमा अनाद्यनिधना अष्टशतसंख्या वर्णनातीतविभवाः मूर्ता इवजिनधर्मा विराजंते।**" (पृ० १२६)

यह मेरु पर्वत नीचे से ६१ हजार योजन पर्यंत नाना रत्नयुक्त है। उसके ऊपर यह सुवर्ण वर्ण

संयुक्त है। त्रिलोकसार में कहा है–

नानारत्नविचित्रः एकषष्ठिसहस्रकेषु प्रथमतः।
ततउपरि मेरुः सुवर्णवर्णान्वितः भवति ॥६१८॥

मेरु सम्बन्धी जिनालयों की देव, विद्याधर तथा चारणऋद्धि धारी मुनीश्वर वंदना करके आत्म निर्मलता प्राप्त करते हैं। इस सुवर्ण मेरु की ४० योजन ऊँची **चूलिका** कही गई है। उस चूलिका से बालाग्रभाग प्रमाण दूरी पर प्रथम **स्वर्ग का ऋजुविमान** आ जाता है। इस एक लाख योजन ऊँचे मेरु के नीचे से **अधोलोक** आरम्भ होता है। मेरु प्रमाण **मध्यलोक** माना गया है। यही बात राजवार्तिक में इस प्रकार वर्णित है–

''मेरुरयं त्रयाणां लोकानां मानदंडः। तस्याधस्तादधोलोकः। चूलिकामूलादूर्ध्व-मूर्ध्वलोकः। मध्यम प्रमाणस्तिर्यग्विस्तीर्णस्तिर्यग्लोकः। एवं च कृत्वाऽवर्थनिर्वचनं क्रियते। लोकत्रयं मिनातीति मेरुरिति'' (पृ० २७१)

मेरु के ऊपर जो **'पाण्डुक वन'** है उस वन में ईशान दिशा में सुवर्ण वर्णवाली **पाण्डुक शिला** है। यह शिला १०० योजन लम्बी ५० योजन चौड़ी और ८ योजन ऊँची होते हुए अर्द्ध चन्द्रमा के समान आकार वाली है। उस पर भरत क्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकरों का अभिषेक होता है।

आग्नेय दिशा में रजत (चाँदी) वर्णवाली **पाण्डुकम्बला शिला** ऊपर निर्दिष्ट पाण्डुक शिला के समान है। उस पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकरों का अभिषेक होता है।

नैऋत्य दिशा में तप्त सुवर्ण वर्णवाली **रक्तशिला ऊपर निर्दिष्ट शिला के समान है। उस पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों का अभिषेक होता है।**

वायव्य दिशा में रक्तवर्ण (लाल) वाली रक्तकम्बला ऊपर निर्दिष्ट शिला के समान है। उस पर पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का अभिषेक होता है। यह कथन त्रिलोकसार ग्रन्थ में किया है–

पाण्डुक-पांडुकंबल-रक्तातथा रक्तकंबलाख्याः शिलाः।
ईशानात् कांचन-रूप्य-तपनीय-रुधिरनिभाः ॥६३३॥
भरतापरविदेहैरावतपूर्वविदेहजिननिबद्धाः ।
पूर्वापरदक्षिणोत्तरदीर्घा अस्थिरस्थिरभूमिमुखाः ॥६३४॥
मध्ये सिंहासनं जिनस्य दक्षिणगतंतु सौधर्मे।
उत्तरमीशानेन्द्रे भद्रासनमिहत्रयं वृत्तम् ॥६३६॥

तत्त्वार्थराजवार्तिक में यह कथन आया है कि–**''तस्या प्राच्यां दिशि पाण्डुकशिला''** अर्थात् पूर्व दिशा में **पांडुकशिला** है।

''अपाच्यां पाण्डुकंबलाशिला'' अर्थात् दक्षिण दिशा में **पाण्डुकंबला शिला** है ।

''**प्रतीच्यां रक्तकंबलशिला**'' अर्थात् पश्चिम दिशा में **रक्त कंबल शिला** है।

''**उदीच्या अतिरक्तकंबलशिला**'' अर्थात् उत्तर में **अतिरक्त कंबल शिला** है।

अकलंक स्वामी ने यह भी लिखा है कि पूर्व दिशा के सिंहासन पर पूर्व विदेह वाले तीर्थंकरों का, दक्षिण दिशा में भरत वाले तीर्थंकरों का, पश्चिम दिशा में पश्चिम विदेहोत्पन्न तीर्थंकरों का तथा उत्तर के सिंहासन पर ऐरावत क्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकरों का चारों निकाय के देवेन्द्र सपरिवार तथा महाविभूति पूर्वक क्षीरोदधि जल से भरे १००८ कलशों से अभिषेक करते हैं। कहा भी है–

''**पौरस्त्ये सिंहासने पूर्वविदेहजान्, अपाच्ये भरतजान् प्रतीच्ये अपरविदेहजान्, उदीच्ये ऐरावतजांस्तीर्थंकरांश्चतुर्निकायदेवाधिपाः सपरिवाराः महत्या विभूत्या क्षीरोदवारि-परिपूर्णैरष्टाधिक सहस्रकनककलशैरभिषिंचंति**'' (पृ॰ १२७)

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि–पाण्डुकशिला में सूर्य के समान प्रकाशमान उन्नत सिंहासन है। सिंहासन के दोनों पार्श्व में दिव्य रत्नों से रचे गए भद्रासन विद्यमान हैं जिनेन्द्र भगवान् को मध्य सिंहासन पर विराजमान करते है। सौधर्मेन्द्र दक्षिण पीठ पर और ईशान इन्द्र उत्तर पीठ पर अवस्थित होते हैं। (अ॰ ४ गाथा १८२२ से १८२९)

२६. पाण्डुक शिला पर भगवान् का जन्माभिषेक–अब सौधर्मेन्द्र मेरुपर्वत के शिखर पर जिनेन्द्र भगवान् के साथ पहुँच गए। महापुराण में कहा है कि सुरेन्द्र ने बड़े प्रेम से गिरिराज सुमेरु की प्रदक्षिणा की और पाण्डुकवन में ईशान दिशा में स्थित पाण्डुक शिला पर भगवान् को पूर्व मुख विराजमान किया। सभी देवगण जन्मोत्सव द्वारा जन्म सफल करने के हेतु पाण्डुकशिला को घेर कर बैठे गए। देवों की सेना आकाश रूपी आँगन को व्याप्त कर ठहर गई। देवदुन्दुभि बज रही थी। अप्सराएँ नृत्य–गान में निमग्न थीं। अत्यन्त प्रशान्त, भव्य तथा प्रमोद परिपूर्ण वातावरण था। बहुत से देव क्षीर सागर का जल लाने के लिए कमर बाँधकर सुवर्णमय कलशों को लेकर श्रेणीबद्ध होकर खड़े हो रहे थे। जो स्वयं पवित्र है, और जिसमें दुग्ध सदृश स्वच्छ सलिल है, भगवान् के शरीर का स्पर्श करने के लिए ऐसे क्षीर सागर के जल के सिवाय अन्य जल योग्य नहीं है ऐसा विचार कर ही देवों ने पञ्चम क्षीरसागर के जल से पञ्चम गति को प्राप्त होने वाले जिनेन्द्र के अभिषेक करने का निश्चय किया था।

क्षीरसागर की विशेषता के विषय में त्रिलोकसार का यह कथन ध्यान देने योग्य हैं–

जलयरजीवा लवणे कालेयंतिम–सयंभुरमणेय।
कम्ममहीपडिबद्धे णहि सेसे जलयरा जीवा ॥३२०॥

अर्थात्–लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र, अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र ये कर्मभूमि से सम्बद्ध हैं। इन समुद्रों में जलचर जीव पाए जाते हैं। शेष समुद्रों में जलचर जीव नहीं हैं।

इससे यह विशेष बात दृष्टि में आती है कि क्षीरसागर का जल जलचर जीवों से रहित होने के कारण विशेषता धारण करता है। अभिषेक जल लाने के **स्वर्ण निर्मित कलश आठ योजन गहरे, उदर में चार योजन तथा मुख पर एक योजन चौड़े थे।** ''**मुक्ता फलांचितग्रीवाः चन्दनद्रवचर्चिताः**'' अर्थात् वे घिसे हुए चन्दन से चर्चित थे तथा उनके कंठ भाग मुक्ताओं से अलंकृत थे।

सौधर्मेन्द्र ने अभिषेक के लिए प्रथम कलश उठाया। ईशानेन्द्र ने सघन चंदन से चर्चित दूसरा भरा हुआ कलश उठाया और जय जय शब्द करते हुए सौधर्मेन्द्र ने प्रभु के मस्तक पर प्रथम ही जलधारा छोड़ी, उस समय करोड़ों देवों ने भी जय जयकार के शब्दों द्वारा महान् कोलाहल किया। भगवान् का रक्त धवल वर्ण का था। क्षीरसागर का जल भी उसी वर्ण का है। अतएव उस जल द्वारा जिनेन्द्रदेव का अभिषेक बड़ा सुन्दर प्रतीत होता था।

२७. तीर्थंकर भगवान् के अतुल बल का प्रदर्शन—भगवान् में अतुल बल था। विशाल कलशों से गिरी हुई जलधारा से बाल जिनेन्द्र को रंचमात्र भी बाधा नहीं होती थी। यह देख अनेक देवगण विस्मय में निमग्न हो गए थे।

महावीर भगवान् का जब मेरु पर इन्द्र कृत अभिषेक सम्पन्न होने को था। उस समय सुरेन्द्र के चित्त में एक शंका उत्पन्न हुई थी कि भगवान् का शरीर छोटा है। कहीं बड़े-बड़े कलशों के द्वारा किया जाने वाला महान् अभिषेक प्रभु के अत्यन्त सुकुमार शरीर को संताप उत्पन्न न करे। भगवान् ने अवधिज्ञान से इस बात को समझ कर इन्द्र के संदेह को दूर करने के लिए अपने पैर के अंगूठे के द्वारा उन महान् गिरिराज को हिला दिया था, उससे प्रभावित होकर इन्द्र ने वर्धमान तीर्थंकर का नाम 'वीर रखा था। आचार्य प्रभाचन्द्र ने बृहत्प्रतिक्रमण की संस्कृत टीका में उपरोक्त कथन इन शब्दों में स्पष्ट किया है, ''**जन्माभिषेके च लघुशरीरदर्शनादाशांकितवृत्तेरिंद्रस्य स्वासामर्थ्यख्यापनार्थं पादांगुष्ठेन मेरुसंचालनादिन्द्रेण 'वीर' इति नामकृतम्**'' (पृ०९६ प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी)।

वर्धमानचरित्र में उक्त प्रसंग का इस प्रकार निरूपण किया गया है-''**तस्मिन् तदा शुवति कंपितशैलराजे घोणाप्रविष्टसलिलात्पृथुकेऽप्यजसम्र। इन्द्रादयस्तृणमिवैकपदे निपेतुः वीर्यनिसर्गजमनन्तमहो जिनानां**''॥१७-८२॥

अर्थात्-जिस समय इन्द्र ने बालजिनेन्द्र का अभिषेक किया, उस समय नासिका में जल के प्रवेश होने से बाल जिनेन्द्र को छींक आ गई। इससे मेरु पर्वत कंपित हो गया और इन्द्र आदिक देवगण तृण के समान सहसा गिर पड़े। जिनेश्वर के स्वाभाविक अपरिमित बल है।

यह प्रभाव देखकर इन्द्र ने प्रभु का नाम 'वीर' रखा था। पद्मपुराण का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है-

पादांगुष्ठेन यो मेरुमनायासेनाकंपयत्।
लेभे नाम महावीर इति नाकालयाधिपात् ॥२-७६॥

अर्थात्– भगवान् वर्धमान प्रभु के बिना परिश्रम के पैर के अंगुष्ठ के द्वारा मेरु को कंपित कर दिया था, इसलिए देवेन्द्र ने उनका नाम 'महावीर' रखा था। यथार्थ में तीन लोक में जिन भगवान् की सामर्थ्य के समान दूसरे की शक्ति नहीं होती है। मेरु शिखर पर किया गया महाभिषेक भगवान् जिनेन्द्र की बाल्य अवस्था में भी अपार सामर्थ्य को प्रकट करता है।

इस प्रसंग में रत्नाकार कवि का यह कथन स्मरण योग्य है–हे रत्नाकराधीश्वर! देवेन्द्र आपकी सेवा में अपने ऐरावत हाथी को अर्पण कर गौरव को प्राप्त करता है। वह अपनी इन्द्राणी से आपके गुणगान कराता है। आपके अभिषेक के लिए देवताओं की सेना के साथ भक्ति पूर्वक सेवा करता है। श्रद्धा पूर्वक छत्रधारण करता है नृत्य करता है। पालकी उठाता है। जब इन्द्र की ऐसी मार्दव भावपूर्ण परणति है, तब नृकीट को अहंकार धारण करना कहाँ तक उचित है? (रत्नाकर शतक, पद्य ८१)

२८. छद्मस्थ तीर्थंकर भगवान् के वस्त्राभूषण–श्रेष्ठ रीति से त्रिलोक चूड़ामणि जिनेन्द्र का जन्माभिषेक होने के पश्चात् इन्द्राणी ने बालजिनेन्द्र को विविध आभूषणों तथा वस्त्रादि से समलंकृत किया। भरत तथा ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों के उपभोग में आने वाले रत्नमय आभूषणों सौधर्म तथा ईशान स्वर्ग में विद्यमान रत्नमय सींकों में लटकते हुए उत्तम रत्नमय करण्डकों अर्थात् पिटारों में रहते हैं। तिलोयपण्णत्ति में इन पिटारों के विषय में लिखा है– **सक्कादि पूजविज्जा** अर्थात् ये इन्द्रादि के पूजनीय हैं। '**अणादिणिहणा**' अर्थात् अनादि निधन है '**महारम्मा**' अर्थात् महारमणीय है। (अध्याय ८, गाथा ४०३, भाग दूसरा) ये रत्नमय पिटारे वज्रमय द्वादश धारायुक्त मानस्तम्भों में पाए जाते हैं। त्रिलोकसार में भी कहा है– "**सौधर्मद्विके तौ मानस्तम्भौ भरतैरावततीर्थंकरप्रतिबद्धौ स्याताम्।**" सानत्कुमार महेन्द्र स्वर्ग के मानस्तम्भों में पूर्वोपर विदेह के तीर्थंकरों के भूषण रहते हैं। (त्रिलोकसार, गाथा ५२१, ५२२)

२९. पाण्डुकशिला से देवेन्द्र का प्रभु के साथ अयोध्या नगर में आगमन–सुन्दर वस्त्राभूषणों से प्रभु को समलंकृत कर सुरराज ने अपने अंतःकरण के उज्ज्वल भावों को श्रेष्ठ स्तुति के रूप में व्यक्त किया। पश्चात् वैभव सहित वे देव देवेन्द्र ऐरावत हाथी पर प्रभु को विराजमान कर अयोध्यापुरी आए। इन्द्र ने महाराज नाभिराज के सर्वतोभद्र महाप्रासाद में प्रवेश कर श्रीगृह के आँगन में भगवान् को सिंहासन पर विराजमान किया। महाराज नाभिराज उन प्रिय दर्शन भगवान् को प्रेम से विस्तृत नेत्रयुक्त हो तथा रोमांचयुक्त होकर देखने लगे। इस समय जनक-जननी को प्रभु का दर्शनकर जो सुख प्राप्त हुआ, वह कौन बता सकता है ? तीर्थंकर के जन्म से जब जगत् भर के जीवों को अपार आनन्द हुआ, तब उनके ही माता-पिता के आनन्द की सीमा बताने की कौन धृष्टता करेगा? धर्मशर्माभ्युदय में लिखा है–

उत्सङ्गभारोप्य तमंगजं नृपः परिस्वजन्मीलितलोचनो वभौ।
अंतर्विनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृह कपाटयोः संघटयन्निवद्वयम् ॥९-२२॥

पिता ने अपने अंग से उत्पन्न अंगज अर्थात् पुत्र को गोद में लिया तथा आलिंगन किया। उस समय उनके दोनों नेत्र बंद हो गए थे। इन्द्र ने जब प्रभु का प्रथम बार दर्शन किया था, तब तो वह **सहस्र नेत्रधारी** बना था, किन्तु यहाँ त्रिलोकी नाथ के पिता ने 'मनुष्य' को सहज प्राप्त **चक्षु युगल** का उपयोग न ले उनको भी बंद कर लिया था, इसका क्या समाधान है ? इस शंका के समाधान हेतु महा कवि के पद्य का उत्तरार्ध ध्यान देने योग्य है। पिता ने भगवान् के दर्शन जनित सुख को शरीर रूपी भवन के भीतर रखकर नेत्र रूपी कपाटयुगल को बंद कर लिया, जिससे वह हर्ष बाहर न चला जाय। कितनी मधुर तथा आनन्ददायी उत्प्रेक्षा है।

एक नरभव धारण करने के पश्चात् शीघ्र ही सिद्ध भगवान् के साथ सिद्धालय में निवास करने के सौभाग्य वाले इन्द्र की भक्ति विवेक तथा सद्विचार से परिपूर्ण थी। भगवान् को पिता के कर कमलों में सौंपने के पश्चात् सुरराज भगवान् की परिचर्या के हेतु समान अवस्था, समान रूप तथा वेष धारण करने वाले देव कुमारों को निश्चित कर स्वर्ग को चले गए।

३०. तीर्थंकरों को सहज प्राप्त जन्म काल के दस अतिशय गुण

१. सौरूप्य–अत्यन्त सुन्दर शरीर होना।

२. सौरभ–अत्यन्त सुगंधित शरीर होना।

३. निःस्वेदत्व–पसीना रहित शरीर होना।

४. निर्मलत्व–मल मूत्र रहित निर्मल शरीर होना।

५. प्रियहित वादित्व–मधुर हित–मित–प्रिय वचन बोलना।

६. अप्रमित वीर्यता–अनन्तबल–वीर्य होना।

७. क्षीर गौर रूधित्व–दूध के समान धवल रुधिर होना।

८. सौलक्षण्य–शरीर पर १००८ उत्तम लक्षणों का धारण करना।

९. समचतुरस्र संस्थान–उत्तम आकार का शरीर होना।

१०. वज्रवृषभनाराच संहनन– वज्रमय शरीर होना।

ये दश स्वाभाविक अतिशय तीर्थंकरों के जन्म ग्रहण से ही उत्पन्न हो जाते हैं। **''एदं तित्थयराणां जम्मग्गहणादि उप्पण्णं''** इस प्रकार तिलोयपण्णत्ति में लिखा है (देखो भाग १ अ० ४ गाथा ८९६-८९८)

३१. तीर्थंकरों के छद्मस्थकाल में आहार है, परन्तु नीहार नहीं हैं–तीर्थंकर भगवान् के

केवलज्ञान होने के पूर्व कवलाहार अर्थात् अन्नपान ग्रहण होते हुए भी नीहार अर्थात् मल-मूत्र नहीं होता है। कहा भी है–

तित्थयरा-तप्पियरा हलहरचकी इ-वासुदेवाहि।
पडिवासुभोगभूमिय आहारो णत्थि णीहारो॥

अर्थात्-छद्मस्थ तीर्थंकर, उनके माता पिता, बलदेव, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण तथा समस्त भोगभूमियों के जीवों के आहार है परन्तु नीहार नहीं है।

इस आगम वाक्य के पीछे यह वैज्ञानिक सत्य निहित है कि तीर्थंकर आदि विशिष्ट आत्माओं की जठराग्नि इस जाति की होती है कि उसमें डाली गई वस्तु रस, रुधिर आदि रूप परिणत हो जाती है। ऐसा तत्त्व नहीं बचता है, जो व्यर्थ होने के कारण मलमूत्र रूप से निकाल दिया जाय।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जब जठराग्नि मन्द होती है, तब मनुष्य के द्वारा गृहीत वस्तु के सार तत्त्व शरीर को नहीं प्राप्त होता है और प्रायः खाई गई सामग्री बाहर निकाल दी जाती है। इससे खूब खाते हुए भी व्यक्ति क्षीण होता जाता है। ठीक इसके विपरीत स्थिति उक्त महान् पुरुषों की होती है। शरीर में प्राप्त समस्त सामग्री का समुदाय रुधिरादि रूप में परिणत हो जाता है।

३२. तीर्थंकर की माता रजस्वला नहीं होती—जिन माता के शरीर में मलमूत्र नहीं होता है, तो यह सहज प्रश्न उत्पन्न हुआ करता है कि जिन माता रजस्वला होती है या नहीं? इस शंका के निवारण निमित्त महापुराण का यह श्लोक ध्यान देने योग्य है–

सम्मता नाभिराजस्य पुष्पवत्यरजस्वला।
तदा वसुंधरा भेजे जिनमातुरनुक्रियां ॥१२-१०६॥

भगवान् के गर्भावतरण के समय वह पृथ्वी भगवान् की माता मरुदेवी का अनुसरण करती थी, क्योंकि माता मरुदेवी नाभिराज को जिस प्रकार प्रिय थी, उसी प्रकार वह पृथ्वी भी प्रिय थी। माता पुष्पवती होकर भी रजस्वला नहीं होती थी, इसी प्रकार पृथ्वी भी रजस्वला अर्थात् धूलि युक्त न होकर पुष्पों से सुशोभित होने के कारण पुष्पवती थी।

३३. तीर्थंकर के शरीर में श्वेत रक्त होने का रहस्य—भगवान् के शरीर में श्वेत आकार धारण करने वाला रुधिर होता है। इस विषय में यह बात गम्भीरता पूर्वक विचारणीय है कि माता के शरीर में अपने पुत्र के लिए स्नेह होने से क्षण भर में उसके स्तन में दुग्ध में आ जाता है। रुक्मिणी ने प्रद्युम्न को देखा था। जननी के हृदय में नैसर्गिक स्नेह भाव उत्पन्न होने से उसके स्तनों में दुग्ध आ गया था। इस शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक व्यवस्था को ध्यान में रखने से यह बात अनुमान करना सम्यक् प्रतीत होता है कि जिनेन्द्र भगवान् के रोम रोम में समस्त जीवों के प्रति सच्ची करूणा, दया तथा प्रेम के बीज परिपूर्ण है। तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते समय दर्शनविशुद्धि भावना भाई गई थी। दूसरे शब्दों में उसका

यह रहस्य है कि भगवान् ने विश्व प्रेम के वृक्ष का बीज बोया था, जो वृद्धि को प्राप्त हुआ है और केवलज्ञान काल में अपने फल द्वारा समस्त जगत् को सुख तथा शान्ति प्रदान करेगा। एकेन्द्रिय वनस्पति तक प्रभु के विश्व प्रेम की भावना रूप जल से लाभ प्राप्त करेगी। इसी से केवलज्ञान की उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण बातों में सौ योजन भूमि में पृथ्वी धान्यादि से हरी भरी हो जाती है। भगवान् का हृदय सम्पूर्ण जीवों को सुख देने के लिए जननी के तुल्य है। समन्तभद्र स्वामी ने भगवान् पार्श्वनाथ के स्तवन में उन्हें ''**मातेव बालस्य हितानुशास्ता**'' बालक के लिए कल्याणकारी अनुशासन कर्त्री माता के समान होने के कारण माता तुल्य कहा है। प्राणी मात्र के दु:ख दूर करने की भावना तथा उसके योग्य सामर्थ्य और साधन सामग्री समन्वित मातृचेतस्क जिनेन्द्र के शरीर में रुधिर का श्वेतवर्ण युक्त होना तीर्थंकर की उत्कृष्ट कारुणिक वृत्ति तथा महत्ता का परिचायक प्रतीत होता है।

शरीर सम्बन्धी विद्या में प्रवीण लोगों का कहना है कि महान् बुद्धिमान, सदाचारी, कुलीनतादि सम्पन्न व्यक्तियों के रक्त में रक्तवर्णीय परमाणु पुञ्ज के स्थान में धवलवर्णीय परमाणु पुञ्ज विशेष पाए जाते हैं। आज के असदाचार प्रचुर युग का शरीर शास्त्रज्ञ वर्तमान युग के हीनाचरण मानवों के रक्त को शोधकर उपरोक्त विचार पूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। यदि यह कथन सत्य है तो तीर्थंकर भगवान् के शरीर के रुधिर की धवलता को स्थूल रूप से समझने में सहायता प्राप्त होती है।

एक बात और है भगवान् प्रारम्भ से ही सभी भोगों के प्रति आसक्ति रहित होते हैं अतएव **विरक्त** आत्मा का **रक्त** यदि विरक्त अर्थात् विगत रक्तपना, लालिमा शून्यता से संयुक्त हुआ हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। विरक्तों के आराध्य देव का देह सचमुच में विरक्त परमाणुओं से ही निर्मित मानना पूर्ण संगत है। सरागी जगत् के लोगों का शरीर विषयों में अनुरक्त रहने से क्यों न रक्त वर्ण का होगा।

भगवान् का रोम रोम विषयों से विरक्त था। इतना ही नहीं उनकी वाणी विरक्तता अर्थात् वीतरागता का सदा सिंहनाद करती थी। मौन स्थिति में उनके शरीर से ऐसे परमाणु बाहर जाते थे, जिससे उज्ज्वल ज्योति जगे, इसी अलौकिकता के कारण सौधर्म इन्द्र सदा प्रभु के चरणों की शरण ग्रहण करता है। भगवान् के हृदय में, विचार में, जीवन में जैसी विरक्तता थी वैसी ही उनके रुधिर में विरक्तता थी। इन्द्र भी चाहता था कि प्रभु की अंतः बाह्य विद्यमान विरक्तता मुझे भी प्राप्त हो जाय। वैसे देवों के शरीर में भी विरक्तपना है, किन्तु आंतरिक विरक्तपना के बिना बाह्य विरक्तपना शव का श्रृंगार मात्र है। परम औदारिक शरीर धारी होकर अंतः बाह्य विरक्तता के धारक तीर्थंकर ही होते है। सरागी शासन में इस विरक्तता की कल्पना नहीं हो सकती; यह बात तो वीतरागी शासन में ही बताई जा सकती है। वैभव शून्य मानव वैभव के शिखर पर स्थित श्रेष्ठ आत्माओं की कल्पना भी नहीं कर सकता है।

भगवान् में प्रारम्भ से ही विरक्तता है, इसका आधार यह है कि–वे भगवान् जब माता के गर्भ में आने के समय से लेकर आठ वर्ष की अवस्था के होते हैं तो यह भगवान् सत्पुरुषों के योग्य देश संयम को ग्रहण करते है। आदिपुराण में लिखा है–

स्वायुराद्यष्टवर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत्।
उदिताष्टकषायाणां तीर्थेशां देशसंयमः॥६-३५॥

सब तीर्थंकरों के अपनी आयु के आरम्भ से आठ वर्ष के आगे से देशसंयम होता है, क्योंकि उनके प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन कषायें उदयावस्था को प्राप्त हैं। यदि प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न हो तो वे महाव्रती बन जाते।

ततोऽस्य भोगवस्तूनां साकल्येपि जितात्मनः।
वृत्तिर्नियमितैकाभूदसंख्येयगुणनिर्जरा ॥६-३६॥

यद्यपि इन जिनेन्द्र देव के भोग्य वस्तुओं की परिपूर्णता थी तथापि वे जितात्मा थे और उनकी प्रवृत्ति नियमित रूप से होती थी, इससे असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती थी।

३४. तीर्थंकर के शरीर पर रहने वाले १००८ सुलक्षणों की नामावली—भगवान् का जीवन अंतःबाह्य सौन्दर्य का अपूर्व केन्द्र था। सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से भी भगवान् का पौद्गलिक शरीर १००८ लक्षणों से समलंकृत होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। महापुराण में लिखा है कि भगवान् के शरीर में १. श्रीवृक्ष (नारियल का वृक्ष-बिल्व वृक्ष), २. शंख, ३. कमल, ४. स्वस्तिक (साथिया), ५. अंकुश, ६. तोरण, ७. चँवर, ८. श्वेत-छत्र (धवलछत्र), ९. सिंहासन (सिंह पीठ), १०. ध्वज (पताका), ११. मीनयुगल (दो मीन), १२. दो कुंभ, १३. कच्छप (कूर्म), १४. चक्र, १५. समुद्र, १६. सरोवर, १७. विमान (देवविमान), १८. भवन (नागेन्द्रभवन), १९. हाथी, २०. मनुष्य, २१. मनुक्षी (स्त्री), २२. सिंह, २३. बाण, २४. धनुष्य, २५. मेरु (महामेरु), २६. इन्द्र (देवेन्द्र), २७. देवांगना, २८. पुर (पट्टण), २९. गोपुर, ३०. चन्द्रमा, ३१. सूर्य, ३२. उत्तम घोड़ा, ३३. पंखा, ३४. बांसुरी (मुरली), ३५. वीणा, ३६. मृदंग, ३७. मालाएँ (दो पुष्प माला), ३८. रेशमी वस्त्र, ३९. दुकान, ४०. शेखरपट्ट=शीर्षाभूषण (मुकुट-किरीट), ४१. हार (कंठिकावली-मौक्तिक माला), ४२. पदक (चूड़ामणि), ४३. ग्रैवेयक, ४४. प्रालम्ब, ४५. केयूर (भुजबन्द बाजूबन्द), ४६. अंगद, ४७. कटिसूत्र (करधनी), ४८. दो मुद्रिकाएँ (पवित्र-अंगूठी), ४९. कुण्डल=कर्णभूषण, ५०. कर्णपूर, ५१. दो कंकण (कड़ा), ५२. मंजीर (नुपुर-घुंगरु), ५३. कटक, ५४. पट्ट (भाल पट्ट), ५५. सूत्र (ब्रह्म सूत्र), ५६. फल भरित उद्यान, ५७. पके वृक्षों से सुशोभित खेत (फल भार से नम्र हुई शाली का खेत), ५८. रत्नदीप, ५९. वज्र, ६०. पृथ्वी, ६१. लक्ष्मी, ६२. सरस्वती, ६३. कामधेनु गाय, ६४. वृषभ (बैल), ६५. चूड़ामणि, ६६. महानिधियाँ, ६७. गृहांग कल्पवृक्ष, ६८. भाजनांग क., ६९. भोजनांग क., ७०. पानांग (मद्यांग) क., ७१. वस्त्रांग क., ७२. भूषणांग क., ७३. माल्यांग

(कुसुमांग) क, ७४. दीपांग क., ७५. ज्योतिरांग क. ७६. सूर्यांग क., ७७. सुवर्ण, ७८. जम्बूवृक्ष, ७९. गरुण, ८०. नक्षत्रों का समूह, ८१. तारागण, ८२. राज भवन, ८३. अंगारक (शनि) ग्रह, ८४. रवि ग्रह, ८५. चन्द्र ग्रह, ८६. मंगल ग्रह, ८७. बुध, ८८. गुरु, ८९. शुक्र, ९०. राहु, ९१. केतु, ९२. सिद्धार्थ वृक्ष, ९३. अशोकवृक्ष, ९४. रत्न सिंहासन, ९५. छत्रत्रय, ९६. भामण्डल (प्रभा मण्डल), ९७. दिव्यध्वनि, ९८. पुष्पवृष्टि, ९९. चँवर, १००. देवदुन्दुभि, १०१. झारी (भृंगार), १०२. कलश, १०३. ध्वजा, १०४. छत्र, १०५. स्वस्तिक (सुप्रतिष्ठ-साथिया), १०६. चँवर, १०७. दर्पण, १०८. पंखा (तालब्यजन-तालंवृन्त)।

इस प्रकार १०८ मुख्य लक्षण तथा मसूरिकादि ९०० व्यञ्जन अर्थात् सामान्य लक्षण यह सब मिलकर १००८ सुलक्षण विद्यमान थे। (देखो महापुराण पर्व १५ श्लोक ३७ से ४४)

३५. निमित्त ज्ञान के शास्त्र और शास्त्रज्ञ—महाकवि कहते हैं—इन मनोहर और श्रेष्ठ लक्षणों से व्याप्त हुआ भगवान् का शरीर ज्योतिषी देवों से भरे हुए आकाश रूपी आँगन के समान शोभायमान हो रहा था।

अभिरामं वपुर्भर्तुः लक्षणैरभिरूर्जितैः।
ज्योतिर्भिरिव संच्छन्नंगगनप्रांगण बभौ ॥१५-४५॥

आज इस महान् विज्ञान के ज्ञाताओं का प्रायः लोप हो गया इससे इस विद्या के महत्त्व को भी लोग भूलने लगे। जिन धरसेन महामुनि ने भूतबलि तथा पुष्पदन्त साधु युगल को महाकर्म प्रकृति प्राभृत रूप परमागम का उपदेश दिया था वे सामुद्रिक विद्या, स्वर शास्त्र, स्वप्न शास्त्र आदि में पारंगत थे। श्री धवल ग्रन्थ, पृष्ठ ६७ में धरसेन आचार्य को "**अट्ठंगमहाणिमित्त पारएण**" शब्द द्वारा अष्टांग निमित्त विद्या के पारगामी कहा है। यह विज्ञान विद्यानुवाद नाम के दशमपूर्व में संग्रहीत है।

३६. लांछन या चिह्न किसको कहते हैं ?—समाधान—तीर्थंकरों के जन्म काल के दस अतिशयों में से 'सौलक्षण्य' नामक एक अतिशय है उस अतिशयानुसार उनके शरीर पर रहने वाले १००८ लक्षणों में से उनके दाहिने पैर के अंगूठे में जो चिह्न रहेगा उसको 'लांछन' या 'चिह्न' कहते हैं। लिखा भी है—

जम्मणकाले जस्सदु दाहिणपायम्मि होइ जो चिण्हं।
तं लक्खण पाउत्तं आगमसुत्ते सुजिणदेहं ॥

३७. तीर्थंकर भगवान् गृहस्थावस्था में अवधिज्ञान जोड़ते थे या नहीं ? समाधान— तीर्थंकरों के जन्म से, मति-श्रुत-अवधि ये तीन ज्ञान रहते हैं। वे गृहस्थावस्था में अवधिज्ञान जोड़ते रहते थे। इस विषय में सोमसेन कृत लघु पद्मपुराण में लिखा है कि—

पट्टहस्तिस्तदामुक्तो भुक्तिं करोति दुःखदाम्।
तद्दृष्टावधिनेत्रेण जिनः प्राह जनान् प्रति ॥१२-११॥

अर्थात्-एक दिन २०वें श्रीमुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर गृहस्थावस्था में अपने पुत्र के साथ सभा मण्डल में विराजमान थे। वहाँ जब पट्ट हाथी का प्रसंग आया था, उस समय उन्होंने अपने अवधिज्ञान से सब सभासदों को पट्टहाथी का वृत्तान्त कह दिया था। अतः उत्तरपुराण में भी यह कथन आया है–

वनस्मरणसंत्यक्तकबलग्रहणं नृपः।
निरीक्ष्यावधिनेत्रेणविज्ञानेनात्मनोगतम् ॥३८॥
तत्पूर्वभवसंबद्धं कौतूहलवतां नृणाम्।
अवोचद्वृत्तमित्युच्चैः स मनोहरया गिरा ॥ ३३ अ० २०॥

अर्थात्-वन का स्मरण कर मुख्य हाथी ने खाना पीना छोड़ दिया था। उसे देखकर मुनिसुव्रत महाराज ने अपने अवधिज्ञान रूपी नेत्रों से उसके पूर्वभव का सम्बन्ध जान लिया और मनोहर तथा ऊँची वाणी से कौतुहल युक्त लोगों को वे समझा दिए थे। इससे स्पष्ट होता है कि तीर्थंकर भगवान् गृहस्थावस्था में अवधिज्ञान का उपयोग करते हैं।

३८. तीर्थंकर (छद्मस्थ) प्रभु की और मुनियों की भेंट होती है या नहीं? और वे मुनीश्वरों की वन्दना करते हैं या नहीं? समाधान–उनकी भेंट होती है, परन्तु तीर्थंकर मुनीश्वरों की वन्दना नहीं करते हैं। एक दिन श्रीकुन्थुनाथ चक्रवर्ती (तीर्थंकर) वन विहार करके लौटे। अपने नगर में आते समय रास्ते में एक आतापनयोगी साधु को देखकर उन्होंने अपनी तर्जनी अंगुली से मंत्री को बताया था। उस समय मंत्री ने मुनि को नमस्कार किया था और तीर्थंकर (छद्मस्थ) प्रभु से पूछा था हे देव! ऐसे दुर्धर तप करने से साधुओं को कौन-सा फल मिल सकता है? तब प्रसन्न मुख भगवान् ने कहा था कि यदि कर्म नाश करे तो इसी भव में मोक्ष चले जायेंगे। कदाचित् कर्म का नाश न हो तो इन्द्रादिक पद प्राप्त कर वे कर्म का नाश कर मुक्त हो जायेंगे।

अशग कवि कृत वर्धमान चरित्र, सर्ग १७, श्लोक ९२ में लिखा है कि–विजय, संजय नाम के दो चारण मुनियों को किसी एक बात के अर्थ के विषय में सन्देह होने के बाद अकस्मात् उनको श्रीवर्धमान स्वामी का दर्शन होते ही वे निःसन्देह हो गए थे। तब उन्होंने बड़ी भक्ति भाव से वर्धमान स्वामी को 'सन्मति' यह नाम देकर वहाँ से प्रस्थान किया था। इसलिए तीर्थंकरों की (छद्मस्थ अवस्था में) मुनियों से भेंट होती है, यह सिद्ध होता है।

३९. तपकल्याणक या परिनिष्क्रमण–भगवान् की मोह निद्रा दूर होने से वे भली प्रकार जाग चुके। अब उन्हें कर्मचोर नहीं लूट सकते हैं। जगने के पूर्व में भगवान् पिता होने के रूप में भरत, बाहुबली, ब्राह्मी, सुन्दरी को देखते रहे। पितामह होने के रूप में मरीचि आदि पौत्रों पर दृष्टि रखते थे।

अयोध्या की जनता को प्रजापति होने से आत्मीय भाव से देखते थे। अब उनकी सम्पूर्ण दृष्टि बदल गई। एक चैतन्य आत्मा के सिवाय अन्य सब पदार्थ पर प्रतिभासमान होने लग गए। मोतियाबिन्द वाले मनुष्य के नेत्र में जाला आने से वह अंध सदृश हो जाता है। जाला दूर होते ही उसे प्रकाश प्राप्त होता है। अपना पराया पदार्थ दिखने लगता है।

नीलांजना को अवलंबन बनाकर सुधी सुरराज ने भगवान् के नेत्रों को स्वच्छ करने में बड़ी चतुरता से काम लिया। भगवान् के जन्म होने पर उस इन्द्र ने आनंदित होकर सहस्र नेत्र बनाये थे। आज भी सुरराज मोह जाल दूर होने से आध्यात्मिक सौन्दर्य समन्वित विरक्त आदिनाथ प्रभु की अपने ज्ञान नेत्रों द्वारा नीराजना करते हुए, आरती उतारते हुए अपूर्व शांति तथा प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है। इसका कारण यह है कि इन्द्र महाराज की जिनेन्द्र में जो भक्ति थी, वह मोहान्धकार से मलिन नहीं थी। वह सम्यक्त्व रूप चिन्तामणि रत्न के प्रकाश से देदीप्यमान थी।

अब तक विरक्त तथा दिव्य विषयों में आसक्त रहने वाले देवर्षि रूप में माने जाने वाले लौकान्तिक देव अपने स्थान से ही जिनेन्द्र देव को प्रणाम करते थे। सुदर्शन मेरु के शिखर पर सारे विश्व को चकित करने वाला जिनेन्द्र भगवान् का जन्माभिषेक हुआ। वहाँ सभी चारों निकाय के देव विद्यमान थे, केवल इन विरक्त देवर्षियों का वहाँ अभाव था। ये वैराग्य के प्रेमी कोकिल सदृश थे, जिन्हें अपना मधुर गीत प्रारम्भ करने के लिए वैराग्य पूर्ण बसंतऋतु चाहिए थी, जिससे सब कष्टों का सदा के लिए अन्त हो जाता है। योग्य बेला देखकर ये देवर्षि भगवान् के समीप आए।

प्रभु को प्रणाम कर कहने लगे, भगवन्! आपने अपने मोह के जाल से छूटने का जो पवित्र निश्चय किया है वह आप जैसी उच्च आत्मा की प्रतिष्ठा के पूर्णतया अनुरूप है। अब तो धर्म तीर्थ प्रवर्तन के योग्य समय आ गया है ''**वर्तते कालो धर्मतीर्थप्रवर्तने**''।

हे नाथ! चारों गति रूप महाटवी में दिशाओं का परिज्ञान न होने से भटकते हुए जीवों को मुक्तिपुरी में पहुँचने का सुनिश्चित मार्ग बताइये। प्रभो! अब आपके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर सत्पुरुष जन्म मरण के श्रम से शून्य होकर त्रिलोक के शिखर पर जहाँ अविनाशी आनन्द है, पहुँचकर विश्राम करेंगे।

इसके अनन्तर चारों निकाय के देव आए। उन्होंने क्षीर सरोवर के जल से भगवान् का अभिषेक किया। जन्म कल्याणक के समय निर्मल शरीर वाले बाल जिनेन्द्र के शरीर का महा अभिषेक हुआ था। आज वैराग्य को प्राप्त मोक्षपुरी को जाकर अपने आत्म-साम्राज्य को प्राप्त करने को उद्यत प्रभु के अभिषेक में भिन्न प्रकार की मनोवृत्ति है। आज तो ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य शरीर के अभिषेक के बहाने से ये सुरराज अन्तःकरण में जागृत ज्ञान ज्योति से समलंकृत आत्मदेव का अभिषेक कर रहे हैं। यह अभिषेक बाल रूप धारी तीर्थंकर का नहीं है। यह तो सिद्ध वधु को

वरण करने के लिए उद्यत प्रबुद्ध विरक्त जिनेन्द्र के शरीर का अंतिम अभिषेक है। इसके पश्चात् इन वीतरागी जिनेन्द्र का अभिषेक नहीं होगा। आगे ये सदा चिन्मयी विज्ञान गंगा में डुबकी लगाकर आत्मा को निर्मल बनावेंगे। अब तो भेदविज्ञान भास्कर उदित हो गया है। उसके प्रकाश में ये शरीर से भिन्न चैतन्य ज्योति देखकर उसे विशुद्ध बनाने के पवित्र विचारों में निमग्न हैं।

४०. दीक्षा पालकी—आत्म प्रकाश से सुशोभित जिनराज ने मार्मिक वाणी द्वारा सबको नग्न सत्य कहते हुए स्वयं अन्तः बाह्य नग्नमुद्रा धारण करने का निश्चय किया। वीतराग प्रभु अब 'सुदर्शना' पालकी पर विराजमान हो गए। भूमिगोचरी राजाओं ने प्रभु की पालकी सात पग तक अपने कंधों पर रखी। विद्याधरों ने भी सप्तपद प्रमाण प्रभु की पालकी को वहन किया। इसके पश्चात् देवताओं ने प्रभु की पालकी कंधों पर रखकर आकाश मार्ग द्वारा शीघ्र ही दीक्षावन को प्राप्त किया। यह सिद्धार्थ नाम का दीक्षा वन अयोध्या के निकट ही था। भगवान् का सारा परिवार प्रभु की विरक्ति से व्यथित हो रहा था। उसे देख ऐसा लगता था, मानो मोह शत्रु के विजयार्थ उद्योग में तत्पर भगवान् को देखकर मोह की सेना ही रो रही है। चारों ओर वैराग्य का सिंधु उद्वेलित हो रहा था।

४१. दीक्षा पालकी उठाने के प्रसंग पर क्षोभ की कल्पना करना अनुचित है—कोई कोई सोचते हैं भगवान् की दीक्षा की बेला में उस प्रस्थान के पावन प्रसंग पर पालकी उठाने के प्रकरण को लेकर मनुष्यों तथा देवताओं में झगड़ा हो गया था। यह कल्पना अत्यन्त असंगत अमनोज्ञ तथा अनुचित है। उस प्रसंग की गम्भीरता को ध्यान में रखने पर एक प्रकार से यह कल्पना सारशून्य ही नहीं अपवादपूर्ण भी प्रतीत हुए बिना न रहेगी। जहाँ विवेकी **सौधर्मेन्द्र** के नेतृत्व में सर्वकार्य सम्यक् रीति से संचालित हो रहे हों। **चक्रवर्ती भरत** सदृश प्रतापी नरेन्द्र प्रजा के अनुशासन प्रदाता हो और जहाँ **भगवान् के वैराग्य** के कारण प्रत्येक का ममता पूर्ण हृदय विशिष्ट विचारों में निमग्न हो, वहाँ झगड़ा उत्पन्न होने की कल्पना तक अमंगल रूप है। सभी लोग विवेकी थे। अतएव सम्पूर्ण कार्य व्यवस्थित पद्धति से चल रहा था। सौधर्मेन्द्र तो एक सौ सत्तर कर्म भूमियों में एक सौ सत्तर तक की संख्या वाले अनेक तीर्थंकरों के कल्याणकों के कार्य सम्पादन करने में सिद्धहस्त तथा अनुभव प्राप्त है। अतः स्वप्न में भी क्षोभ की कल्पना नहीं की जा सकती।

४२. दीक्षाविधि—भगवान् सिद्धार्थ वन में पहुँच कर पालकी से नीचे उतरे। हरिवंशपुराण में लिखा है–

अवतीर्णः स सिद्धार्थी शिविकायाः स्वयं यथा।
देवलोकशिरस्थाया दिवः सर्वार्थसिद्धितः ॥९-९३॥

सिद्ध बनने की कामना वाले सिद्धार्थी भगवान् ऋषभदेव देवलोक के शिर पर स्थित पालकी पर से स्वयं उतरे, जैसे वे सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग से अवतीर्ण हुए थे। अब मुमुक्षु भगवान् मोह ज्वर से मुक्त होकर आत्म स्वास्थ्य प्राप्ति के हेतु स्वस्थता सम्पादक तपोवन के ही वातावरण में रह कर क्रमशः

रोग मुक्त हो अविनाशी स्वास्थ्य को शीघ्र प्राप्त करेंगे। उन्होंने देख लिया कि सच्चा स्व तथा परका कल्याण अपने जीवन को आदर्श (दर्पण) के समान बनाना है। मलिन दर्पण जब तक मलरहित नहीं बनता है, तब तक वह पदार्थों का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में असमर्थ रहता है, इसी प्रकार मोह मलिन मानव का मन त्रिभुवन के पदार्थों को अपने में प्रतिबिम्बित कराने में अक्षम रहता है। भगवान् ने यह तत्त्व हृदयंगम किया, कि आत्मा की कालिमा को धोकर उसे निर्मल बनाने के लिए समाधि अर्थात् आत्म ध्यान की आवश्यकता है। अतः एक चित्त वृत्ति को स्थिर बनाकर मोह को ध्वंस करने के लिए ही ये प्रभु आवश्यक कार्य सम्पादन में संलग्न हैं।

तीर्थंकर भगवान् के कार्य श्रेष्ठ कहे हैं, अतएव तपस्या के क्षेत्र में भी इनकी अत्यन्त समुज्वल स्थिति रहती है। वैराग्य से परिपूर्ण इनका मन आत्मा की ओर उन्मुख है। अब वह अधिक बहिर्मुखता को आत्महित के लिए बाधक सोच रहे है अपने समीप आने वाली प्रजा को प्रभु ने कहा **''शोकं त्यजत भोः प्रजाः''** अरे प्रजानन तुम शोक भाव का परित्याग करो। तुम्हारी रक्षा के हेतु भरत को मैने राजा का पद दिया है, **''राजा वो रक्षणेदक्षः स्थापितो भरतो मया।''** तुम भरत राजा की सेवा करना। भगवान् ने एक बार पहले सर्वतोभद्र नरेन्द्र भवन परित्याग करते समय बन्धु वर्ग से पूछ लिया था, फिर भी उन जगत् पिता ने सर्व इष्ट जनों को धैर्य देते हुए पुनः अनुज्ञा प्राप्त की।

उस वन में चन्द्रकान्तमणि की शिला देवों ने पहले से ही रख दी थी। इन्द्राणी ने अपने हाथों से रत्नों को चूर्णकर उस शिला पर चौक बनाया। उस पर चन्दन के मांगलिक छींटे दिए गए थे। उस शिला के समीप ही अनेक मंगल द्रव्य रखे थे। भगवान् उस शिला पर विराजमान हो गए थे। आसपास देव, मनुष्य, विद्याधरादि उपस्थित थे।

भगवान् ने वस्त्र, आभूषणादि का परित्याग किया। उस त्याग में आत्मा, देवता तथा सिद्ध भगवान् साक्षी थे। महापुराण में लिखा है–

''तत् सर्वं विभूरत्याक्षीत् निर्व्यापेक्षं त्रिसाक्षिकम्''॥१६-१९९॥

भगवान् ने अपेक्षा रहित होकर त्रिसाक्षी पूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया।

४३. केशलोंच–अनंतर भगवान् ने पूर्व की ओर मुख करके पद्मासन होकर सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार किया और पञ्चमुष्ठि केशलोंच किया। पञ्च अंगुलि निर्मित मुष्टि के द्वारा सम्पादित केशलोंच करते हुए वे पञ्चमगति को प्रस्थान करने को उद्यत परम पुरुष द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव रूप पञ्च परावर्तनों का मूलोच्छेद करते हुए प्रतीत होते थे।

तीर्थंकर भगवान् के दाढ़ी–मूँछ नहीं होते। वे सदा सोलह वर्ष की अवस्था वाले पुरुष के समान सुशोभित होते हैं, इसलिए भगवान् केवल शिर के केशों का ही पञ्च मुष्ठियों से लोच करते हैं। कहा भी है–

देवावि णारयाविय भोगभुवा चक्कि-जिणवरिंदाणं।
सव्वे केसव-राम-कामावि ण कुंचियां हुंति॥

अर्थात्-चतुर्णिकाय के देव, नारकी जीव, भोगभूमियाँ, चक्रवर्ती, तीर्थंकर, नारायण, बलभद्र और कामदेव के मुख पर दाढ़ी-मूँछों के बाल नहीं होते हैं।

भावार्थ—इन सबकी हमेशा नवयौवन अवस्था बनी रहती है। उन सबके केश शोभारूप उत्पन्न होते हैं और शोभा रूप ही बढ़ते हैं। इसलिए उनके क्षौर कर्म (बाल बनवाना) नहीं होता है।

एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि तीर्थंकरों के मुख पर दाढ़ी-मूँछ के बाल माने जाये तो उनकी प्रतिमाओं में भी दाढ़ी-मूँछ के बाल मानने पड़ेंगे परन्तु ऐसा है नहीं, इसलिए तीर्थंकरों के दाढ़ी-मूँछ का अभाव समझना चाहिए। कहा भी है-

केशादिरोमहीनांगं श्मश्रुरेखाविवर्जितम्।
स्थितं प्रलम्बितहस्तं श्रीवत्साढ्यं दिगम्बरम्॥

अर्थात् प्रतिमायें ऐसी होनी चाहिए जिन पर केशादि रोम न हों, दाढ़ी-मूँछ के बाल न हों खड्गासन हो, हाथ लटकते हों, श्रीवत्स का चिह्न हों और दिगम्बर हों।

४४. मौनव्रत का रहस्य—केशलोंच के बाद अब ये प्रभु सचमुच में महामुनि, महामौनी, महाध्यानी, महादम, महाक्षम, महाशील, महायज्ञ वाले तथा महामख बन गए -

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः।
महाक्षमः महाशीलो महायज्ञो महामखः ॥१॥

इन महामुनि प्रभु का मौन अलौकिक है। इनका मौन अब केवलज्ञान की उपलब्धि तक रहेगा। इनकी दृष्टि बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् की ओर पहुँच चुकी है। इसलिए राग उत्पन्न करने की असाधारण परिस्थिति आने पर भी इन्होंने वीतराग वृत्ति को निष्कलंक रखा। इनके चरणानुरागी चार हजार राजाओं ने इनका अनुकरण कर दिगम्बर मुद्रा धारण की थी। परीषहों को सहने में असमर्थ होकर वे राजा भ्रष्ट होने लगे और भी विशिष्ट परिस्थितियाँ समक्ष आईं। दुर्बल मनोवृत्ति वाला मानव ऐसे प्रसंगों पर मोह के चक्कर में फँसे बिना न रहता, किन्तु ये जिनेन्द्र महामौनी ही रहे आए।

सभी तीर्थंकर दीक्षा लेने के पश्चात् मौन व्रती रहते हैं। यदि ऐसा कठिन महाव्रत न होता तो भगवान् ऋषभनाथ सहदीक्षित चार हजार राजाओं को क्षुधादि की पीड़ा सहन करने में असमर्थ होकर धर्म मार्ग को छोड़ते समय उनका स्थितिकरण अवश्य करते, यदि आदिनाथ भगवान् का मौन न रहता तो आहार देने की विधि उनसे ज्ञात की जा सकती थी। इस सम्पूर्ण सामग्री को ध्यान में रखने से श्रेष्ठ तपस्या में उद्यत तीर्थंकरों को मौनी मानना उचित है, अनुभव तथा तर्क संगत है।

योगविद्या के अन्तस्तत्त्व को न जानने वाले भगवान् के मौन का रहस्य नहीं जान पाते। उसके मर्म को अवगत करने वाले पूज्यपाद महर्षि समाधिशतक में कहते हैं–

जनेभ्योवाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

लोक संसर्ग होने पर वचन प्रवृत्ति होती है। उससे मानसिक विकल्प उत्पन्न होते हैं। इससे चित्त में विभ्रम होता है। इससे स्वसंवेदन (स्वानुभव) में संलग्न श्रेष्ठ संयमी जनसंसर्ग का त्याग करे।

पूज्यपाद स्वामी की वाणी द्वारा भगवान् की लोकोत्तर वीतराग वृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। भगवान् अध्यात्म के क्षेत्र में क्षण-क्षण में प्रगति करते जा रहे हैं। भगवान् घृणित पौद्गलिक देह का परित्याग कर चिन्मूर्ति मात्र रहना चाहते हैं। उनका लक्ष्य है विदेह बनना। इससे वे आत्मा में ही आत्मभावना करते हैं। इसका रहस्य समाधिशतक में इस प्रकार बताया गया है–

देहान्तर्गते बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

एक शरीर को छोड़कर अन्य देह धारण का बीज शरीर में आत्मभावना है। विदेही बनने का अर्थात् शरीर रहित बनने का मूल कारण आत्मा में आत्मभावना है।

४५. तीर्थंकरों के आश्रित पदार्थों की पूज्यता–देवों ने भगवान् के केशों को रत्नमय पिटारे में रखा तथा बड़े आदर पूर्वक उनको क्षीर समुद्र में क्षेपण किया। महापुराणकार, सर्ग १७ में कहते हैं–

महतां संश्रयान्नूनं यांतीज्यां मलिना अपि।
मलिनैरपि यत्केशैः पूजावाप्ताश्रितैः गुरुम् ॥२१०॥

महापुरुषों का आश्रय ग्रहण करने से मलिन व्यक्ति भी सम्मान को प्राप्त करते हैं। यह बात यथार्थ है, क्योंकि भगवान् के मस्तक का आश्रय पाने वाले मलिन केशों को भी देवों के द्वारा पूज्यता प्राप्त हुई।

वस्त्राभरणमाल्यानि यान्युन्मुक्तान्यधीशिना।
तान्यप्यनन्यसामान्यां निन्युरत्युन्नतिंसुराः॥२११॥

भगवान् ने वस्त्र, आभूषण तथा माला आदि का त्याग किया था। देवों ने उन सबकी भी असाधारण पूजा की थी।

जिस **वटवृक्ष** के नीचे भगवान् ने मुनि पदवी अंगीकार करते हुए निर्ग्रंथ दीक्षा ली थी वह वृक्ष आदर योग्य हो गया। आज भी वैदिक लोग उस वटवृक्ष को '**अक्षयवट**' मानकर आदर करते हैं।

महान् आत्माओं के जीवन से सम्बन्धित होने वाले छोटे तथा लघु पदार्थ भी गौरव को प्राप्त होते हैं। एकेन्द्रिय वृक्ष भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। केवलज्ञान का वृक्ष '**अशोक वृक्ष**' के रूप में

प्रातिहार्य रूप प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

वृक्ष तो सचेतन है। भूमि भी आदर की पात्र बनती है। महान् आत्माओं का प्रभाव अचिन्त्य है। उनसे सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति आदर का भाव व्यक्त करने के भीतर प्रभु के प्रति श्रद्धा भक्ति का भाव निहित है। यदि ऐसी दृष्टि न हो, तो फिर वही भक्ति लोकमूढ़ता का रूप धारण कर सम्यक्त्व की ज्योति को बुझा देती है। दृष्टि स्वच्छ तथा विमल होनी चाहिए।

जिस **चैत कृष्ण नवमी** के दिन भगवान् ऋषभनाथ तीर्थंकर ने समस्त परिग्रह को पाप सदृश निश्चय कर त्याग किया था तथा निर्ग्रंथ बने थे, वह दिन धन्य माना जाने लगा। सर्व साधन सम्पन्न जिन भगवान् का समस्त परिग्रह त्याग महान विशुद्धि का कारण होता है।

४६. दीक्षा वृक्षों की ऊँचाई—श्री महावीर स्वामी को छोड़ कर बाकी सब तीर्थंकरों के दीक्षा वृक्षों की ऊँचाई उनके शरीर से बारह गुनी अधिक समझना चाहिए। महावीर भगवान् का दीक्षा वृक्ष ३२ धनुष ऊँचा था।

४७. दानतीर्थ की प्रवृत्ति—लाभान्तराय का क्षयोपशम होने पर विवेक, विज्ञानादि सात गुणों से समलंकृत महाराज श्रेयांस ने राजभवन में अक्षय तृतीया को एक वर्ष, एक माह नव दिन के पश्चात् तीन लोक के नाथ आदिनाथ प्रभु को इक्षुरस का आहार दिया। प्रभु के कर कमल में पड़ती हुई इक्षु रस की धारा पुण्य की धारा सदृश प्रतीत होती थी। इस दान में विधि, द्रव्य, दाता, पात्र सभी श्रेष्ठ होने से यह उत्तम श्रेणी का पात्र दान माना गया। यद्यपि वह इक्षुरस मूल्य रहित था, इससे उसके देने से श्रेयांस महाराज को कोई उल्लेखनीय लोभ का त्याग नहीं करना पड़ा, फिर भी चक्रवर्ती भरतेश्वर ने महाराज श्रेयांस को महादान पति कहा है। महापुराणकार, सर्ग २० में कहते हैं–

ततो भरतराजेन श्रेयानप्रच्छि सादरम्।
महादानपते ब्रूहि कथं ज्ञातमिदं त्वया ॥१२६॥

उत्तम पात्र के दान की महिमा अवर्णनीय है। चक्रवर्ती भरत कहते हैं, हे श्रेयांस तुम दान तीर्थंकर हो। तुम महान् पुण्यवान हो।

''त्वं दानतीर्थंकृच्छेयान् त्वं महापुण्यभागसि'' ॥२०-१२८॥

४८. पञ्चाश्चर्य—देवताओं ने इक्षुधारा से स्पर्धा करते हुए आकाश से रत्नों की धारा पृथ्वी पर बरसाई थी। मंदसुगन्ध तथा शीतल पवन बहने लगी थी। दिव्यपुष्पों की वृष्टि हुई थी। जय-जय शब्द का उद्घोष हो रहा था। देवदुन्दुभि की मधुर ध्वनि हुई थी। इस प्रकार पञ्चाश्चर्य हुए थे। इस श्रेष्ठ पात्र दान के प्रभाव से दाता की देवताओं ने अभिषेक सहित पूजा की थी। हरिवंशपुराण, सर्ग ९ में कहा है–

अभ्यर्चिते तपोवृद्ध्यैः धर्मतीर्थंकरे गते।
दानतीर्थंकरं देवाः साभिषेकमपूजयन् ॥१९६॥

धर्म, तीर्थंकर वृषभदेव भगवान् की पूजा के पश्चात् तपोवृद्धि के हेतु प्रस्थान करने के अनंतर देवताओं ने दानतीर्थंकर महाराज श्रेयांस की अभिषेक पूर्वक पूजा की।

४९. तीर्थंकरों का सर्वप्रथम आहारदान और दान की महिमा—तीर्थंकर भगवान् के सर्व प्रथम आहारदान की बड़ी महिमा बताई गई है। हरिवंश पुराण में कहा है कि अजितनाथ आदि तेईस तीर्थंकरों ने तीसरे दिन प्रथम पारणा की है कि ''**तृतीये दिवसेऽन्येषां प्रथमा पारणायता**'' ॥ ६०-२३४॥ जिनेन्द्र भगवान् को प्रथम पारणा के दिन क्षीरादि निर्मित पदार्थों के दाता नररत्नों की सर्वत्र स्तुति की गई है। उत्तम पात्र का आहारदाता या तो उसी भव में मोक्ष को प्राप्त करता है या स्वर्ग का सुख भोग कर वह तीसरे भव में मुक्ति को पाता है। भगवान् को प्रथम बार आहार देने वाले व्यक्ति के भाव अवर्णनीय उज्ज्वलता प्राप्त करते हैं। इससे वह उत्तम दाता शीघ्र ही तप की शरण ग्रहण कर अपना उद्धार करता है। हरिवंशपुराण सर्ग ६० में कहा गया है—

तपःस्थिताश्च ते केचित्सिद्धास्तेनैव जन्मना।
जिनांते सिद्धिरन्येषां तृतीये जन्मनि स्मृताः ॥२५२॥

यह तो आध्यात्मिक श्रेष्ठलाभ है कि दाता मोक्ष को प्राप्त होता है। तत्काल दाता के भवन में अधिक से अधिक **साढ़े बारह करोड़** और कम से कम इसका हजारवाँ भाग अर्थात् १२५००० एक लाख पच्चीस हजार रत्नों की वर्षा होती है। सत्पात्र के दान की अपार महिमा है। पञ्चाश्चर्य सत्पात्र को आहार दान देने में ही प्राप्त होते हैं। इससे इसकी महत्ता इतर दानों की अपेक्षा स्पष्ट ज्ञात होती है। इसका कारण यह है कि आहारदान से वीतराग मुनियों की रत्नत्रय के परिपालन में विशिष्ट सहायक उनके पवित्र शरीर का रक्षण होता है। गृहस्थ स्वयं श्रेष्ठ तप नहीं कर पाता है, किन्तु अपने न्यायपूर्वक प्राप्त द्रव्य के द्वारा महाव्रती का सहायक बनता है। इस कारण पात्रदान द्वारा गृहस्थ के जीवनोपाय के षट्कर्मों अर्थात् असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और पशुपालन तथा चक्की, चूल्हा, बुहारी, उखली और पानी आदि पञ्चसूना क्रियाओं द्वारा अर्जित महान् दोषों का क्षय होता है।

५०. दूध को दूषित सोचना, यह दृष्टि विचार शून्य है—ऋषभनाथ भगवान् ने इक्षु रस लिया था, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। शेष तीर्थंकरों ने गोक्षीर से बनाये हुए श्रेष्ठ अन्न (खीर) का आहार किया था। कहा भी है—

आद्येनेक्षुरसो दिव्यः पारणायां पवित्रितः।
अन्यैर्गोक्षीरनिष्पन्नपरमान्नमलालसैः ॥६०-२३८॥

आजकल कई लोग नवयुग के वातावरण से प्रभावित होकर दूध को मांस सदृश दूषित सोचते

हैं। यह दृष्टि विचार शून्य है। दूध यदि सदोष होता तो परम दयालु सर्व परिग्रहत्यागी तथा समस्त सुखों का परित्याग करने वाले तीर्थंकर भगवान् उसको आहार में क्यों ग्रहण करते? मधुर होते हुए भी मधु को, नवनीत आदि को जीव दया के विघातक होने से जैसे जिनागम में त्याज्य कहा है, उसी प्रकार वे त्रिकालदर्शी महापुरुष जिनेन्द्र दूध को भी त्याज्य कह देते। दूध दुहने के बाद अंतर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट के भीतर उसे उष्ण करने से वह निर्दोष हो जाता है, ऐसा जैनाचार के ग्रन्थों में वर्णन है।

भगवान् को दूध में सदोषता ज्ञात होती तो वे तीर्थंकर भगवान् की मूर्ति के अभिषेक के लिए दूध का विधान क्यों करते? पद्मपुराण में भगवान् के जल, घृतादि के द्वारा अभिषेक का महत्त्व बताते हुए लिखा है–

अभिषेक जिनेन्द्राणां विधाय क्षीर धारया।
विमाने क्षीर धवले नाराणां जायते थुतिः॥

जो जिनेन्द्र भगवान् का दुग्ध की धारा द्वारा अभिषेक करते हैं, वे क्षीर सदृश धवल विमान में जन्म लेकर निर्मल दीप्ति को प्राप्त करते हैं।

हरिवंश पुराण में भी उक्त कथन का इस प्रकार समर्थन किया गया है–

क्षीरेक्षुरस धारोधै घृतदध्युदकादिभिः।
अभिषिञ्च्य जिनेन्द्रार्चा मर्चिता नृसुरासुरैः॥

क्षीर तथा इक्षुरस की धारा के प्रवाह द्वारा तथा घृत, दधि, जल आदि से जिनेन्द्रदेव की अभिषेक पूर्वक जो पूजा करता है, वह मनुष्यों तथा सुरासुरों द्वारा पूजित होता है।

दूध के विषय में आयुर्वेद शास्त्र कहता है कि भोजन पहले खल भाग रूप परिणत होता है। इसके पश्चात् वह रस रूपता धारण करता है। रस बनने के अनन्तर दूध का रक्त बनता है। धारोष्ण दूध को इसीलिए आयुर्वेद में महत्त्वपूर्ण कहा है कि वह तत्काल ही शरीर में जाकर रुधिररूप पर्याय को शीघ्र प्राप्त करता है। दूध को गोरस कहने से स्पष्ट होता है कि वह रसरूप पर्याय है। दूध के दुहने से गाय क्षीण नहीं होती, किन्तु रक्त के निकालने से उस जीव में क्षीणता आती है, वेदना की वृद्धि होती है। दूध के सेवन से सात्त्विक भावों का उदय होता है। रुधिर मांसादि सेवी नर राक्षस बन जाते हैं। दूध में मांस का दोष माना जाये, तो सभी मनुष्य मांसभक्षी व्याघ्र आदि की श्रेणी में आ जावेंगे, क्योंकि बिना दूध पिये बालक का प्रारम्भिक जीवन ही असंभव है। शरीर रचना की दृष्टि से मनुष्य की समानता शाक तथा फलभोजी प्राणियों के साथ है। मांसभक्षी निरंतर अशान्त, क्रूर, चंचल तथा दुष्ट स्वभाव वाले होते हैं, दूध के सेवन से ऐसी बात नहीं होती है।

जो दूध को सदोष सोचते हैं, वे पानी भी नहीं पी सकते? पानी में जलचर जीवों का सदा

निवास रहता है। उनका जन्म-मरण उसी के भीतर होता रहता है। उनका मलमूत्रादि भी उसके भीतर हुआ करता है, फिर भी लोक जल को पवित्र मानते हैं। इसी प्रकार गतानुगतिकता या अंध परम्परा का त्याग कर यदि मनुष्य मस्तिष्क अनुभव तथा सद्विचार से काम लेगा, तो उसे शुद्ध साधनों द्वारा प्राप्त, मर्यादा के भीतर उष्ण किया गया तथा सावधानी पूर्वक शुचिता के साथ सुरक्षित किया गया दूध अभक्ष्य कोटि के योग्य नहीं दिखेगा। यह देखकर आश्चर्य होता है कि सरासर अशुचि भोजन पान को करते हुए मांसाहार दोष के दोषी लोग अहिंसात्मक प्रवृत्ति वालों के उज्ज्वल कार्यों को भी सकलंक सोचते हैं। उन्हें रात्रिभोजन में दोष नहीं दिखता, अनछने जल के पीने में संकोच नहीं होता। अशुद्ध आहार आदि के भक्षण करने में तथा मधु सेवन करने में निर्दोषता दिखती है। मधु की एक बिन्दु भक्षण करने में सात गाँवों के ध्वंस बराबर जीव घात का पाप लगता है, किन्तु ये उसे निर्दोष, बलदायक मानकर बिना संकोच के सेवन करते हैं और अपने को अहिंसा व्रती सोचते हैं। अहिंसा के क्षेत्र में अंतिम प्रामाणिक निर्णय दाता के रूप में जिनेन्द्र की वाणी की प्रतिष्ठा है। उस जिनागम के प्रकाश में दूध के विषय में अभक्ष्यता का भ्रम दूर करना चाहिए। वैसे रसपरित्याग व्रती घी, दूध आदि का त्याग इन्द्रियजय की दृष्टि से किया करते हैं।

५१. केवलज्ञान कल्याणक—महापुराण में लिखा है कि जब जिनेन्द्र देव ने घातिया कर्मों पर विजय प्राप्त की तब संसार भर में शान्ति छा गई। सुरलोक में शीघ्र ही विविध चिह्नों द्वारा केवलज्ञान कल्याणक का समय है, यह समाचार पहुँच गया। कल्पवासियों के विमानों में घंटानाद, ज्योतिषी देवों के यहाँ सिंहनाद, व्यन्तरों के यहाँ भेरीनाद तथा भवनवासियों के यहाँ शंखध्वनि होने लगी। इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो गए। आचार्य कहते हैं-

विष्टराण्यमरेशानामशनैः प्रचकंपिरे।
अक्षमाणीव तद्गर्वं सोढुं जिनजयोत्सवे ॥२२-६॥

उस समय समस्त इन्द्रों के आसन भी शीघ्र ही कम्पायमान हो गए थे, मानो जिनेन्द्र देव को घातिया कर्मों के जीत लेने से जो गर्व हुआ था, उसे वे सहन करने के लिए असमर्थ होकर ही कम्पायमान होने लगे थे।

कल्पवृक्षों से पुष्पों की वर्षा हो रही थी मानों भगवान् को वे पुष्पोपहार अर्पण कर रहे हों। दिशाएँ निर्मल हो गई थीं। आकाश मेघों से रहित हो गया था, मंद सुगंध तथा शीतल पवन बह रही थी।

इन्द्र ने आनन्दित होकर जिनेन्द्रदेव की परोक्ष वन्दना की। तदनन्तर नागदत्त नाम के आभियोग्य जाति के देव ने ऐरावत हाथी का आकार बनाया था। उस पर सौधर्मेन्द्र ने तथा ईशानेन्द्र ने अपनी अपनी शची के साथ आरूढ़ होकर प्रस्थान किया था। इसी तरह सब देव अपने अपने विमान में बैठकर चलते हैं। इन्द्र की आज्ञानुसार कुबेर समवसरण की रचना करता है। देवों के अद्भुत कौशल तथा

तीर्थंकर प्रकृति के निमित्त से आदिनाथ भगवान् का बारह योजन विस्तार वाला समवसरण सौन्दर्य, वैभव तथा श्रेष्ठ कला का अद्‌भुत केन्द्र था। समवसरण में पहुँच कर इन्द्र तीर्थंकर प्रभु को नमस्कार करते हुए उनकी स्तुति करता है और अष्टद्रव्यों से पूजा करता है। भगवान् समवसरण के बारह प्रकार की सभा में उपस्थित सब जीवों को समझने योग्य धर्मोपदेश अपनी दिव्यध्वनि से देते है। इस उत्सव को केवलज्ञान कल्याणक कहते हैं।

५२. केवली भगवान् पृथ्वी से पाँच हजार धनुष ऊँचे आकाश में क्यों रहते हैं?

समाधान—त्रिलोक प्रज्ञप्ति में लिखा है कि केवलज्ञान उत्पन्न होने पर केवली का परम औदारिक शरीर पृथ्वी से पाँच हजार धनुष अर्थात् बीस हजार हाथ प्रमाण ऊँचा चला जाता है।

जादे केवलणाणे परमोरालं जिणाणसव्वाणं।
गच्छदि उवरिं चाव पंचसहस्साणि वसुहाओ॥४-७१०५॥

केवलज्ञान होने पर भगवान् का दस हजार गज की ऊँचाई पर निवास होने से बहुत से अन्य धर्मियों को उनके दर्शन का लाभ नहीं मिलता। मिथ्यात्व कर्म के उदयवश उन जीवों के भाव प्रभु के दर्शन के नहीं होते। यही कारण है कि जब वीर प्रभु का समवसरण विपुलाचल पर्वत पर राजगिरि नगर में आया था तब भी गौतम बुद्ध ने सर्वज्ञ प्रभु के दर्शन का लाभ नहीं लिया। इससे वह एकान्त पक्ष के पङ्क से दूर नहीं हो सके।

५३. तीर्थंकरों का समवसरण—ऋषभनाथ तीर्थंकर का समवसरण द्वादश योजन विस्तार युक्त था। शेष अजितनाथ से लेकर २२ वें नेमिनाथ तीर्थंकरों का क्रमशः आधा आधा योजन कम विस्तार वाला समवसरण था। निर्वाण भक्ति में कहा है कि पार्श्वनाथ भगवान् का समवसरण सवा योजन और वीर भगवान् का समवसरण एक योजन विस्तार युक्त था।

समवसरणमानं योजनं द्वादशादि।
जिनपति-यदु-यावद्योजनार्धार्धहानिः॥
कथयति जिनपार्श्वे योजनैकं सपादम्।
निगदित जिनवीरे योजनैकंप्रमाणम् ॥२९॥

तिलोयपण्णत्ति में कहा है कि यह कथन अवसर्पिणी काल की अपेक्षा है। उत्सर्पिणी काल में इसके विपरीत क्रम जानना चाहिए।

विदेहक्षेत्र के तीर्थंकरों की काय पाँच सौ धनुष प्रमाण हैं, अतः वहाँ के समवसरण की अवगाहना बारह योजन प्रमाण है "**बारस जोयणमेत्ता सा सयलविदेहकत्ताणं**" (४-७१८)

समवसरण की रचना का संक्षेप में परिचय इस प्रकार दिया गया है—

मानस्तंभाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिकाः पुष्पवाटी।
प्राकारो नाट्यशालाद्वितयमुपवनं वेदिकांतर्ध्वजाद्याः॥
शालः कल्पद्रुमाणां सुपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च।
प्राकाराः स्फाटिकोऽन्तर्नृसुरमुनिसभा पीठिकाग्रे स्वयंभूः॥ २३-१९२॥

समवसरण के बाहर सर्वप्रथम रत्नों की धूलि से निर्मित परकोट था, जिसे धूलिसाल कहते हैं। इस धूलिसाल के बाहर चारों दिशाओं में स्वर्णमय खंभों के अग्रभाग पर अवलंबित चार तोरणद्वार शोभायमान हो रहे थे। धूलिसाल के भीतर जाने पर कुछ दूरी पर चारों दिशाओं में एक एक मानस्तम्भ था। वे मानस्तम्भ महाप्रमाण के धारक थे। घंटाओं से घिरे हुए थे। चँवर तथा ध्वजाओं से शोभायमान थे।

उन मानस्तम्भों के मूल भाग में जिनेन्द्र भगवान् की सुवर्णमय प्रतिमाएँ विराजमान थीं, जिनकी इन्द्र लोग क्षीरसागर के जल से अभिषेक करते हुए पूजा करते थे। उन मानस्तम्भों के मस्तक पर तीन छत्र फिर रहे थे। इन्द्र के द्वारा बनाये जाने के कारण उनका दूसरा नाम '**इन्द्रध्वज**' भी रूढ़ हो गया था। प्रत्येक मानस्तम्भ के चारों ओर सरोवर थे, फिर निर्मल जल से पूर्ण परिखा थी। पश्चात् पुष्पवाटिका है। अनन्तर प्रथम कोट है, पश्चात् दो-दो नाट्यशालाएँ है। उसके आगे दूसरा अशोक आदिका वन हैं। उसके आगे वेदिका है, तदनन्तर ध्वजाओं की पंक्तियाँ हैं।

इनके पश्चात् दूसरा कोट है। पश्चात् वेदिका सहित कल्पवृक्षों का वन है। इसके बाद स्तूप है फिर भवन पंक्तियाँ हैं।

इसके अनन्तर स्फटिक मणिमय तीसरा कोट है। उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों आदि की बारह सभायें हैं। तदनन्तर पीठिका है और पीठिका के ऊपर स्वयंभू भगवान् अरहंत देव विराजमान हैं।

हरिवंशपुराण में लिखा है कि तीर्थंकरों की समवसरण सभा जमीन से ५००० (पाँच हजार) धनुष ऊँचाई पर रह कर २०,००० (बीस हजार) सुवर्णमय सीढ़ियों सहित अत्यन्त सुन्दर इन्द्र की आज्ञानुसार कुबेर द्वारा रचित रहती है। उस समवसरण में निम्न प्रकार ११ भूमियाँ रहती हैं- १. चैत्यभूमि, २. खातिकाभूमि, ३. लताभूमि, ४. उपवनभूमि, ५. ध्वजाभूमि, ६. कल्पांगभूमि, ७. गृहभूमि, ८. सद्गणभूमि, ९, १० और ११ ये तीन पीठिका रूप केवली भगवान् के समवशरण में ध्वजा स्थान के आगे सहस्रस्तम्भों के ऊपर रहने वाले 'मनोहर' नाम के मण्डप के परिवार मण्डप में तीन पीठ भूमि की तीन मेखला अर्थात् तीन कटनी युक्त प्रदेश में ऐसा जो सिंहासन रहता है, उस पर विराजमान होकर '**भगवान्**' उपदेश देते हैं।

भगवान् का मुख उत्तर दिशा अथवा पूर्व दिशा की ओर रहा करता है। तीर्थंकर प्रभु का यह परम अतिशय है कि चारों दिशाओं में भगवान् का दर्शन होता है। वास्तव में उनका मुख चारों ओर नहीं

होता है।

५४. समवसरण के स्तूप—समवसरण में जो स्तूप बतलाए गए हैं, उनमें प्रत्येक स्तूप के मध्य भाग में मगर के आकार युक्त सौ-सौ तोरण रहते हैं। इन स्तूपों की ऊँचाई अपने चैत्यवृक्ष की ऊँचाई के समान रहती है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति में कहा है–

दीहत्तरूंहमाणं ताणं संपइ पणट्ठ उवएसं।
भव्वा अभिसेयच्चणपदाहिणं तेसु कुव्वंति ॥४-८४७॥

अर्थात्–स्तूपों की ऊँचाई और विस्तारादि के प्रमाणों का (आधार) कथन साम्प्रत उच्छिन्न हो गया है। भव्य जीव इन स्तूपों का अभिषेक, पूजन और प्रदक्षिणा करते हैं। इस विषय में ऐसा भी कहा है कि भव्य जीवों को मात्र इनका दर्शन होता है, अभव्यों को नहीं होता है। इस विषय में हरिवंशपुराण में कहा है–

भव्यकूटाश्रयाःस्तूपा भास्वत्कूटास्ततोऽपरे।
यानभव्या न पश्यन्ति प्रभावांधीकृतेक्षणाः ॥५७-१०४॥

अर्थात्–एक भव्यकूट और दूसरा भास्वत्कूट इस तरह स्तूपों के दो प्रकार कहे गए हैं। इनके प्रभाव से जिनकी आँखें अंधी हो जाती है, उनके प्रखर तेज जिनकी आँखों को सहन नहीं होता है। ऐसे अभव्य लोगों को समवसरण का दर्शन नहीं हो सकता है अर्थात् इन स्तूपों को अभव्य लोग नहीं देख सकते हैं।

५५. समवसरण की ८ वीं सद्गणभूमि—भगवान् के समीप तो द्वादश सभाओं में भव्य जीव बैठकर दिव्यध्वनि सुनते हैं, उन सभाओं का क्रम इस प्रकार है–१. समवसरण के मध्य भाग में बैठे हुए सर्वज्ञ वीतराग अर्हद् भट्टारक की दाहिनी बाजू में गणधर देव आदि सात प्रकार के मुनिराज बैठते हैं। २. दूसरे कोठे में कल्पवासिनी देवियाँ। ३. तीसरे में आर्यिकायें तथा मनुष्य स्त्रियाँ। ४. चौथे में ज्योतिषी देवों की देवियाँ। ५. पाँचवें में व्यन्तरवासी देवियाँ। ६. छठवें में भवनवासिनी देवियाँ। ७. सातवें में भवनवासी देव। ८. आठवें में व्यन्तरदेव। ९. नवमें में ज्योतिष्कदेव। १०. दशवें में कल्पवासीदेव। ११. ग्यारहवें में मनुष्य, चक्रवर्ती, मांडलीकादि नरेश, विद्याधरादि पुरुष बैठते हैं। १२. बारहवें कोठे में पशु-सिंह, मृग, हाथी, घोड़ा, मयूर, सर्प, बिल्ली, चूहा आदि तिर्यञ्च योनिज जीव परस्पर का वैर छोड़कर एक ही स्थान में प्रेम से बैठते हैं।

५६. समवसरण की ९,१० और ११ वीं पीठिका रूप भूमि—इस रत्नमय भूमि में श्रीमण्डप है। वह रत्नमय स्तंभों पर अवस्थित है। उसका ऊपरी भाग स्फटिक मणियों से निर्मित था। वह श्रीमण्डप वास्तव में श्रीमण्डप था क्योंकि वहाँ पर ही परमेश्वर भगवान् वृषभदेव ने मनुष्य, सुर और असुरेन्द्रों के समीप त्रिलोक की श्री (लक्ष्मी) को स्वीकार किया था। जिनसेनस्वामी का यह पद्य

कितना मधुर है–

सत्यं श्रीमण्डपः सोऽयं यत्रासौ परमेश्वरः।
नृ-सुरासुरसान्निध्ये स्वीचक्रे त्रिजगच्छ्रियम् ॥२२-२८१॥

इस श्रीमण्डप के ऊपर यक्ष देवों के द्वारा छोड़े गए पुष्प बड़े प्रिय लगते थे। इस मण्डप के विषय में महापुराणकार कहते हैं–

योजनप्रमिते यस्मिन् सम्ममर्नृसुरासुराः।
स्थिताः सुखमसम्बाधमहोमाहात्म्यमीशितुः॥२२-२८६॥

अहो जिनेन्द्र भगवान् का यह कैसा अद्भुत माहात्म्य था कि एक योजन लम्बे-चौड़े उस श्री मण्डप में समस्त मनुष्य, सुर तथा असुर एक दूसरे को बाधा न देते हुए सुख से बैठ सकते थे।

उस मण्डप से घिरे हुए क्षेत्र के मध्य भाग में वैडूर्यमणि की बनी हुई प्रथम पीठिका बड़ी प्रिय लगती थी। उस पीठिका पर स्थित अष्टमंगल द्रव्य और यक्षों के ऊँचे-ऊँचे मस्तकों पर स्थित धर्मचक्र उदयाचल से उदित होते हुए सूर्यबिम्ब सदृश लगते थे। उस प्रथम पीठिका पर द्वितीय पीठ था, जिस पर चक्र, गज, वृषभ, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड़ तथा माला के चिह्न से युक्त आठ दिशाओं में आठ बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ शोभायमान होती थीं। दूसरे पीठ पर तीसरा पीठ था। जो सर्व प्रकार के रत्नों से बना हुआ था। इस प्रकार तीन कटनीदार पीठ के ऊपर जिनेन्द्र भगवान् इस प्रकार शोभायमान होते थे कि जिस प्रकार तीनों लोक के शिखर पर सिद्ध भगवान् शोभायमान होते हैं।

कुबेर ने तीसरी पीठ के मस्तक पर अत्यन्त मनोरम गंधकुटी बनाई थी। चारों ओर लटकते हुए बड़े-बड़े मोतियों की झालर से वह गंधकुटी ऐसी शोभायमान होती थी मानों समुद्रों ने उसे मोतियों का उपहार ही भेंट किया हों। चारों ओर फैलते हुए रत्नों के प्रकाश से वह गंधकुटी बड़ी रमणीय लगती थी। सब दिशाओं में फैलती हुई सुगन्धि से वह ऐसी मालूम पड़ती थी मानों सुगन्ध से बनी हो। जिनेन्द्र भगवान् के शरीर की सुगन्धी से बढ़ी हुई धूप की मधुर गंध से सब दिशाएँ सुगंधित हों गई थीं, इसलिए उसका नाम सार्थक प्रतीत होता था।

कुबेर ने गन्धकुटी के मध्य में एक रत्नों से जड़ा हुआ सुन्दर सिंहासन बनाया था। भगवान् ऋषभदेव उस सिंहासन को अलंकृत कर रहे थे। वे प्रभु अपने माहात्म्य से उस सिंहासन के तल से चार अंगुल ऊँचे अधर विराजमान थे। कहा भी है–

बिष्टरं तदलंचक्रे भगवानादितीर्थकृत।
चतुर्भिरंगुलैः स्वेन महिम्नास्पृष्टतत्तलः ॥२३-२०॥

५७. समवसरण की अवगाहना—तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि एक-एक समवसरण में पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण विविध प्रकार के जीव जिन भगवान् के वन्दनार्थ प्रवृत्त होते हुए

स्थित रहते हैं।

कोठों के क्षेत्रफल की अपेक्षा जीवों का क्षेत्रफल असंख्यातगुणा ज्यादा है तो भी सब जीव जिनदेव के माहात्म्य से परस्पर में अड़चन न होते हुए आपस में अस्पृष्ट अर्थात् अलग-अलग बैठे हुए रहते हैं।

कोट्ठाणं खेत्तादो जीवक्खेत्तंफलं असंखगुणं।
होदूण अपुट्ठत्ति हु जिणमाहप्पेण ते सव्वे ॥४-१३०॥

५८. समवसरण में कौन-कौन से जीव होते हैं? समाधान–मुनिसुव्रत काव्य में कहा है कि उन जिनेन्द्रदेव की धर्मसभा में अभव्य जीव, मिथ्यादृष्टि सासादन गुणस्थान वाले तथा मिश्रगुणस्थान वाले जीव नहीं रहते थे। द्वादश सभाओं में निर्मल चित्त वाले भव्यजीव ही बद्धांजलि होकर जिनेन्द्रदेव के समक्ष रहते थे। कहा भी है–

मिथ्यादृशः सदसि तत्र न संति मिश्राः।
सासादनाः पुनरसंज्ञिवदप्यभव्याः॥
भव्याः परं विरचितांजलयः सुचित्ताः।
तिष्ठंति देववदनाभिमुख गणोऽपि ॥१०-४६॥

इस विषय में तिलोयपण्णत्ति का यह कथन ध्यान देने योग्य है–जिन भगवान के माहात्म्य से बालक आदि जीव समवसरण में प्रवेश करने या निकलने में अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर असंख्यात योजन चले जाते हैं।

इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते है। अनध्यवसाय से युक्त, संदेह युक्त और विविध प्रकार की विपरीतताओं ये युक्त जीव भी नहीं होते हैं।

इसके सिवाय वहाँ पर आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, वैर, काम बाधा, प्यास तथा क्षुधा की पीड़ाएँ नहीं होती हैं। यह सब अर्हद्भट्टारक की महिमा समझनी चाहिए (देखो गाथा ९३१,९३२,९३३ अ० ४) मुनिसुव्रत काव्य का यह कथन महत्त्वपूर्ण हैं–

स्त्रीबालवृद्धनिवहोपि सुखं सभां तामन्तर्मुहुर्तसमयांतरतः प्रयाति।
निर्यातिच प्रभुमाहात्म्यतयाश्रितानां निद्रामृतिप्रसवशोकरुजादयो न ॥१०-४५॥

स्त्री, बालक तथा वृद्ध सबका समुदाय उस समवसरण सभा में अंतर्मुहूर्त में ही सुखपूर्वक आता जाता था। श्री जिनेन्द्रदेव के प्रसाद से समवसरण का आश्रय ग्रहण करने वाले जीवों को निद्रा, मरण, प्रसव, शोक तथा रोगादिक नहीं होते थे।

५९. केवलज्ञान के दस अतिशय गुण–घातिया कर्मों का क्षय करने से तीर्थंकर भगवान् के निम्नलिखित दस अतिशय होते हैं–

गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षता गगनगमनमप्राणिवधः।
भुक्त्युपसर्गाभावश्चतुरास्यत्वं च सर्वविद्येश्वरता ॥३॥
अच्छायत्वमपक्ष्मस्पंदश्च समप्रसिद्धनखकेशत्वं।
स्वतिशयगुणा भगवतो घातिक्षयजा भवन्तितेऽपि दशैव ॥४॥

१. चार सौ कोस भूमि में सुभिक्षता—श्लोक में आगत गव्यूति का अर्थ आचार्य प्रभाचन्द्र ने एक कोस '**गव्यूतिः कोशमेकं**' किया है। तीर्थंकरदेव के दयामय प्रभाव से सभी जीव संतुष्ट, सुखी तथा स्वस्थता सम्पन्न होते हैं। इन जिनेन्द्रदेव के आत्म प्रभाव से वनस्पति आदि की परिपूर्णता स्वयमेव प्राप्त होने से पृथ्वी धनधान्य से परिपूर्ण हो जाती है। श्रेष्ठ अहिंसामय एक आत्मा का यह प्रभाव है। इससे यह अनुमान स्वयं निकाला जा सकता है कि पापी तथा जीववध में तत्पर रहने वालों के चारों ओर दुर्भिक्षता आदि का प्रदर्शन रोती हुई दुःखी पृथ्वी के प्रतीक रूप प्रतीत होता है। तात्पर्य चारों तरफ सौ-सौ योजन तक पृथ्वी धन-धान्यादि से पूर्ण रहती है।

२. गगनगमन—अर्थात् आकाश में अधर गमन करना। योग के कारण भगवान् के शरीर में विशेष हलकापन आ जाता है कि उनको शरीर की गुरुता के कारण भूतल पर अवस्थित नहीं होना पड़ता है। पक्षियों में भी गगनगमनता पाई जाती है, किन्तु इसके लिए पक्षियों को अपने पंखों का संचालन करना पड़ता है। केवली भगवान् का शरीर स्वयमेव पृथ्वी का स्पर्श नहीं करके आकाश में रहता है। उनका गगनगमन देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि इतर संसारी जीवों के समान अब ये योगीन्द्र चूड़ामणि भूतल के भार स्वरूप नहीं हैं।

३. अप्राणिवध—अर्थात् अर्हन्त के प्रभाव से उनके चरण समीप आने वाले जीवों को अभय अर्थात् जीवन प्राप्त होता है। तीर्थंकर भगवान् अहिंसा के देवता हैं। उनके समीप में हिंसा के परिणाम भाग जाते हैं और क्रूर प्राणी भी करुणा की मूर्ति बन जाता है। क्रूरता का उदाहरण रौद्र मूर्ति सिंह सिंहासन के बहाने से इन दया के देवता को अपने ऊपर धारण करता हुआ प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में उत्तर पुराण की यह उत्प्रेक्षा बड़ी भव्य तथा मार्मिक प्रतीत होती है। चन्द्रप्रभ भगवान् के सिंहासन को दृष्टि में रखकर आचार्य कहते हैं–

क्रौर्यधुर्येण शौर्येण यदंहः संचितं परम्।
सिंहो हन्तुं स्वजातेर्वाव्यूढं तस्यासनं व्यघात् ॥५४-२३४॥

उन चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र का सिंहासन ऐसा शोभायमान होता था, मानो क्रूरता प्रधान पराक्रम के द्वारा संचित पापों के क्षय के हेतु वे सिंह उनके आसन में लग गए हों।

४. भुक्त्यभाव—केवली भगवान् के कवलाहार (ग्रासरूप आहार) का अभाव पाया जाता है। उनकी आत्मा का इतना विकास हो चुका है, कि स्थूल भोजन द्वारा उनके दृश्यमान देह का संरक्षण

अनावश्यक हो गया है। अब शरीर रक्षण के निमित्त बल प्रदान करने वाले सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का आगमन बिना प्रयत्न के हुआ करता है।

५. उपसर्गाभाव—भगवान् के घातिया कर्मों का क्षय होने से उपसर्ग का बीज बनाने वाला असातावेदनीय कर्म शक्ति शून्य बन जाता है। इसलिए केवलज्ञान की अवस्था में भगवान् पर किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं होता। यह ध्यान देने योग्य बात है, कि जब प्रभु के शरण में आने वाला जीव यम के प्रचण्ड प्रहार से बच जाता है, तब उन जिनेन्द्र पर दुष्ट व्यन्तर क्रूर मनुष्य तथा हिंसक पशुओं द्वारा संकट का पहाड़ पटका जाना नितांत असंभव है। जो लोग भगवान् पर उपसर्ग होना मानते हैं, वे वस्तुतः उनके केवलज्ञानी होने की अलौकिकता को बिल्कुल भुला देते हैं।

६. चतुरास्यत्व—अर्थात् चारों तरफ प्रभु के मुख का दर्शन होना-समवसरण में भगवान् का मुख पूर्व या उत्तर दिशा की ओर रहता है, किन्तु उनके चारों ओर बैठने वाले बारह सभाओं के जीवों को ऐसा दिखता है कि भगवान् के मुख चारों दिशाओं में ही हैं। अन्य सम्प्रदाय में जो ब्रह्मदेव को चतुरानन कहने की पौराणिक मान्यता है कि उसका वास्तव में मूल बीज परम ब्रह्म रूप सर्वज्ञ जिनेन्द्र के आत्म तेज द्वारा समवसरण में चारों दिशाओं में पृथक्-पृथक् रूप से प्रभु के मुख का दर्शन होता है।

७. सर्वविद्येश्वरता—भगवान् सर्वविद्या के ईश्वर कहे जाते हैं, क्योंकि वे सर्व पदार्थों को ग्रहण करने वाली कैवल्यज्योति से समलंकृत हैं। द्वादशांग रूप विद्या को आचार्य प्रभाचन्द्र ने सर्वविद्या शब्द के द्वारा ग्रहण किया है। उस विद्या के मूल जनक ये जिनराज प्रसिद्ध हैं। टीकाकार के शब्द ध्यान देने योग्य है। "**सर्वविद्येश्वरता सर्वविद्या द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणि तासां स्वामित्वं। यदि वा सर्वविद्या केवलज्ञानं तस्या ईश्वरता स्वामिता**" (क्रियाकलाप, पृ० २४७, नन्दीश्वर भक्ति)

८. अच्छायत्व—अर्थात् शरीर की छाया नहीं पड़ना-श्रेष्ठ तपश्चर्या रूप अग्नि में भगवान् का शरीर तप्त हो चुका है। केवली बनने पर उनका शरीर निगोदिया जीवों से रहित हो गया है। वह स्फटिक सदृश बन गया है, मानो शरीर भी आत्मा की निर्मलता का अनुकरण कर रहा है। इससे भगवान् के शरीर की छाया नहीं पड़ती है। राजवार्तिक में प्रकाश को आवरण करने वाली छाया है- "**छाया प्रकाशावरणनिमित्ता**" (पृ० २३३) यह लिखा है। भगवान् का शरीर प्रकाश का आवरण न कर स्वयं प्रकाश प्रदान करता है। सामान्य मानव का शरीर नहीं हैं। जिस शरीर के भीतर सर्वज्ञ सूर्य विद्यमान है वह शरीर तो प्राची (पूर्व) दिशा के समान प्रभात में स्वयं प्रकाश परिपूर्ण दिखेगा। इस कारण भगवान् के शरीर की छाया न पड़ना, उनके कर्मों की छाया से विमुक्त निर्मल आत्मा के पूर्णतया अनुकूल प्रतीत होता है।

९. अपक्ष्मस्पन्दत्व—अर्थात् आँखों के पलकों का न हिलना-शरीर में शक्तिहीनता के कारण नेत्र पदार्थों को देखते हुए क्षण भर विश्रामार्थ पलक बन्द कर लिया करते हैं। अब वीर्यान्तराय कर्म

का पूर्ण क्षय हो जाने से ये जिनेन्द्र अनन्त वीर्य के समान बन गए हैं। इस कारण इनके पलकों में निर्बलता के कारण होने वाला बन्द होना, खोलना रूप कार्य नहीं पाया जाता है। दर्शनावरण कर्म का क्षय हो जाने से निद्राादि विकारों का अभाव हो गया है, अतः सरागी सम्प्रदाय के आराध्य देवों के समान इन जिनदेव को निद्रा लेने के लिए भी नेत्रों के पलकों को बन्द करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। स्वामी समन्तभद्र ने कहा है कि जगत् के जीव अपनी जीविका, कामसुख तथा तृष्णा के वशीभूत हो दिन भर परिश्रम से थक कर रात्रि को नींद लेते हैं, किन्तु जिनेन्द्र भगवान् सदा प्रमाद रहित होकर विशुद्ध आत्मा के क्षेत्र में जागृत रहते हैं। इस कथन के प्रकाश में भगवान् के नेत्रों के पलकों का न लगना उनकी श्रेष्ठ स्थिति के प्रतिकूल नहीं हैं।

१०. सम-प्रसिद्ध-नखकेशत्व–अर्थात् नख और केशों का नहीं बढ़ना-भगवान् के नख और केश वृद्धि तथा ह्रास शून्य होकर समान रूप में ही रहते हैं। प्रभाचन्द्राचार्य ने टीका में लिखा है – "**समत्वेन वृद्धि ह्रासहीनतया प्रसिद्धा नखाश्च केशाश्च यस्य देहस्य तस्य भावस्तत्वं**" (पृ० २४७) भगवान् का शरीर जन्म से ही असाधारणता का पुञ्ज रहा है। आहार करते हुए भी उनके नीहार का अभाव था केवली होने पर कवलाहार रूप स्थूल भोजन ग्रहण करना बन्द हो गया। अब उनके परम पुण्यमय देह में ऐसे परमाणु नहीं पाए जाते हैं जो नख और केश रूप अवस्था को प्राप्त करें। शरीर में मलरूपता धारण करने वाले परमाणुओं का अब आगमन ही नहीं होता। इस कारण नख और केश न बढ़ते हैं और न ही घटते हैं।

६०. तीर्थंकर के देवकृत चौदह अतिशय गुण उत्पन्न होते हैं–

१. सर्वार्धमागधी भाषा– हरिवंशपुराण में लिखा है–

अमृतस्येव धारां तां भाषां सर्वार्धमागधीं।
पिवन् कर्णपुटैर्जैनी ततर्प त्रिजगज्जनः ॥३-१६॥

जिनेन्द्र भगवान् की सर्वार्धमागधी भाषा को अमृत की धारा के समान कर्णपुटों से पान करते हुए त्रिलोक के जीव संतुष्ट हो रहे थे।

२. सम्पूर्ण विरोधी जीवों में भी आपस में मैत्री उत्पन्न हो गई थी। हरिवंशपुराण में लिखा हैं–

अन्योन्य-गंधमासोढुमक्षमाणामपि द्विषां।
मैत्री बभूव सर्वत्र प्राणिनां धरणीतले ॥३-१७॥

जो विरोधी जीव एक दूसरे की गंध भी सहन करने में असमर्थ थे, सर्वत्र पृथ्वी तल पर उन प्राणियों में मैत्री भाव उत्पन्न हो गया था।

जीवों में विरोध दूर होकर परस्पर में प्रीति भाव उत्पन्न करने में प्रीतिंकर नामक देव तत्पर रहते

थे।

३. दशों दिशाओं का निर्मल रहना—अर्थात् धुँआ, धूल और अंधेरा आदि रहित हो प्रसन्न दिखना।

४. आकाश निर्मल रहना—अर्थात् आकाश मेघ पटल रहित हो गया था।

५. वृक्षों में सब ऋतुओं के फल पुष्पादि का आना—पृथ्वी धान्यादि से सुशोभित हो गई थी। इस विषय में महापुराणकार कहते हैं–

परिनिष्पन्न-शाल्यादिसस्यसंपन्मही तदा।
उद्भूतहर्षरोमांचा स्वामिलाभादिवाभवत् ॥२५-२६६॥

भगवान् के विहार के समय पके हुए शालि आदि धान्यों से सुशोभित पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी कि मानो स्वामी का लाभ होने से उसे हर्ष के रोमाञ्च ही उठ आये हों।

६. एक योजन तक पृथ्वी का दर्पणवत् निर्मल रहना—अर्थात् देवगण पृथ्वी को रत्नमयी करते हैं उसको देखने से आँखों को और अंतःकरण को बहुत आनन्द आता है।

७. तीर्थंकर भगवान् के विहार करते समय चरणों के नीचे सुवर्ण कमलों का रहना—भगवान् के विहार करते समय सुगन्धित तथा प्रफुल्लित २२५ कमलों की रचना देवगण करते थे। उनके चरणों के नीचे एक, उनके आगे सात, पीछे सात, इस प्रकार पन्द्रह सुवर्णमय कमल थे। आकाशादि स्थानों में निर्मित सुवर्ण कमलों की संख्या २२५ कही गई है। महापुराणकार का वचन है–

यतो विजह्रे भगवान् हेमाब्जन्यस्तसत्क्रमः।
धर्मामृताम्बुसंवर्षैस्ततो भव्या धृतिं दधुः॥ २५-२८२॥

सुवर्णमय कमलों पर पैर रखने वाले भगवान् ने जहाँ-जहाँ से विहार किया वहाँ-वहाँ के भव्यों ने धर्मामृत रूप जल की वर्षा से परम संतोष धारण किया था।

८. आकाश में जय-जय ध्वनि होती थी।

९. मंद और सुगन्धित वायु बहना—प्रभु का विहार जिस तरफ होता था, उस ओर मन्द, सुगन्धित हवा चल रही थी।

१०. गंधोदक वृष्टि होना—मेघकुमार जाति के देवों के द्वारा गन्ध युक्त जल की वृष्टि होती थी।

११. भूतल दर्पणवत् स्वच्छ रहना—पवनकुमार जाति के देवों के द्वारा तीर्थंकरों के विहार करते समय सुगन्ध मिश्रित हवा चलती है। पृथ्वी, धूल, कंटक (कांटा), घास, पाषाण, कीटादि रहित होकर स्वच्छ रहती है।

१२. सम्पूर्ण जीवों को परम आनन्द प्राप्त होता था। हरिवंशपुराण में कहा है–

विहरत्युपकाराय जिने परमबांधवे।
बभूव परमानन्दः सर्वस्य जगतस्तदा ॥३-२१॥

परम बंधु जिनेन्द्रदेव के जगत् कल्याणार्थ विहार होने पर समस्त जगत् को परम आनन्द प्राप्त होता था।

१३. तीर्थंकर प्रभु के आगे धर्मचक्र चलना—भगवान् के आगे एक हजार आरे वाला तथा अपनी दीप्ति द्वारा सूर्य का उपहास करता हुआ धर्मचक्र शोभायमान होता था। हरिवंशपुराण में कहा है–

सहस्रारं हसद्दीप्त्या सहस्रकिरणद्युतिः।
धर्मचक्रं जिनस्याग्रे प्रस्थानास्थानयोरभात् ॥३-२९॥

तिलोयपण्णत्ति में धर्मचक्रों के विषय में इस प्रकार कहा है–

जक्खिंदमत्थएसुं किरणुज्जल दिव्व धम्म चक्काणि।
दट्ठुणं संठियाइं चत्तारि जणस्स अच्छरिया ॥४-९२२॥

यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित तथा किरणों से उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्मचक्रों को देखकर लोगों को आश्चर्य होता है।

१४. अष्टमंगल द्रव्यों का प्रभु के सामने रहना—ध्वजा सहित अष्ट मंगल द्रव्य सहित भगवान् का बिहार होता था।

६१. अष्ट मंगल द्रव्य—तीर्थंकर भगवान् के समवसरण की गंधकुटी के प्रथम द्वार पर ये अष्टमंगल द्रव्य सुशोभित होते हैं। ध्वजा सहित अष्टमंगल द्रव्य युक्त भगवान् का विहार होता था। उनके नाम–१. भृंगार (झारी), २. कलश, ३. दर्पण, ४. पंखा (तालव्यञ्जन–तालवृन्त), ५. ध्वजा, ६. चँवर ७. छत्र, ८. सुप्रतिष्ठ (स्वस्तिक–साथियाँ) ये आठ मंगल द्रव्य कहे गए हैं।

आदिपुराण पर्व २२ में लिखा है–

सतालमङ्गलच्छत्रचामरध्वजदर्पणः ।
सुप्रतिष्ठकं च भृंगारः कलशः प्रतिगोपुरम्॥ २९१॥

इसी प्रकार त्रिलोकसार में लिखा है–

गाथा– **भियार कलशदप्पणवीयणधयचामरादवत्तमहा।**
सुवइट्ठ मङ्गलाणि य अट्ठहियसयाणि पत्तेयं ॥९८९॥

सं. छा.– **भृङ्गारकलशदर्पणबीजनध्वजचामरातपत्रपथ।**
सुप्रतिष्ठमङ्गलानि चाष्टाधिकशतानि प्रत्येकम् ॥९८९॥

प्रत्येक मंगल द्रव्य की संख्या १०८ जानना चाहिए। (देखो तिलोयपण्णत्ति में महा अधिकार ४)

६२. तीर्थंकर प्रभु का विहार और कमलों की रचना -भगवान् के विहार के समय पुण्य सारथि के द्वारा प्रेरित अगणित देवों का समुदाय सर्व प्रकार की श्रेष्ठ व्यवस्था के निमित्त तत्पर था। विहार करते समय प्रभु के पुण्य चरणों के नीचे २२५ सुवर्ण के अत्यन्त मनोज्ञ कमलों की रचना देवों द्वारा होती जाती थी। नंदीश्वरभक्ति की संस्कृत टीका में आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है "**अष्टसु दिक्षु तदन्तरेषु चाष्टसु सप्तसप्त पद्मानि इति द्वादशोत्तरमेकंशत्। तथा तदन्तरेषु षोडशसु सप्त सप्तेति अपरं द्वादशोत्तरशतं पादन्यासे पद्मचेति पञ्चविंशत्यधिकं शतद्वयम्**" (क्रियाकलाप टीका, पृ० २४९, श्लोक ९)

आठ दिशाओं में (चारों दिशाओं तथा चार विदिशाओं में) तथा उनके अष्ट अंतरालों में सप्त-सप्त कमलों की रचना होने से एक सौ बारह कमल हुए। उन सोलह स्थानों के भी सोलह अंतरालों में पूर्ववत् सात-सात कमल इस प्रकार एक सौ बारह कमल और हुए। कुल मिलकर २२४ हुए। '**पादन्यासे च एकं**' चरणों के रखने के स्थान के नीचे एक कमल इस प्रकार २२५ कमलों की रचना होती है।

इस कथन पर विचार करने से यह विदित होता है कि भगवान् का विहार चारण ऋद्धि धारी मुनियों के सदृश पद्मासन मुद्रा से नहीं होता है। पैर के न्यास अर्थात् रखने के स्थान पर एक कमल होता है यहाँ '**न्यास**' शब्द महत्त्वपूर्ण है। यदि पद्मासन मुद्रा से गमन होता तो एक चरण के नीचे एक कमल की रचना का उल्लेख नहीं होता। पद्मासन नाम की विशेष मुद्रा से प्रभु का विहार नहीं होता है, किन्तु यह सत्य है कि प्रभु के चरण पद्मों को आसन बनाते हुए विहार करते हैं। पद्मासन से वे विहार नहीं करते, किन्तु पद्मासन पर अर्थात् पद्मरूपी आसन पर वे विहार करते हैं, यह कथन पूर्णतया सुसंगत है। सप्त पद्मों की रचना संभवतः सप्त परम स्थानों की प्रतीक लगती है। धर्म का आश्रय ग्रहण करने वाला सप्त परम स्थानों का स्वामित्व प्राप्त करता है। महापुराण में सप्त परम स्थानों के नाम इस प्रकार कहे गए हैं-

सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हंत्यं परं निर्वाणमित्यपि ॥३८-६७॥

भगवान् विहार करते समय चरणों को मनुष्यों के समान उठाते थे, इसका निश्चय महापुराण के इन वाक्यों से भी होता है, यथा-

भगवच्चरणन्यासप्रदेशेऽधिनभः स्थलम्।
मृदुस्पर्शमुदारश्री पंकजं हैममुद्बभौ ॥२५-२७३॥

भगवान् के चरण न्यास अर्थात् चरण रखने के प्रदेश में, आकाशतल में कोमल स्पर्श वाले तथा उत्कृष्ट शोभा समन्वित सुवर्णमय कमल समूह शोभायमान हो रहा था।

६३. अष्ट प्रातिहार्य—समवसरण में गंधकुटी के मध्य में श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान तीर्थंकर भगवान् की शान्त, सौम्य और मनोज्ञ मुद्रा अवर्णनीय रहती है। भगवान् अष्ट प्रातिहार्यों से सुशोभित होते हैं। उनके नाम ये हैं–

१. अशोक वृक्ष—तिलोयपण्णत्ति में लिखा है–

जेसिं तरुण मूले उप्पण्णं जाण केवलं णाणं।
उसहप्पहुदिजिणाणं ते चिय असोयरुक्खत्ति॥ ४-९२४॥

जिन वृक्षों के नीचे ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों को केवलज्ञान प्राप्त हुए हैं, वे ही अशोक वृक्ष हैं। जैसे आदिनाथ प्रभु को वट वृक्ष के नीचे केवलज्ञान हुआ है। उसी तरह बाकी तीर्थंकरों के जो-जो ज्ञानवृक्ष हैं वे ही शोक निवारक अतिशय से युक्त होने से अशोक वृक्ष कहे जाते हैं। ये अशोक वृक्ष लटकती हुई मालाओं से युक्त और घंटा समूहादिकों से रमणीय दिखते हैं और पल्लव पुष्पों से नम्रीभूत होती हुई शाखाओं से शोभायमान रहते है।

चौबीस तीर्थंकरों के भिन्न-भिन्न अशोक वृक्ष हैं। ऋषभनाथादि के क्रमशः निम्नलिखित अशोक वृक्ष कहे गए हैं–१. न्यग्रोध (वट), २. सप्तपर्ण (सप्तच्छद), ३. शाल, ४. सरल, ५. प्रियंगु, ६. प्रियंगु, ७. शिरीष ८. नागवृक्ष, ९. अक्ष (बहेड़ा), १०. धूली (भालिवृक्ष), ११. पलाश, १२. तेन्दु, १३. पाटल, १४. पीपल, १५. दधिपर्ण, १६. नन्दी, १७. तिलक, १८. आम्र, १९. कंकोली (अशोक), २०. चम्पक, २१. बकुल, २२. मेष श्रृंग, २३. धव, २४. शाल, (देखो गाथा ९२५-९२७ अ० ४)

ऋषभादि तीर्थंकरों के उपर्युक्त चौबीस अशोक वृक्ष बारह से गुणित अपने जिन भगवान् की ऊँचाई से युक्त होते हुए शोभायमान होते हैं। (देखो अ० ४ गाथा ९२८)

अशोक वृक्ष के विषय में महापुराण में लिखा है–

मरकतहरितैः पत्रैर्मणिमयकुसुमैश्चित्रैः।
मरुदुपविधूताः शाखाश्चिरमधुस्ते महाशोकाः ॥२३-३६॥

वह महान् अशोक वृक्ष मरकत मणि के बने हुए हरे हरे पत्ते और रत्नमय चित्र विचित्र फूलों से अलंकृत था तथा मन्द-मन्द वायु से हिलती हुई शाखाओं को धारण कर रहा था।

उस अशोक वृक्ष की जड़ वज्र की बनी हुई थी, जिसका मूल भाग रत्नों से देदीप्यमान था। ऋषभनाथ भगवान् का अशोक वृक्ष एक योजन विस्तार युक्त शाखाओं को फैलाता हुआ शोकरूपी अन्धकार को नष्ट करता था। महान् आत्माओं के आश्रय से तुच्छ पदार्थों की भी महान् प्रतिष्ठा होती

है, इसके लिए यह अशोक वृक्ष सुन्दर उदाहरण स्वरूप है।

२. रत्नजड़ित सिंहासन—भक्तामर स्तोत्र में सिंहासन पर शोभायमान जिन भगवान् के विषय में कहा है–

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे।
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्॥
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानम्।
तुङ्गोदयाद्रि-शिरसीव सहस्ररश्मेः ॥२९॥

हे भगवन्! मणियों की किरण जाल से शोभायमान सिंहासन पर विराजमान सुवर्ण समान देदीप्यमान आपका शरीर इस प्रकार सुन्दर प्रतीत होता है। जैसे उन्नत उदयाचल के शिखर पर नभोमण्डल में शोभायमान किरणलता के विस्तार युक्त सूर्य का बिम्ब शोभायमान होता है।

३. तीर्थंकर प्रभु के मस्तक पर तीन छत्र रहना—भगवान् के छत्र-त्रय अत्यन्त रमणीय दिखते थे। उनके विषय में आचार्य मानतुंग कहते हैं–

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगित-भानुकरप्रतापम्।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं -
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥३१॥

हे भगवन्! चन्द्रमा के समान शोभायमान सूर्य किरणों के संताप को दूर करने वाले आपके मस्तक के ऊपर विराजमान मोतियों के पुञ्ज की झालरी से जिनकी शोभा वृद्धि को प्राप्त हो रही है ऐसे छत्रत्रय आपके तीन लोक के परमेश्वरपने को प्रकट करते हुए शोभायमान होते हैं।

४. भामण्डल अथवा प्रभामण्डल—भगवान् के प्रभामण्डल की अपूर्व महिमा कही गई है। महापुराण में लिखा है–

जिनदेहरुचामृताब्धौ शुचौ। सुरदानवमर्त्यजनाः ददृशुः॥
स्व-भवान्तरसप्तकमात्तमुदो। जगतो बहुमङ्गलदर्पणके ॥२३-३७॥

अमृत के समुद्र सदृश निर्मल और जगत् को अनेक मंगलरूप दर्पण के समान भगवान् के देह के प्रभामण्डल में देव, दानव तथा मानव लोग अपने अपने सात-सात भव देखते थे। (तीन भव भूतकाल के, तीन भव भविष्यत्काल के और एक भव वर्तमान का-इस प्रकार सात भवों का दर्शन प्रभु के प्रभामण्डल में होता था)।

भामण्डल के विषय में मानतुंगाचार्य ने लिखा है–

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते।
लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती॥
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या ।
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥३४॥

हे आदिनाथ भगवान्! परब्रह्म स्वरूप आपके शोभायमान प्रभामण्डल की प्रचुर दीप्ति तीनों जगत् में प्रकाशमान पदार्थों के तेज को तिरस्कार करती हुई उदीयमान सूर्यों की एकत्रित विपुल संख्या को तथा चन्द्रमा के द्वारा सौम्य रात्रि के सौन्दर्य को भी अपने तेज के द्वारा जीतती है।

महातेज पुञ्ज प्रभामण्डल के कारण समवसरण में रात्रि और दिन का भेद नहीं रहता है।

५. दिव्यध्वनि खिरना—दिव्यध्वनि के विषय में ये शब्द बड़े मार्मिक हैं। कल्याणमंदिर स्तोत्र में कहा है–

स्थाने गभीरहृदयोदधिसंभवाया:।
पीयूषतां तव गिर: समुदीरयन्ति:॥
पीत्वा यत: परमसंमदसङ्गभाजो।
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥२१॥

हे जिनेन्द्र देव! गंभीर हृदय रूप सिंधु (समुद्र) में उत्पन्न हुई आपकी दिव्यध्वनि को जगत् अमृत नाम से पुकारता है। यह कथन पूर्ण योग्य है, क्योंकि भव्यजीव आपकी वाणी का कर्णेन्द्रिय के द्वारा रसपान करके अत्यन्त आनन्द युक्त होकर अजर, अमर पद को प्राप्त करते हैं।

६. पुष्पों की वर्षा होना—आकाश से सुवास युक्त पुष्पों की वर्षा हो रही थी। इस विषय में धर्मशर्माभ्युदय काव्य का कथन बड़ा मधुर और मार्मिक लगता है। कवि कहता है–

वृष्टि: पौष्पी साकुतोह्यभुन्नभस्त: संभाव्यन्ते नाम पुष्पाणि यस्मात्।
यद्वा ज्ञातं द्रागनंगस्य हस्तादर्हद्भीत्या तत्र वाणा निपेतु: ॥२०-९४॥

आकाश से यह पुष्प की वर्षा किस प्रकार हुई? यहाँ आकाश में पुष्पों के रहने की सम्भावना नहीं है अथवा प्रतीत होता है कि अरहंत भगवान् के भय से शीघ्र ही काम के हाथ से उसके पुष्पमय बाण गिर पड़े।

७. तीर्थंकर प्रभु के सिर पर देवों द्वारा चौंसठ चँवर ढुराना—कटक-कटिसूत्र-कुण्डलादि अनेक अलंकार युक्त देवों के द्वारा तीर्थंकरों के ऊपर ६४ चँवर ढुराये जाते हैं। वे चँवर भगवान् को प्रणाम करते हुए तथा उसके फलस्वरूप ही उन्नति को प्राप्त होते हुए प्रतीत होते थे। कल्याणमन्दिरस्तोत्र में प्रकट की गई हैं–

स्वामिन्सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो-
मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुङ्गवाय-
ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥२२॥

हे स्वामिन्! हमें यह प्रतीत होता है कि दूर से आकर आप पर ढुराये गए, पवित्र देवों कृत चँवरों का समुदाय कहता है कि जो भव्य समवसरण में विराजमान जिनेन्द्र देव को प्रणाम करते हैं वे भव्य पवित्र भाव युक्त होकर इन चँवरों के समान ऊर्ध्वगति युक्त होते हैं अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

१. तीर्थंकरों पर सदाकाल ६४ चँवर ढुराये जाते हैं।

२. सकल चक्रवतियों पर सदाकाल ३२ चँवर ढुराये जाते हैं।

३. अर्धचक्री नारायणों पर सदाकाल १६ चँवर ढुराये जाते हैं।

४. महामण्डलेश्वर राजाओं पर सदाकाल ८ चँवर ढुराये जाते हैं।

५. मण्डलेश्वर अधिराजाओं पर सदाकाल ४ चँवर ढुराये जाते हैं।

६. महाराजाओं पर सदाकाल २ चँवर ढुराये जाते हैं।

इसी तरह पदवीधर पुरुषों पर चँवर ढुराये जाते हैं।

८. देवदुन्दुभि—अर्थात् देवों द्वारा आकाश में दुन्दुभि बजना-आकाश में देवों द्वारा बजाई गई दुन्दुभि का मधुर शब्द चित्त को आनन्दित करता था। इस विषय में धर्मशर्माभ्युदय में कहा है–

क्वेव लक्ष्मीः क्वेदृशं निस्पृहत्वं।
क्वेदं ज्ञानं क्वास्त्य नौ क्वत्यभीदृक्।
रे रे ब्रूत द्राक्कुतीर्था इतीव।
ज्ञाने भर्तु र्दुन्दुभि र्व्योम्न्यवादीत् ॥२०-९९॥

अरे! मिथ्यामत के वादियों! यह तो बताओ इस प्रकार के समवसरण की अनुपम लक्ष्मी कहाँ? और भगवान् की श्रेष्ठ निस्पृहता कहाँ? कि वे उस लक्ष्मी का स्पर्श भी नहीं करते? कहाँ उनका त्रिकाल गोचर ज्ञान? और कहाँ उनकी मदरहित वृत्ति? यह बात प्रभु के ज्ञानकल्याणक में आकाश में दुन्दुभि कथन करती हुई प्रतीत होती है।

६४. दिव्यध्वनि के विषय में विशेष विचार—मृदु, मधुर, अतिगंभीर और एक योजन प्रमाण समवसरण में रहने वाली बारह प्रकार की सभाओं में विद्यमान देव, मनुष्य और तिर्यञ्चादि सब संज्ञी भव्य जीवों को युगपत् प्रतिबोधित करने वाली दिव्यध्वनि होती हैं। जैसे मेघ का पानी एक रूप है तो भी वह नाना वृक्ष और वनस्पतियों में जाकर नाना रूप परिणत हो जाता है उसी तरह दाँत,

तालु-ओंठ और कंठ आदि के हलन-चलन से रहित वह वाणी **१८ महाभाषा** और ७०० **क्षुद्रभाषाओं** में परिणत होकर युगपत् समस्त भव्यजनों को आनन्द प्रदान करती है।

अर्धमागधी यह नाम भाषारूप है। कहा भी है–

मागध्यावन्तिका प्राच्या शौरसैन्यर्धमागधी।
वाहीकीदाक्षिणात्याच भाषाः सप्त प्रकीर्तिताः॥

मागधी, आवन्तिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाहीकी तथा दाक्षिणात्या इस तरह सात प्रकार की प्राकृत भाषायें हैं। इसमें एक अर्धमागधी भाषा है।

तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि मगध नाम के व्यन्तर देवों के निमित्त से सर्व जीवों को भली प्रकार सुनाई पड़ती थी। आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित नन्दीश्वर भक्ति में इस अर्धमागधी भाषा का नाम सार्वार्धमागधी लिखा है '**सार्वार्धमागधी या भाषा**' (५) टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है — ''**सर्वेभ्यो हितासार्वा। सा चासौ अर्धमागधीया च।**'' सबके लिए हितकारी को सार्व कहते हैं। सार्व तथा जो अर्धमागधी भाषा थी उसका नाम सार्वार्धमागधी होगा। पूज्यपाद स्वामी ने **सर्व** के स्थान पर **सार्व** शब्द को ग्रहण कर यह अर्थ सूचित किया है कि भगवान् की वाणी सम्पूर्ण जीवों के लिए हितकारिणी थी। **प्रश्न**—जब दिव्यध्वनि को भगवान् के अष्ट प्रातिहार्यों में गिना हैं, तब उस जिनेन्द्र की वाणी को सार्वार्धमागधी भाषा का नाम देवोपुनीत अतिशयों में गिनने का क्या प्रयोजन है? **समाधान**—मगधदेव के सन्निधान होने पर जिनेन्द्र की वाणी को सम्पूर्ण जीव भली प्रकार ग्रहण करने में तथा उसके लाभ उठाने में समर्थ हो जाते हैं। आज वक्ता की वाणी को ध्वनि वाहक (लाऊडस्पीकर) यंत्र द्वारा दूरवर्ती श्रोताओं के कानों के पास पहुँचाया जाता है। उस यंत्र की सहायता से वाणी समीप में अधिक उच्च स्वर से श्रवणगोचर होती है और कहीं उसका स्वर मंद होता है। परन्तु जिनेन्द्र की ध्वनि प्रतीत होती है कि मगध देवों के सन्निधान से सभी जीवों को समान रूप से पूर्ण, स्पष्ट और अत्यन्त मधुर सुनाई पड़ती है। जिनेन्द्रदेव से उत्पन्न दिव्यध्वनि रूपी जलराशि को मगधदेव रूपी सहायकों के द्वारा भिन्न-भिन्न जीवों के कर्ण प्रदेश के समीप सरलता पूर्वक पहुँचाया जाता है। जैसे सरोवर का जल नल के माध्यम से जनता के समीप जाता है और जनता उसे नल का पानी यह नाम प्रदान करती है। प्रतीत होता है कि भगवान् की वाणी को भिन्न-भिन्न जीवों के समीप पहुँचा कर उसे सुखपूर्वक श्रवण योग्य बनाने आदि के पवित्र कार्य में अपनी सेवा से तथा सामर्थ्य समर्पण करने के कारण भगवान् की सार्ववाणी को सार्वार्धमागधी नाम प्राप्त होता है। जब मगधदेव उस भगवद् वाणी की सेवा करते हैं तो महात्माओं की सेवा का उन्हें यह पुरस्कार प्राप्त होता है कि उस श्रेष्ठ वाणी में सेवक के नाते उनका भी नाम आता है। समवसरण में जिस वाणी को सुनकर भव्य जीव अपनी भव बाधा को दूर करने योग्य बोध प्राप्त करते हैं, वह वाणी जिनेन्द्रदेव के द्वारा उद्भूत हुई है और मागध देवों के सहयोग से भव्यों के समीप पहुँची है। जब उस वाणी की श्रोताओं

को उपलब्धि द्विविध कारणों से होती तब द्वितीय कारण को उस कार्य का आधा श्रेय स्थूल दृष्टि से दिया जाना अनुचित प्रतीत नहीं होता।

कोई कोई यह सोचते हैं कि राजगिरि नगर जिस प्रान्त की राजधानी थी। उस मगधदेश की भाषा के अधिक शब्द भगवान् की दिव्यध्वनि में रहे होंगे अथवा भगवान् प्राकृत भाषा के उपभेद रूप अर्धमागधी नाम की भाषा में बोलते होंगे। **समाधान**—लोकरुचि के परितोष के लिए उपरोक्त समाधान देते हुए कोई-कोई विद्वान् देखे जाते हैं किन्तु आगम की पृष्ठभूमि उक्त समाधान को आश्रय नहीं देती है। सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय विषयों पर साधिकार एवं निर्दोष प्रकाश डालने की क्षमता सम्पन्न आगम कहता है कि भगवान् की वाणी किसी एक भाषा में सीमित नहीं रहती हैं। सर्व विद्या के ईश्वर सर्वत्र एक ही भाषा का उपयोग करेंगे और अन्य देश तथा अन्य 'प्रान्त की' बहुसंख्यक जनता के कल्याणार्थ अपनी पूर्व प्रयुक्त भाषा में परिवर्तन नहीं करेंगे। यह बात अन्तःकरण को अनुकूल प्रतीत नहीं होती है। उदाहरणार्थ भगवान् जब राजगृह के समीप विपुलाचल पर विराजमान थे। तब मगध देश की मागधी भाषा में विशेष जन के कल्याण को लक्ष्य कर उपदेश देना उचित तथा आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु मैसूर प्रांत में भव्य जीवों के पुण्य से पहुँचने वाले वे परम पिता जिनेन्द्रदेव यदि कानड़ी भाषा का आश्रय लेकर तत्त्व निरूपण करें तो अधिक उचित बात होगी जिनेन्द्रदेव की सम्पूर्ण बातें उचित और निर्दोष ही होती हैं। ऐसी स्थिति में सर्वत्र सर्वदा मागधी नाम की मगध प्रांत विशेष की भाषा में प्रभु का उपदेश होता है यह मान्यता सुदृढ़ तर्क पर आश्रित नहीं दिखती है।

महान् तपश्चर्या विशुद्ध सम्यग्दर्शन, परम यथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान आदि श्रेष्ठ साम्रगी का सन्निधान प्राप्त कर समुद्भूत होने वाली सम्पूर्ण जीवों को शाश्वतिक शांतिदायिनी भगवद् वाणी की सामान्य संसारी प्राणियों की भाषा से तुलना कर दोनों को समान समझने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता है। वह वाणी लोकोत्तर है और लोकोत्तम योगिराज जिनेन्द्रदेव की है। भोगिराज योगिराज की विद्या, विभूति और सामर्थ्य को लेश मात्र भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। रेत का एक कण और पर्वत कैसे दोनों समान रूप से विशाल कहे जा सकते हैं। महान् तार्किक विद्वान् समन्तभद्र जिनेन्द्र की प्रवृत्तियों के गम्भीर चिंतन के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जिनेन्द्र के कार्य अचिंत्य हैं। ''**धीर! तावकमचिंत्यमोहितम्।**'' (स्वयंभूस्तोत्र, ७४) उन्होंने धर्मनाथ जिनेन्द्र के विषय में लिखा है–

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ॥७५॥

हे धर्मनाथ जिनेन्द्र! आपने निर्दोष अवस्था को प्राप्त कर मानव प्रकृति की सीमा का अतिक्रमण किया है अर्थात् मानव समाज में पाई जाने वाली अपूर्णताओं तथा असमर्थताओं से आप उन्मुक्त हैं। आप देवताओं में भी देवस्वरूप हैं, इसलिए हे स्वामिन् आप परम देवता हैं। हम पर कल्याण के हेतु

प्रसन्न हों।

योगियों की अद्‌भूत तपस्याओं के प्रसाद से जो फल रूप में सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं उनसे समस्त विश्व-विस्मय के सिंधु में डूब जाता है। समीक्षक सिद्धियों के अद्‌भुत परिपाक को देखकर हतबुद्धि बन जाता है। वह यदि इन जिनेन्द्रों की उत्कृष्ट रत्नत्रय धर्म की समाराधना को ध्यान में रखे तो वह चमत्कारों को देख श्रद्धा से विनत मस्तक हुए बिना न रहेगा। दीक्षा से लेकर केवलज्ञान तक महामौन स्वीकार करने वाले तीर्थंकरों की वाणी में लोकोत्तर प्रभाव पाया जाना तर्क दृष्टि से पूर्ण संगत तथा उचित है। जब भगवान् का प्रभामण्डल रूप प्रातिहार्य सहस्र सूर्य के तेज को जीतता हुआ समवसरण में दिन रात्रि के भेदों को दूर करता हुआ भव्य जीवों को उनके सात भव दिखाने वाले अलौकिक दर्पण का काम करता है, तो भगवान् की दिव्यध्वनि महान् चमत्कार पूर्ण प्रभाव दिखावे तो यह पूर्णतया उचित प्रतीत होता है। चन्द्रप्रभ काव्य में दिव्यध्वनि के विषय में लिखा हैं-

सर्वभाषास्वभावेनध्वनिनाथ जगद्‌गुरुः।
जगाद गणिनः प्रश्नादिति तत्त्वं जिनेश्वरः ॥१८-१॥

जगत् के गुरु चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ने गणधर के प्रश्न पर सर्व भाषा स्वभाव वाली दिव्यध्वनि के द्वारा तत्त्वों का उपदेश दिया।

हरिवंशपुराण में भगवान् की दिव्य ध्वनि को हृदय और कर्ण के लिए रसायन लिखा है- "**चेतः कर्णं रसायनं।**" उन्होंने यह भी लिखा है-

जिनभाषाऽधरस्पंदमंतरेण विजृंभिता।
तिर्यग्देवमनुष्याणां दृष्टिमोहमनीनशत् ॥२-११३॥

ओष्ठ कंपन के बिना उत्पन्न हुई जिनेन्द्र की भाषा ने तिर्यञ्च, देव तथा मनुष्यों की दृष्टि सम्बन्धी मोह को दूर किया था।

पूज्यपाद स्वामी उस दिव्यध्वनि के विषय में यह कथन कहते हैं-

ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते श्रोत्रहृदयहारिगंभीरः।
ससलिलजलधरपटलध्वनितमिव प्रविततान्तराशावलयं ॥२१॥

जिनेन्द्र भगवान् की दिव्यध्वनि श्रोत्र अर्थात् कर्ण तथा हृदय को सुखदाई तथा गंभीर होती है। वह दिव्य ध्वनि सलिल से परिपूर्ण मेघ पटल की ध्वनि के समान दिगंतर में व्याप्त होती हुई एक योजन तक पहुँचती है महापुराणकार जिनसेन स्वामी का कथन है-

एकतयोपि यथैव जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात्।
पात्रविशेषवशाच्च तथायं सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्वं ॥७१-२३॥

जिस प्रकार, एक प्रकार के पानी का प्रवाह वृक्षों के भेद से अनेक रसरूप परिणत हो जाता

है, उसी प्रकार यह सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि एकरूप होते हुये भी पात्रों के भेद से विविध रूपता को प्राप्त होती है। कर्नाटक की कानड़ी भाषा के जैन व्याकरण में यह उपयोगी श्लोक आया हैं–

गंभीर मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं।
कंठौष्ठाादि वचोनिमित्तरहितं नो वातरोधोद्‌गतं॥
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं।
दूरासन्नसमं शमं निरुपमं जैनं वचः पातु नः॥

गम्भीर, मधुर, अत्यन्त मनोहर निष्कलंक, कल्याणकारी, कंठ, ओष्ठ, तालु आदि वचन उत्पत्ति के निमित्त कारणों से रहित, पवन के रोध बिना उत्पन्न हुई, स्पष्ट, श्रोताओं के लिए अभीष्ट तत्त्वों का निरूपण करने वाली सर्वभाषा स्वरूप, समीप तथा दूरवर्ती जीवों के समान रूप से सुनाई पड़ने वाली, शांति रस से परिपूर्ण तथा उपमा रहित जिनेन्द्र भगवान् की दिव्यध्वनि हमारी रक्षा करे।

तिलोयपण्णत्ति में इस ध्वनि के विषय में यह बताया है कि दिव्यध्वनि **१८ महाभाषा ७०० लघुभाषा** तथा और भी संज्ञी जीवों की भाषा रूप परिणत होती है। यह तालु, दन्त, ओष्ठ और कंठ की क्रिया से रहित होकर एक ही समय में भव्य जीवों को दिव्य उपदेश देती है–''**एक्ककालं भव्यजणे दिव्वभासित्तं**'' (४-९११)

भगवान् की दिव्यध्वनि प्रारम्भ में अनक्षरात्मक होती है, इसलिए उस समय केवली भगवान् के अनुभय वचन योग माना गया है। पश्चात् श्रोताओं के कर्ण प्रदेश को प्राप्त कर सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने से केवली भगवान् के सत्य वचन योग का सद्‌भाव भी आगम में माना है। गोम्मटसार की संस्कृत टीका में इस प्रसंग पर महत्त्व पूर्ण बात कही है। ''**सयोगकेवलिदिव्यध्वनेः कथं सत्यानुभय-वाग्योगत्वमितिचेत् तत्र तदुत्पत्तावनक्षरात्मकत्वेन श्रोतृश्रोत्रप्रदेशप्राप्तिसमयपर्यंतमनुभय-भाषात्वसिद्धेः। तदनंतरं च श्रोतृजनाभिप्रेतार्थेषु संशयादिनिराकरणेन सम्यग्ज्ञानजनकत्वेन सत्यवाग्योगत्वसिद्धेश्च तस्यापि तदुभयत्वघटनात्**'' (गो० जी०, गाथा २२७, पृ०४८८)

प्रश्न—सयोग केवली की दिव्यध्वनि को किस प्रकार सत्य अनुभव वचन योग कहा है?

समाधान—केवली की दिव्यध्वनि उत्पन्न होते ही अनक्षरात्मक रहती है, इसलिए श्रोताओं के कर्ण प्रदेश से सम्बन्ध होने के समय तक अनुभय वचन योग सिद्ध होता है। इसके पश्चात् श्रोताओं के इष्ट अर्थों के विषय में संशय आदि का निराकरण करने से तथा सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने से सत्य वचन योग का सद्‌भाव सिद्ध होता है। इस प्रकार केवली के सत्य और अनुभय वचन योग सिद्ध होते हैं।

इस कथन से ज्ञात होता है कि श्रोताओं के समीप पहुँचने के पूर्व वाणी अनक्षरात्मक रहती है, पश्चात् भिन्न-भिन्न श्रोताओं का आश्रय पाकर वह दिव्यध्वनि अक्षररूपता को धारण करती है।

स्वामी समन्तभद्र ने जिनेन्द्रदेव की वाणी को सर्वभाषा स्वभाव वाली कहा है। यथा–

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि॥

श्री सहित तथा सर्व भाषा स्वाभाव वाली आपकी अमृत वाणी समवसरण में व्याप्त होकर अमृत की तरह प्राणियों को आनन्दित करती है।

महापुराणकार दिव्यध्वनि को अक्षरात्मक कहते हुए इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं:–

देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद् देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात्।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगति जंगति स्यात् ॥२३-७३॥

कई लोग कहते हैं कि दिव्यध्वनि देवकृत है यह कथन वास्तविक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से जिनेन्द्र भगवान् के अतिशय गुण का व्याघात होता है। वह दिव्यध्वनि अक्षरात्मक ही है, (यहाँ 'ही' वाचक 'एव' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है) कारण अक्षरों के समूह के बिना लोक में अर्थ का बोध नहीं होता है।

जयधवला टीका में जिनसेनस्वामी के गुरु वीरसेनाचार्य ने दिव्यध्वनि के विषय में ये शब्द कहे हैं–**केरिसा सा (दिव्वज्झुणी)? सव्वभासा-सरूवा, अक्खराणक्खरप्पिया अणंतत्थ-गब्भ बीजपद घडियसरीरा**' (भाग १, पृ० १२६)

वह दिव्यध्वनि किस प्रकार की है? वह सर्व भाषा स्वरूप है अक्षरात्मक अनक्षरात्मक है। अनन्त अर्थ हैं गर्भ में जिसके ऐसे बीज पदों से निर्मित शरीर वाली हैं अर्थात् उसमें बीज पदों का समुदाय है।

चौसठ ऋद्धियों में बीज बुद्धि नाम की ऋद्धि का भी कथन आता है। उसका स्वरूप राजवार्तिक में इस प्रकार कहा है–जैसे हल के द्वारा सम्यक् प्रकार तैयार की गई उपजाऊ भूमि में योग्य काल में बोया गया एक भी बीज बहुत बीजों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपक्षम के प्रकर्ष से एक बीज पद के ज्ञान द्वारा अनेक पदार्थों को जानने की बुद्धि को बीज बुद्धि कहते हैं–"**सुकृष्टसुमथिते क्षेत्र सारवति कालादिसहायापेक्ष बीजमेकमुप्तं यथाऽनेकबीजकोटिप्रदं भवति तथा नोइन्द्रियावरण-श्रुतावरण, वीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षेसति एकबीजपदग्रहणादनेकपदार्थप्रतिपत्ति बींजबुद्धिः**" (रा० वा०, अध्याय ३, सूत्र ३६, पृ० १४३)

इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जिनेन्द्रदेव की बीज पद युक्त वाणी को गणधरदेव बीज बुद्धि ऋद्धिधारी होने से अवधारण करके द्वादशांग रूप रचना करते हैं।

इस प्रसंग में यह बात विचार योग्य है कि प्रारम्भ में भगवान् की वाणी को झेलकर गणधरदेव

द्वादशांग की रचना करते हैं, अतः उस वाणी में बीजपदों का समावेश आवश्यक है, जिनके आश्रय में चार ज्ञानधारी महर्षि गणधरदेव अंग-पूर्वों की रचना करने में समर्थ होते हैं। वीर भगवान् की दिव्यध्वनि को गौतम ने सुनकर ''**बारहंगाणं चोद्दस पुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेरयणा कदा**'' (धवला टीका, भाग १, पृ० ६५) द्वादशांग तथा चौदह पूर्व रूप ग्रन्थों की एक मुहूर्त में क्रम से रचना की।

इसके पश्चात् भी तो महावीर भगवान् की दिव्यध्वनि खिरती रही है। श्रोतृमण्डली को गणधर देव द्वारा दिव्यध्वनि के समय के पश्चात् उपदेश प्राप्त होता है। जब दिव्यध्वनि खिरती है, तब मनुष्यों के सिवाय संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, देवादि भी अपनी-अपनी भाषाओं में अर्थ को समझते हैं, इससे वीरसेन स्वामी ने उस दिव्य को '**सव्वभाषा-सरूवा**' सर्वभाषा स्वरूपा, भी कहा है। उस दिव्यवाणी की यह अलौकिकता है कि उस दिव्य वाणी से गणधर देव सदृश महानुभाव ज्ञान के सिन्धु भी अपने लिए अमूल्य ज्ञान निधि प्राप्त करते हैं, तथा महान् मंदमति प्राणी, सर्व, गाय, व्याघ्र कपोत, हंसादि, पशु-पक्षी भी अपने-अपने योग्य ज्ञान की सामग्री प्राप्त करते हैं।

उपरोक्त समस्त कथन पर गम्भीर विचार तथा समन्वयात्मक दृष्टि डालने पर प्रतीत होता है कि जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि अलौकिक वस्तु है। अनुपम है और आश्चर्यप्रद है। उस वाणी के समान विश्व में कोई अन्य वाणी नहीं है। वाणी की लोकोत्तरता में कारण तीर्थंकर भगवान् का त्रिभुवन वंदित अनन्त सामर्थ्य समलंकृत व्यक्तित्व है। श्रेष्ठ सामर्थ्यधारी गणधर देव, महान् महिमाशाली सुरेन्द्र आदि भी प्रभु की अपूर्व शक्ति से प्रभावित होते हैं। योग के द्वारा जो चमत्कार युक्त वैभव दिखाई पड़ता है वह स्थूल दृष्टि वालों की समझ में नहीं आता है अतएव वे विस्मय के सागर में डूबे ही रहते हैं। दिव्य ध्वनि तीर्थंकर प्रकृति के विपाक-उदय की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति कर्म का बंध करते समय केवली, श्रुतकेवली के पादमूल में इसी भावना का बीज बोया गया था कि इस बीज से ऐसा वृक्ष बने, जो समस्त प्राणियों को सच्ची शांति तथा मुक्ति का मंगल संदेश प्रदान कर सके। मनुष्य पर्याय रूपी भूमि में बोया गया यह तीर्थंकर प्रकृति रूप बीज अन्य साधन सामग्री पाकर केवली की अवस्था में अपना वैभव तथा परिपूर्ण विकास दिखाता हुआ त्रैलोक्य के समस्त जीवों को विस्मय में डालता है। आज भगवान् ने इच्छाओं का अभाव कर दिया है, फिर भी उनके उपदेश आदि कार्य ऐसे लगते हैं, मानों वे इच्छाओं के द्वारा प्रेरित हों। इसका यथार्थ में समाधान यह है कि पूर्व की इच्छाओं के प्रसाद से अभी भी कार्य होता है। जैसे घड़ी में चाबी भरने के पश्चात् वह घड़ी अपने आप चलती है, उसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते समय जिन कल्याणकारी भावों का संग्रह किया गया था वे ही बीज अनन्तगुणित होकर विकास को प्राप्त हुए हैं। अतः केवली की अवस्था में पूर्व संचित पवित्र भावना के अनुसार सब जीवों को कल्याणकारी सामग्री प्राप्त होती है।

दिव्यध्वनि के विषय में कुन्दकुन्दाचार्य के सूत्रात्मक ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते है– **''तिहुवण-हिद-मधुर-विसद-वक्काणं''** अर्थात् दिव्यध्वनि के द्वारा त्रिभुवन के समस्त भव्य जीवों को हितकारी, प्रिय तथा स्पष्ट उपदेश प्राप्त होता है। जब छद्मस्थ तथा बाल अवस्था वाले महावीर प्रभु के उपदेश के बिना ही दो चारण ऋद्धिधारी महामुनियों की सूक्ष्म शंका दूर हुई थी तब केवलज्ञान, केवलदर्शनादि सामग्री संयुक्त तीर्थंकर प्रकृति के पूर्ण विपाक उदय होने पर उस दिव्यध्वनि के द्वारा समस्त भव्य जीवों को उनकी भाषाओं में तत्त्व बोध हो जाता है। यह बात तनिक भी शंका योग्य नहीं दिखती है।

इस दिव्यध्वनि के विषय में धर्मशर्माभ्युदय का यह पद्य मधुर तथा भावपूर्ण प्रतीत होता है–

सर्वाद्भूतमयीसृष्टिः सुधावृष्टिश्च कर्णयोः।
प्रावर्ततं ततोवाणी सर्वविद्येश्वरात् विभोः ॥२१-७॥

सर्व विद्याओं के ईश्वर जिनेन्द्र भगवान् से सर्व प्रकार के आश्चर्यों की जननी तथा कर्णों के लिए सुधा की वृष्टि के समान दिव्यध्वनि उत्पन्न हुई। गोम्मटसार जीवकाण्ड की संस्कृत टीका में लिखा है कि तीर्थंकर की दिव्यध्वनि प्रभात, मध्याह्न, सायंकाल तथा मध्यरात्रि के समय छह-छह घटिका काल पर्यंत अर्थात् दो घण्टा चौबीस मिनट तक प्रतिदिन नियम से खिरती है। इसके सिवाय गणधर, चक्रवर्ती, इन्द्र सदृश विशेष पुण्यशाली व्यक्तियों के आगमन होने पर उनके प्रश्नों के उत्तर के लिए भी दिव्यध्वनि खिरती है। इसका कारण यह है कि उन विशिष्ट पुण्याधिकारियों के संदेह दूर होने पर धर्म भावना बढ़ेगी और उससे मोक्ष मार्ग की देशना का प्रचार होगा जो धर्म तीर्थंकर की तत्त्व प्रतिपादन की पूर्ति स्वरूप होगी। जीवकाण्ड की संस्कृत टीका में ये शब्द आए हैं– **''घातिकर्मक्षयानंतरकेवलज्ञान सहोत्पन्न-तीर्थंकरत्वपुण्यातिशयविजृंभितमहिम्नः तीर्थंकरस्य पूर्वाह्नमध्यान्हापराह्णार्धरात्रिषु षट् षट्घटिकाकालपर्यन्तं द्वादशगण सभामध्ये स्वभावतो दिव्यध्वनिरुद्गच्छति। एवं समुद्भुतो दिव्यध्वनिः समस्तासन्नश्रोतृगणानुद्दिश्य उत्तमक्षमादिलक्षणं रत्नत्रयात्मकं वा धर्म कथयति''** (पृ० ७६१)

श्री जयधवल टीका में लिखा है कि यह दिव्यध्वनि प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल इन तीन संध्याओं में छह-छह घड़ी पर्यन्त खिरती है– **''तिसंज्झू विसयछघडियासु णिरंतरं पयट्टमाणिया''** (भाग १, पृ० १२६)

तिलोयपण्णत्ति में तीन संध्याओं में नवमुहुर्त पर्यन्त दिव्यध्वनि खिरने का उल्लेख है। कहा भी है–

पगदीए अक्खलिदो संझत्तिदयम्मि णवमुहुत्ताणि।
णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वझुणी जाव जोयणयं ॥४-९१२॥

तिलोयपण्णत्ति में यह भी कहा है–''गणधर इन्द्र तथा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ यह दिव्यध्वनि अन्य समयों में भी निकलती है। यह दिव्यध्वनि भव्य जीवों को छह द्रव्य, नौ–पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है।'' (भाग २, पृ० २८०)

प्रश्न—गोम्मटसार में मध्यरात्रि को दिव्यध्वनि खिरने पर यह शंका की जा सकती है कि मध्य रात्रि को जीव निद्रा के वशीभूत रहते हैं। उस समय दिव्यध्वनि के खिरने से उसका क्या उपयोग होगा?

समाधान—समवसरण में भगवान् के प्रभामण्डल के प्रभाव से दिन ओर रात्रि का भेद नहीं रहता है। समवसरण में जाने वालों को निद्रा आदि की पीड़ायें भी नहीं होती हैं।

६५. अनन्तसुख का स्वरूप—त्रिलोकसार में लिखा है कि मोहनीयादि चार घातिया कर्मों के क्षय से अनन्तचतुष्टय अर्थात् अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये चार गुण उत्पन्न होते हैं। यह भी लिखा हैं ''**भोग्येष्वर्थेष्वनौत्सुक्यमनन्तसुखता मता**'' अर्थात् भोगने योग्य पदार्थों में उत्सुकता का अभाव रहना इसको 'अनन्त सुख' कहते हैं।

६६. तीर्थंकर के १८ दोष नहीं रहते हैं—१८ दोषों के नाम–(१) क्षुधा (भूख), (२) तृषा (प्यास), (३) जन्म, (४) जरा (बुढ़ापा), (५) मरण, (६) विस्मय (आश्चर्य), (७) अरति (पीड़ा), (८) खेद (दु:ख), (९) शोक, (१०) रोग, (११) मद (गर्व), (१२) मोह, (१३) राग, (१४) द्वेष, (१५) भय, (१६) निद्रा, (१७) चिन्ता, (१८) स्वेद (पसीना), ये अठारह दोष केवली भगवान् के नहीं रहते हैं।

६७. भगवान् ऋषभदेव और केवलज्ञान का उद्यान—भगवान् ऋषभदेव एक हजार वर्ष तक घोर तपस्या करके एक दिन '**पुरिमतालपुर**' पहुँचे। जिसका वर्तमान नाम '**प्रयाग**' या '**इलाहाबाद**' है। उस नगर के समीपवर्ती '**शकट**' उद्यान में ऋषभदेव ने वटवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होकर केवलज्ञान प्राप्त किया था। भगवान् ऋषभदेव को जिस वटवृक्ष के नीचे अक्षय बोधि का लाभ हुआ था, या ईश्वरीय रूप प्राप्त हुआ था उसी दिन से उस वटवृक्ष का नाम '**अक्षयवट**' संसार में प्रसिद्ध हो गया है।

केवलज्ञान प्राप्त होने पर समवसरण की रचना कुबेर द्वारा की गई थी। सब इन्द्र अपने परिवार के साथ ज्ञान कल्याणक पूजा के लिए वहाँ आये थे और पुरिमतालपुर में इन्द्र अपने परिवार के साथ ज्ञान कल्याणक पूजा के लिए वहाँ आये थे और पुरिमतालपुर में इन्द्र ने भगवान् ऋषभ देव की पूजा की थी। भगवान् ऋषभनाथ की सर्वप्रथम धर्म देशना '**पुरिमतालपुर**' में हुई थी। बहुत संभव है कि तभी से इस पुरिमतालपुर का नाम '**प्रयाग**' हो गया है। याग नाम पूजा का है और सबसे बड़ी पूजा इन्द्र के द्वारा की जाती हैं जिसका नाम '**इन्द्रध्वजपूजा**' है।

प्रयाग को इलाहाबाद भी कहते हैं। इलाह शब्द का अर्थ देवा! अथवा पूजा करने लायक ऐसा होता है इससे संभव है कि इसी पूजा के निमित्त से प्रयाग को इलाहाबाद भी कहते होंगे।

६८. समवसरण में मानस्तम्भादि की ऊँचाई—जो मानस्तम्भ, ध्वाजास्तंभ, चैत्यवृक्ष, सिद्धार्थ वृक्ष, स्तूप, तोरण, कोट, गृह वनवेदिका आदि रहते हैं, उनकी ऊँचाई तीर्थंकरों के शरीर से बारह गुणी अधिक होती हैं।

६९. केवली कितने प्रकार के होते हैं? केवली भगवान् सामान्यता से दो प्रकार के होते हैं। एक तीर्थंकर केवली और दूसरे सामान्य केवली। उन तीर्थंकर केवलियों में पञ्चकल्याणक तीर्थंकर केवली, तीन कल्याणक तीर्थंकर केवली, और दो कल्याणक तीर्थंकर केवली आदि भेद पाये जाते हैं और सामान्य केवलियों के भी उपसर्ग केवली, अत:कृत केवली, मूक केवली, अनुबन्ध केवली या अनुबद्ध केवली इत्यादि भेद होते हैं।

प्रश्न—तीर्थंकर केवली और अन्य सामान्य केवली में क्या अंतर है?

समाधान—केवलज्ञानादि गुणों की अपेक्षा तीर्थंकर केवली तथा अन्य सामान्य केवलियों में कोई अंतर नहीं हैं। तथापि जिन्होंने घातिया कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान प्राप्त किया है वे सामान्य रूप से केवली भगवान् कहे जाते हैं। और जिन्होंने पहिले तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति का बंध किया हो और केवलज्ञान प्राप्त किया है तो वे तीर्थंकर केवली भगवान् कहे जाते हैं।

७०. तीर्थंकर केवलियों की विशेष अलौकिकता—तीर्थंकर और सामान्य केवली इन दोनों में जो कुछ अंतर है, वह निम्न प्रकार समझना चाहिए।

तीर्थंकर केवली भगवान् के तीर्थंकर प्रकृति रूप विशेष पुण्य के उदय से उनकी इन्द्रादिक पञ्चकल्याणादि के रूप में विशेष भक्ति करते हैं और बाह्य में जिनके उत्कृष्ट समवसरणादि रचना वैभव पाया जाता है, ऐसी बातें सामान्य केवलियों में नहीं होकर केवल गंधकुटी की रचना होती है।

तीर्थंकर केवली भगवान् के समान सामान्य केवली भगवान् की दिव्यध्वनि से जीवों को शान्ति भी मिलती है। तत्त्वों का ज्ञान भी प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों के धर्मोपदेशादि की समानता के होते हुए भी उनमें महत्त्वपूर्ण यह अन्तर है कि तीर्थंकरों का तीर्थ प्रवर्तन काल चलता है। एक तीर्थंकर के मोक्ष होने के पश्चात् जब तक दूसरे तीर्थंकर उत्पन्न नहीं होते हैं। तब तक उन मोक्ष प्राप्त तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तनकाल माना जाता है। सामान्य केवली में ऐसी बात नहीं होती है।

इस अवसर्पिणी काल में ऋषभादि वर्धमान तक केवल चौबीस तीर्थंकर हुए हैं, किन्तु इन एक-एक तीर्थंकर के तीर्थकाल में असंख्य भव्य जीवों ने केवली होकर मोक्ष पद प्राप्त किया है। तीर्थंकरों की यही अल्पसंख्या उनकी अलौकिकता को सम्यक् प्रकार से स्पष्ट कर देती है।

७१. पञ्चकल्याणक तीर्थंकर केवली—भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र में पाँच मेरु सम्बन्धी

१७० कर्म भूमियों में होते हैं। भरत, ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थ काल (अवसर्पिणी के दुषमासुषमाकाल) में होते हैं और उत्सर्पिणी के तृतीय काल (दुषमासुषमा काल) में होते हैं। विदेहक्षेत्र में सदैव होते रहते हैं। विदेह क्षेत्र की अपेक्षा जिसने पहले भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया है। वही पञ्चकल्याणक तीर्थंकर कहलाते हैं।

७२. तीन और दो कल्याणक वाले तीर्थंकर केवली—पूर्व अपर (पश्चिम) दोनों विदेह क्षेत्रों में पञ्चमेरु सम्बन्धी १६० विदेह क्षेत्रों में होते हैं। जिन्होंने गृहस्थ अवस्था में रहते हुए तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया है उनके तप, ज्ञान और मोक्ष ये तीन कल्याणक होते हैं और जिन्होंने मुनि होकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया है, उनके ज्ञान और मोक्ष ये दो कल्याणक होते हैं।

७३. उपसर्ग केवली—जिनके उपसर्ग अवस्था में केवलज्ञान हो उनको '**उपसर्ग केवली**' कहते हैं। जैसे श्रीपार्श्वनाथ भगवान्। हुण्डावसर्पिणी काल के सिवाय अन्य काल में तीर्थंकरों के उपसर्ग नहीं कहे गए हैं।

७४. अन्तःकृत केवली—जो केवलज्ञान के उत्पन्न होते ही लघु अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं उनको 'अन्तःकृत केवली' कहते हैं। जैसे पाण्डवादि। जिस प्रकार नेमिनाथ तीर्थंकर के तीर्थ काल में कुमार श्रमण गजकुमार घोर उपसर्ग को सहन करते हुए अन्तःकृत केवली हुए हैं। इसी प्रकार चौबीस तीर्थंकरों के तीर्थ काल में दस-दस अन्तःकृत केवली हुए हैं। इनका वर्णन द्वादशांग वाणी के आठवें अंग में हुआ है, उसका नाम है अन्तःकृत् दशांग। श्रीवर्धमान भगवान् के तीर्थ काल में होने वाले तथा अत्यन्त दारुण उपसर्गों को जीत कर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने वाले दश अन्तःकृत केवलियों के इस प्रकार नाम कहे हैं–**नमि, पतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमकील, बलीक, किस्किंबल, यालम्ब तथा अष्टपुत्र**। इस प्रकार तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ० ५१ में और धवला, भाग १९-१०३ में लिखा है। हरिवंशपुराण में सर्ग ६१ कहा है कि–

दह्यमानशरीरोऽसौ शुक्लध्यानेन कर्मणाम्।
अन्तं कृत्वा ययौ मोक्षमन्तः कृत्केवली मुनिः ॥७॥

७५. मूककेवली—कोई-कोई केवली भगवान् उपदेश नहीं देते हैं अर्थात् जिनकी वाणी (दिव्यध्वनि) नहीं खिरती है उनको '**मूककेवली**' कहते हैं। लाटी संहिता, सर्ग १ में कहा है कि मूककेवली और अन्तःकृत् केवली की वाणी नहीं खिरती है।

७६. अनुबन्ध या अनुबद्धकेवली—श्री महावीर भगवान् के मोक्ष होने के पश्चात् गौतमस्वामी ने केवलज्ञान प्राप्त किया। उनके मोक्ष होने पर सुधर्मा स्वामी ने केवलज्ञान प्राप्त किया पश्चात् जम्बूस्वामी केवली हुए। इस प्रकार परिपाटी क्रम से केवलज्ञान प्राप्त करने वालों को अनुबंध या अनुबद्धकेवली कहते हैं। इस दृष्टि से जम्बूस्वामी को अन्तिमकेवली कहा गया है। यदि परिपाटी क्रम

दृष्टि में न रखा जाय तो कुण्डलगिरि से अंत में मोक्ष प्राप्त करने वाले श्रीधर केवली अन्तिम केवली तथा मुक्ति प्राप्त करने वाला कहा गया है। (देखो तिलोयपण्णत्ति, पृ० ३३८)

७७. तीर्थंकर केवली और सामान्य केवलियों के गुण विचार—पञ्चकल्याणक तीर्थंकर केवली भगवान् में १० जन्मातिशय, १० केवलज्ञान के अतिशय, १४ देव कृत अतिशय, ८ प्रातिहार्य तथा ४ अनंत चतुष्टय, इस प्रकार ४६ अतिशय गुण होते हैं। इनको '**जिनगुण**' ऐसा भी कहते हैं।

प्रश्न—कोई-कोई कहते हैं सामान्य केवली के दश जन्मातिशयों को छोड़कर शेष ३६ गुण मानना चाहिए। परन्तु सामान्य केवली में अनन्तचतुष्टय का सद्भाव तो नियम से मानना होगा। केवलज्ञान के दश अतिशयों में से गगनगमन, चारों दिशाओं में मुखों का दर्शन होना, उपसर्ग का अभाव, कवलाहार का अभाव, सर्वविद्याओं का स्वामीपना, नख तथा केशों का नहीं बढ़ना आदि गुणों का सद्भाव मानना आवश्यक है। इस विषय में आगम का खुलासा वर्णन देखने में नहीं आया है। किन्तु युक्ति तथा विचार द्वारा इस सम्बन्ध में चिन्तन के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। जन्म के जो दस अतिशय तीर्थंकर भगवान् के माने गए हैं उनमें से केवली की अवस्था में सुगंधित शरीर का होना, पसीना रहित होना, मलमूत्र का न होना, प्रिय-हित-मित वाणी का सद्भाव होना, अतुल बल का सद्भाव होना, रक्त का धवल वर्ण का होना, वज्रमय शरीर होना, इन अतिशयों को मानना अविरोधी दिखता है। जिसके समचतुरस्र संस्थान न हो वह भी केवली बन सकता है तथा उसके शरीर में १००८ लक्षणों का सद्भाव नहीं होगा, अतः सातिशय रूपता का अभाव भी संभवनीय हो सकता है। इससे जन्म के सभी अतिशयों का अभाव कह देना ठीक नहीं जँचता है, क्योंकि बाहुबली, हनुमान, प्रद्युम्न, जीवन्धर, जम्बूस्वामी आदि कामदेवों के सदृश केवली के सातिशय रूपता का सद्भाव स्वीकार करने पर उनके एक गुण की और वृद्धि अन्यों की अपेक्षा मानना उचित होगा। इस प्रकार सामान्य केवली के ३६ ही गुण मानना उचित नहीं प्रतीत होता है, जैसा कि पूर्व में विवेचन किया जा चुका है।

तीर्थंकर केवली और सामान्य केवली इन दोनों के तो '**अनन्त चतुष्टय**' और '**अष्टप्रातिहार्य**' रहते हैं। बाकी के गुणों का सामान्य केवली में नियम नहीं हैं, वे यथायोग्य जानना चाहिए[1]।

७८. सामान्य केवली भगवान् की गंधकुटी में मानस्तम्भ रहते हैं या नहीं? समाधान—

---

[1] तिलोयपण्णत्ति में लिखा है–

चउतीसातिसय संजुद अट्ठमहापाडिहेरसंजुत्ते।

मोक्खयरे तित्थयरे तिहुवण-णाहे णमंसामि ॥४-९३७॥

अर्थात्-जो चौंतीस अतिशयों को प्राप्त हैं, आठ महाप्रातिहार्यों से संयुक्त हैं, मोक्ष को करने वाले अर्थात् मोक्षमार्ग के नेता हैं और तीनों लोकों के स्वामी हैं, ऐसे तीर्थंकरों को मैं नमस्कार करता हूँ।

जैसे तीर्थंकर केवली के समवसरण में मानस्तम्भ रहते हैं, उसी तरह सामान्य केवलियों की गंधकुटी में भी मानस्तम्भ रहते हैं। सुदर्शन चरित्र में लिखा है कि कुबेर द्वारा सुवर्ण रत्नादिक से युक्त जब गंधकुटी बनकर तैयार हुई थी। उसमें सिंहासन, छत्र, चँवर, ध्वजादि सब शास्त्रोक्त रचना की थी। इसी तरह वहाँ गंधकुटी मानस्तभों से सुशोभित की गई थी। इत्यादि वर्णन सुदर्शन चरित्र में आया है।

७९. सामान्य केवलियों की गंधकुटी में गणधर रहते हैं या नहीं?

समाधान–सुदर्शन चरित्र में लिखा है–

दिव्येन ध्वनिना देवस्तदा सन्मार्गवृत्तये।
धर्मतत्त्वादि विश्वार्थानुवाचेति गणान् प्रति ॥८-७७॥

सामान्य केवलियों के भी गणधर रहते हैं। गणधरों के अभाव में दिव्यध्वनि नहीं खिरती है। इसलिए तीर्थंकर केवली के समान सामान्य केवलियों के भी गणधर रहते हैं।

भगवान् सुदर्शन केवली ने मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिए गणधरों के द्वारा धर्म तथा समस्त तत्त्वस्वरूप को बता दिया था।

८०. समवसरण में विद्यमान सात प्रकार के मुनियों की संख्या–तीर्थंकर केवली भगवान् के समवसरण में केवली, पूर्वधर, शिक्षक, विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी, विक्रियाऋद्धिधारी, अवधिज्ञानी तथा वादी इन सात प्रकार के मुनियों की जो संख्या बताई है वह समवसरण में रहने वालों की है या उनके तीर्थकाल में होने वालों की है ?

समाधान–ऋषभदेव के समवसरण में जितने गणधरादि मुनि प्रत्यक्ष रहते थे उन्हीं की संख्या बताई गई है। यह बात पद्मपुराण के चौथे पर्व में लिखी है। इसी तरह बाकी प्रत्येक तीर्थंकरों के समय के मुनियों की संख्या समझनी चाहिए।

८१. सयोगी जिन कितनी कर्म प्रकृतियों का क्षय करते हैं? समाधान–भगवान् ने घातिया कर्मों की ६३ प्रकृतियों का क्षय किया था। इनमें ५ ज्ञानावरण, ९ दर्शनावरण, २८ मोहनीय तथा ५ अंतराय, मनुष्यायु को छोड़कर शेष तीन आयु तथा १३ नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं। इस सम्बन्ध में धवला टीका का यह कथन भी विचारणीय है "**एदेसु सट्ठि-कम्मेसु खीणेसु सयोगिजिणो होदि, सयोगिकेवली ण किंचि कम्मं खवेदि।**" (भाग १, पृ० २२३) इन कर्मों में साठ प्रकृति कर्मों के क्षय होने पर सयोगी जिन होता है। सयोग केवली किसी कर्म का क्षय नहीं करते हैं।

प्रश्न–सर्वत्र आगम में ६३ प्रकृतियों के क्षय की परम्परा प्रसिद्ध है, तब धवला टीका में ६० प्रकृतियों का क्षय क्यों कहा गया है?

समाधान–तत्त्वार्थ राजवार्तिक में कर्मों के अभाव के यत्नसाध्य तथा अयत्नसाध्य इस प्रकार दो भेद कहे हैं। चरमशरीरी जीव के नरकायु, देवायु तथा तिर्यञ्चायु का सत्त्व न होने से बिना प्रयत्न

के अभाव माना गया है। कहा भी है–''**कर्माभावो द्विविधः,यत्नसाध्योऽयत्न साध्यश्चेति। तत्र चरमदेहस्य नरक तिर्यग्देवायुषामभावोऽयत्न साध्यः**'' (९-३६१ अ० १०, सूत्र २) अतएव सामान्य दृष्टि से विचार कर केवली के ६३ प्रकृतियों का अभाव कहा है। यत्नसाध्य अर्थात् पौरुष द्वारा सम्पादित कर्माभाव को ध्यान में रखकर धवला टीका में ६० प्रकृतियों के अभाव से केवली पद की प्राप्ति प्रतिपादित की गई है।

शेष रही अघाति कर्मों की ८५ प्रकृतियों में से ७२ प्रकृतियों का अयोग केवली के उपांत्य समय में क्षय होता है और शेष १३ प्रकृतियों का क्षय अयोगी के अंतिम समय में होता है। इस दृष्टि से यह खुलासा हो जाता है कि सयोगी जिन के किसी भी कर्म का क्षय नहीं होता है।

८२. अरिहन्त या अर्हत् शब्द गुणवाचक है–अन्य सम्प्रदायों में केवली शब्द के स्थान में जिनेन्द्र देव की अर्हन् या अरिहन्त रूप में प्रसिद्धि है। **ऋग्वेद** में अर्हन्त का उल्लेख आया है ''**अर्हन्इदं दयसे विश्वमम्वम्।**'' मुद्राराक्षस नाटक में 'अर्हन्त के शासन को स्वीकार करेंगे। वे मोह व्याधि के वैद्य हैं, ऐसा उल्लेख आया है। ''**मोहवाहिवेज्जाणं अलिहन्ताणंसासणं पडिवज्जह।**'' हनुमन्त नाटक में लिखा है ''**अर्हन्त इत्यथ जैन शासनरताः**'' जैनशासन के भक्त अपने आराध्य देव को अर्हत् कहते हैं।

यह अरहंत शब्द गुण वाचक है। जो भी व्यक्ति घातिया कर्मों का विनाश करता है, वह अरहन्त बन जाता है। अतः यह शब्द व्यक्तिवाचक न होकर गुणवाचक है।

'**अ**' का अर्थ है '**विष्णु**'। '**अकारो विष्णुनामस्यात्**'' केवली भगवान् केवलज्ञान के द्वारा सर्वत्र व्याप्त हैं अतः '**अ**' का अर्थ होगा केवली भगवान्, '**र**' का अर्थ है राग। कोश में कहा है '**रागेबलेरवे**' इत्यादि, '**हं**' हनन करने वाले का वाचक है। ''**हर्षेच हननेहःस्यात्**''। '**त**' शूरवीर का वाचक है। कहा भी है ''**शूरेचौरे च तः प्रोक्त।**''

धवला ग्रन्थ में '**अरिहंताणं**' पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–**अरिहननात् अरिहंता। नरक-तिर्यक्कु मानुष्य-प्रेता-वासगताशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वात् अरिर्मोहः। तस्यारेर्हननादरिहन्ता।** अर्थात् अरि के नाश करने से अरिहंत हैं नरक, तिर्यञ्च, कुमानुष, प्रेत इन पर्यायों में निवास करने से होने वाले समस्त दुःखों की प्राप्ति का निमित्त कारण होने से मोह को अरि अर्थात् शत्रु कहा है। उस मोह शत्रु का नाश करने से अरिहंत हैं।

अन्य कर्म मोहनीयकर्म के आधीन है, क्योंकि मोहनीय कर्म के बिना शेष कर्म अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होते हैं। बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान की प्राप्ति होने पर अन्त समय में पञ्च ज्ञानावरण, पञ्च अंतराय तथा दर्शनावरण चतुष्टय शीघ्र नष्ट हो जाते हैं और क्षीणमोही आत्मा केवली, स्नातक परमात्मा, जिनेन्द्र बन जाता है।

''**रजोहननाद्वा अरिहन्ता ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरंगान्तरंगाशेष-त्रिकाल-गोचरानन्तार्थ-व्यञ्जनपरिणामात्मक-वस्तुविषय-बोधानुभवप्रतिबंधकत्वात् रजांसि**'' अथवा रज का नाश करने से अरिहंत हैं। ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण रज के समान हैं। बाह्य तथा अंतरंग समस्त त्रिकालगोचर अनंत अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय स्वरूप वस्तुओं को विषय करने वाले बोध तथा अनुभव के प्रतिबंधक होने से वे ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म रज हैं। मोहनीय कर्म भी रज है, क्योंकि जिस प्रकार जिनका मुख भस्म से व्याप्त होता है, उनमें जिस भाव अर्थात् कार्य की मंदता देखी जाती है। उसी प्रकार मोह से जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिम्ह भाव देखा जाता है अर्थात् उनकी स्वानुभूति में कालुष्य, मन्दता या कुटिलता पाई जाती है। इन तीन कर्मों के क्षय के साथ अन्य कर्मों का नाश अवश्यंभावी है। अतएव उक्त रजों के नाश करने से जिनेन्द्र अरिहंत हैं।

रहस्याभावाद्वा अरिहंता। रहस्यमंतरायः तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्ट-बीजवन्निः शक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहंता। रहस्य का अभाव करने से अरिहन्त हैं। अंतराय कर्म रहस्य है। उस अन्तराय कर्म के क्षय का ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा मोहनीय कर्म के क्षय के साथ अविनाभाव है अन्तराय के नाश होने पर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीज के समान शक्ति रहित हो जाते हैं। अतएव अंतराय के क्षय से जिनेन्द्र को अरिहन्त कहते हैं।

जिन भगवान् को अर्हत् भी कहते हैं। ''**अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तःस्वर्गावतरणजन्माभिषेक-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽ-धिकत्वादतिशयानामर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः**—अतिशय युक्त पूजा को प्राप्त होने से अर्हन्त हैं। स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक, परिनिष्क्रमण अर्थात् दीक्षा, केवलज्ञान की उत्पत्ति तथा परिनिर्वाण रूप पाँच कल्याणकों में देवकृत पूजाएँ सुर, असुर, मानवों की पूजाओं से अधिक होने से अतिशयों के अर्ह अर्थात् योग्य होने से अर्हत हैं।

मूलाचार में कहा हैं—

अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।
रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चंदे ॥५०५॥

जो नमस्कार करने योग्य हैं, पूजा के अर्ह अर्थात् योग्य हैं, लोक के देवों में उत्तम हैं। रज अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण के नाश करने वाले हैं अथवा अरि अर्थात् मोहनीय और अंतराय के नाश करने वाले हैं इससे अरिहन्त कहते हैं। टीकाकार आचार्य वसुनंदि सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं ''**येनेह कारणेनेत्थंभूतास्तेनार्हत्तः सर्वज्ञाः सर्वलोकनाथा लोकेऽस्मिन्नुच्यन्ते।** वे इन कारणों से इस प्रकार हैं अतएव उनको अर्हन्त, सर्वज्ञ, सर्वलोक के नाथ, इस लोक में कहते हैं।''

केवली भगवान् को अन्तरंग कर्म क्षय करने की दृष्टि से अरिहन्त कहते हैं। उनकी समवसरण

में शतइन्द्रपूजा करते हैं इस दृष्टि से उनको अरहंत कहते हैं। मूलाचार में कहा हैं :-

अरिहंति वंदण-णमंसणाणि अरिहंति पूय-सक्कारं।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति ॥५६४॥

वन्दना तथा नमस्कार के योग्य हैं, पूजा-सत्कार के योग्य हैं, सिद्धि गमन के योग्य हैं, इससे इन जिनेन्द्र को अरहन्त (अर्हत) कहते हैं।

कभी-कभी यह शंका उत्पन्न होती है कि '**णमो अरिहंताणं**' पाठ ठीक है या '**णमो अरहंताणं** पाठ ठीक है? उपरोक्त विवेचन के प्रकाश में यह विदित होता है कि दोनों पाठ सम्यक् हैं। बृहत् प्रतिक्रमण पाठ के सूत्र में गौतम गणधर बताते हैं ''**सुत्तस्स मूलपदाणमच्चासणदाए**'' अर्थात् आगम के मूल पदों में हीनता कृत जो दोष उत्पन्न हुआ है उसका मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। प्रभाचन्द्राचार्य की टीका में ये शब्द आये हैं-**सूत्रस्य आगमस्य सम्बन्धिनां मूलपदानां प्रधानपदानामत्यासादनता हीनता तस्यां यः कश्चिदुत्पन्नोदोषस्तं प्रतिक्रमितुमिच्छामि।** इसका उदाहरण देते हुए कहते हैं- ''**तं जहा णमोक्कारपदे णमो अरहंताणमित्यादिलक्षणे पञ्चनमस्कार पदे याऽत्यासादनता तस्यां अरहंतपदे** इत्यादि ''**अर्हदादीनां वाचके पदे याऽत्यासादनता तस्यां मङ्गलपदे चत्तारिमङ्गलमित्यादिलक्षणे, लोगुत्तमपदे चत्तारि लोगुत्तमा इत्यादि स्वरूपे सरणपदे चत्तारिसरणं पव्वज्जामि इत्यादिलक्षणे....**'' (पृ० १३९) इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि गौतम स्वामी णमोक्कार पद के द्वारा णमो अरहंताणं इत्यादि पञ्चनमस्कार पद का संकेत करते हैं। इससे यह '**णमो अरहंताणं**' आदि पदरूप नमस्कारमंत्र षट्खंडागम सूत्रकार भूतबलि-पुष्पदंत कृत है यह आधुनिक प्रचार भ्रांत प्रमाणित होता है। इसके पश्चात् '**अरहंतपदे**' शब्द का प्रयोग आया है, अरिहन्तपद शब्द नहीं है। अतएव दोनों पाठ भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सम्यक् है। सूक्ष्म विचार से ज्ञात होगा कि बारहवें गुणस्थान के अंत में भगवान् अरि समूह का नाश करने से अरिहंत हो गए। इसके अनन्तर सुरेन्द्रादि देवगण आकर जब केवलज्ञान कल्याणक की पूजा करते हैं तब '**अरिहंति पूयसक्कार**' इस दृष्टि से उनको अर्हन्त कहेंगे। उसका '**अरहन्त**' रूप प्राकृत भाषा में पाया जाता है।

णमो अरिहंताणं रूप पञ्चनमस्कार मंत्र का भूतबलि-पुष्पदंताचार्य के पहले सद्भाव था। इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं। मूलाराधना नाम की भगवती आराधना पर रचित टीका में पृष्ठ २ पर यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख आया है कि सामायिक आदि अंगबाह्य आगम में तथा लोकबिन्दुसार है, अन्त में जिसके ऐसे चौदह पूर्व साहित्य के आरम्भ में गौतम गणधर ने णमो अरहंताणं इत्यादि रूप से पञ्च नमस्कार पाठ लिखा है। जब गणधरदेव रचित अंग तथा अंगबाह्य साहित्य में णमो अरहंताणं इत्यादि मंगल रूप से कहे गए हैं तो फिर इनकी प्रचलित मान्यता निर्दोष रहती है, जिसमें यह पढ़ा जाता है 'अनादिमूलमंत्रोऽयम्।' मूलाराधना टीका के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं, ''**यद्येवं सकलश्रुतस्य सामयिकादेर्लोकबिन्दुसारान्तस्यादौ मङ्गलं कुर्वद्भिर्गणधरैः णमो**

अरहन्ताणभित्यादिना कथं पंचानां (परमेष्ठिनां) नमस्कारः कृत?''। बृहत्प्रतिक्रमण पाठ में दोष शुद्धि के लिए गौतम गणधर ने यह लिखा है ''**मूलगुणेसु उत्तरगुणेसु अइक्कमो जाव अरहन्ताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकायं (बोसिरामि)** (पृ०१५१)'' टीकाकार पज्जुवास अर्थात् पर्युपासना का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं कि ३२४ उच्छ्वासों द्वारा १०८ बार पञ्च नमस्कार मंत्र का उच्चारण करे। टीकाकार प्रभाचन्द्र आचार्य के शब्द इस प्रकार हैं ''**पज्जुवासंकरेमि-एकाग्रेण हि विशुद्धेन मनसा चतुर्शिंत्युत्तर-शतत्रयाद्युच्छ्वासैरष्टोत्तरशतादिवारान् पञ्चनमस्कारोच्चारणमर्हतां पर्युपासनकरणं तद्यावत् कालं करोमि...**'' पञ्च नमस्कार मंत्र का तीन उच्छ्वासों में पाठ करने का मुनियों के आचार ग्रन्थों में प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तादि के लिए उल्लेख पाया जाता है। मुनि जीवन के लिए जैसे २८ मूलगुण प्राणस्वरूप हैं, इसी प्रकार यह मूलमंत्र भी अत्यन्त आवश्यक है। पैंतीस अक्षरात्मक यह मूल मंत्र जैन उपासक तथा श्रमण जीवन के लिए आवश्यक है। भूतबलि-पुष्पदन्त के पश्चात् इसकी रचना मानना जीवट्ठाण के निबद्ध अनिबद्ध भेद युक्त मंगल चर्चा के आधार पर कहा जाता है। यह भी विचार तर्क संगत नहीं है। जीवट्ठाण की चर्चा पर आदर्श प्रति के आधार से विचार किया जाय, तो विदित होगा कि वीरसेनाचार्य ने स्वयं णमोकारमंत्र को भूतबलि-पुष्पदन्ताचार्य रचित नहीं माना है। अलंकार चिंतामणि में अन्य ग्रन्थकार रचित मंगल को अनिबद्ध मंगल कहा है-''**परकृतमनिबद्धं**''। जीवट्ठाण ग्रन्थ का विशेषण, बाह्य है ''**इदंपुण जीवट्ठाणं णिबद्धमङ्गलं**'' (पृ०४१) भ्रम से लोग **निबद्धं मङ्गलं यस्मिन् तत्**' इस प्रकार अर्थ विस्मरण कर पारिभाषिक निबद्ध मंगल मान बैठते हैं। जीवट्ठाण ग्रन्थ के आदि में मंगल है। ग्रन्थ को ही निबद्ध मंगल कहना असंगत बात होगी। अतः यह अर्थ उचित होगा कि इस जीवट्ठाण ग्रन्थ में मंगल निबद्ध किया है। जब गौतम गणधर ने णमोकार मंत्र को अपने द्वारा निबद्ध आगम ग्रन्थों में लिखा है तब जीवट्ठाण में कथित विवेचन का अविरोधी अर्थ करना विज्ञ व्यक्तियों का कर्त्तव्य है।

८३.अपराजित मूलमंत्र में 'णमो अरहंताणं' को प्रथम स्थान क्यों दिया गया है?

समाधान-पूज्यता की दृष्टि से अष्टकर्मों का क्षय करने वाले सिद्ध भगवान् को प्रणाम रूप '**णमो सिद्धाणं**' पद पहले रखा जाना चाहिए था, किन्तु अपराजित मूल मंत्र में '**णमो अरहंताणं**' को प्रथम स्थान पर रखा है। इसका विशेष रहस्य यह है।

सम्यग्ज्ञान के द्वारा इष्ट पदार्थों की उपलब्धि होती है। उस ज्ञान का साधन शास्त्र हैं। उन शास्त्रों के मूल कर्ता अरहन्त भगवान् हैं। इस कारण जीव मोक्ष प्राप्त कराने वाली जिनवाणी के जनक होने से जिनेन्द्र तीर्थंकर सर्वप्रथम वन्दनीय माने गए हैं, क्योंकि उपकार को न भूलना सत्पुरुषों का मुख्य कर्तव्य है। उपकार करने वाले प्रभु का स्मरण न करने से कृतघ्नता का दोष लगता है। नीच माने जाने वाले पशु तक अपने उपकारी के उपकार को स्मरण रखते हैं, तब विचारवान मनुष्य को तो कृतज्ञता

की मूर्ति बनना चाहिए। उपकृत व्यक्ति की दृष्टि में उपकर्ता का सदा अन्य की अपेक्षा उच्च स्थान माना गया है।

हरिवंशपुराण में एक कथा आई है–चारुदत्त ने मरते हुए बकरे के कान में पञ्च नमस्कार मंत्र दिया था। उस मंत्र से वह बकरा सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वह देव **कुंभकंटक** नामक द्वीप के कर्कोटक पर्वत पर जिन चैत्यालय में विद्यमान मुनिराज के चरणों के समीप स्थित **चारुदत्त** के पास पहुँचा। उस देव ने पहले चारुदत को प्रणाम किया था, मुनिराज की वन्दना बाद में की थी। उस देव ने कहा था "**जिनोधर्मोपदेशकः चारुदत्तो साक्षात् गुरुः**" जिनधर्म का उपदेश देकर मेरी आत्मा का उद्धार करने वाले चारुदत मेरे साक्षात् गुरु हैं, क्योंकि '**दत्तः पञ्चनमस्कारो मरणे करुणावता**' (२१-१५०) उन्होंने करुणापूर्वक मुझे मरण समय पर पञ्च नमस्कार मंत्र प्रदान किया था।

जातोऽहं जिनधर्मेण सौधर्मो बिबुधोत्तमः।
चारुदत्तो गुरुस्तेन प्रथमो नमितो मया ॥२१-१५१॥

जिन धर्म के प्रभाव से मैं सौधर्म स्वर्ग में महान् देव हुआ हूँ। इस कारण मैंने अपने गुरु चारुदत्त को सबसे पहले प्रणाम किया है।

हरिवंशपुराण की यह शिक्षा चिरस्मरणीय है–

अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य वा।
दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशिनम् ॥२१-१५६॥

एक अक्षर का अथवा एक पद का या पदार्थ के दाता को विस्मरण करने वाला पापी है, तब फिर धर्म के उपदेशक को भूलने वाला महान् पापी क्यों न होगा?

इस कथन के प्रकाश में अरहन्त भगवान् का अनन्त उपकार सर्वदा स्मरणीय है और उनके चरण युगल सर्वप्रथम वन्दनीय हैं।

आचार्य वीरसेन ने अरहन्त भगवान् के सम्बन्ध में यह सुन्दर गाथा श्री धवल टीका, भाग १, पृ०४५ में उद्धृत की है–

तिरयणं तिसूल धारिय मोहंधासुरकबंधविंदहरा।
सिद्धसयलप्परुवा अरहंता दुण्णयकयंता॥

जिन्होंने रत्नत्रय रूप त्रिशूल को धारण कर मोहरूपी अंधकासुर के कबंध वृन्द का हरण किया है और अपने सकल आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, वे मिथ्यापक्षों के विनाश करने वाले अरहन्त भगवान् हैं।

मूलाचार में लिखा है कि ये अरहन्त भगवान् जगत् में त्रिविधतम अर्थात् तीन प्रकार के अन्धकारों से विमुक्त हैं, इस सम्बन्ध की गाथा विशेष महत्त्वपूर्ण हैं–

मिच्छत्तवेदणीयं णाणावरणं चरित्तमोहं च।
तिविहा तमाहु मुक्का तम्हा ते उत्तमा होंति ॥५६७॥

ये चौबीस तीर्थंकर लोक में उत्तम कहे गए हैं, क्योंकि ये मिथ्यात्व-वेदनीय, ज्ञानावरण तथा चारित्र मोहनीय इन तीन प्रकार के अंधकारों से मुक्त हैं। संस्कृत टीकाकार वसुनंदि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लिखा है-''**त्रिविधं तमस्तमात् मुक्ता यतस्तस्मात्ते उत्तमाः प्रकृष्टा भवन्ति।**'' इसका भाव यह है कि अरहन्त भगवान् मिथ्यात्व अंधकार से रहित होने से सम्यक्त्व ज्योति से शोभायमान हैं। ज्ञानावरण के क्षय होने से केवलज्ञान समलंकृत हैं। चारित्रमोह के अभाव होने से परम यथाख्यातचारित्र संयुक्त हैं। मिथ्यात्व, अज्ञान तथा असंयमरूप अंधकार के होते हुए यह जीव परमार्थ दृष्टि से उत्तम (उत् अर्थात् रहित+तम=अंधकार) अर्थात् अन्धकार रहित नहीं कहा जा सकता है। लोक में श्रेष्ठ पदार्थ को उत्तम कहते हैं। तत्त्वदृष्टि से मुमुक्षु जीव अरहन्त भगवान् को उत्तम अर्थात् उत्तम मानता है।

मोहनीय कर्म पाप प्रकृति है। उसके भेद राग भाव को भी पाप रूप मानना होगा, किन्तु वह रागभाव अरहन्त भगवान् के विषय में होता है तो वह जीव को कुगतियों से बचाकर परम्परा से मोक्ष का कारण हो जाता है, अतः मूलाचार में ''**अरहंतेसु य राओ........एसो पसत्थराओ**'' अरहन्तों में किया गया राग प्रशस्त राग अर्थात् शुभ राग कहा है (देखो गाथा ५७२, ५७३, षडावश्यक अधिकार)

इन अरहन्तों को नमस्कार करने से जीव सम्पूर्ण दुःखों से छूट जाता है। जो यह सोचते हैं कि अरहन्त का स्मरण करने से मन में राग भाव होता है, वह बन्ध का वर्धक ही होगा। उससे आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता है। यह धारणा सद्विचार, विवेक तथा आगम के प्रकाश में भ्रम मूलक प्रमाणित होती है। वीतराग की भक्ति के द्वारा आत्मा में लगा हुआ अनादिकालीन मोहज्वर दूर हो जाता है। धर्मशर्माभ्युदय में एक सुन्दर बात कही गई है। जिनेन्द्रदेव के चरण कमल की भक्ति रज से कषाय मैल से मलिन अन्तःकरण रूप दर्पण को माँजने से वह आत्म दर्पण स्वच्छ हो जाता है और तब उस आत्म दर्पण में समस्त चराचर जगत् की वस्तुएँ प्रतिबिम्बित होने लगती हैं।

इस अरहन्त नमस्कार रूप '**णमो अरहंताणं**' पद का महत्त्व इस गाथा में कहा है-देखो मूलाचार-

अरहंत णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥५०६॥

जो व्यक्ति सावधान होकर भक्ति भाव से अरहन्त भगवान् को नमस्कार करता है, वह मानव शीघ्र ही समस्त दुःखों से छूट जाता है।

८४. तीर्थंकर के केवली अवस्था में नौ केवल लब्धियाँ अर्थात् भोगोपभोग आदि के सद्भाव होने का क्या रहस्य है ?

समाधान—केवली भगवान् को ९ परम केवल लब्धियाँ प्राप्त होती हैं–

१. दर्शनावरण कर्म के क्षय होने से अनन्तदर्शन-क्षायिकदर्शन की प्राप्ति होती है।

२. ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से अनन्तज्ञान-क्षायिकज्ञान की प्राप्ति होती है।

३. वीर्यान्तराय कर्म के क्षय होने से अनन्तवीर्य-क्षायिकवीर्य की प्राप्ति होती है।

४. चारित्र मोहनीय के क्षय होने से अनन्तसुख-क्षायिक चारित्र की प्राप्ति होती है।

५. दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय होने से अनन्त दर्शन-क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

६. दानान्तराय कर्म के क्षय होने से क्षायिक दान की प्राप्ति होती है।

७. लाभान्तराय कर्म के क्षय होने से क्षायिक लाभ की प्राप्ति होती है।

८. भोगान्तराय कर्म के क्षय होने से क्षायिक भोग की प्राप्ति होती है।

९. उपभोगान्तराय कर्म के क्षय होने से क्षायिक उपभोग की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार चार घातिया कर्मों के क्षय से नौ परम केवल लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। इन्हीं को जीव के असाधारण क्षायिक भाव भी कहते हैं।

प्रश्न—जिस समय तीर्थंकर भगवान् ने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की थी, उस दीक्षा के समय वे भगवान् सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग कर चुके थे, तब उनके केवलज्ञान अवस्था में भोग उपभोग के सद्‌भाव होने का क्या रहस्य है? इसी प्रकार पदार्थों के अभाव में उनमें दान के कथन का क्या भाव है?

समाधान—जो पदार्थ एक बार सेवन में आता है, उसे भोग कहते हैं। जैसे—पुष्पमाला। जो अनेक बार भोगने में आता है, उसे उपभोग कहते हैं। जैसे—वस्त्र। भगवान् परम वीतरागी होने से सम्पूर्ण परिग्रह के पाप से उन्मुक्त हैं, फिर भी तीर्थंकर प्रकृति के विपाक काल में वैभव तथा विभूति की इतनी वृद्धि होती है कि संसार में उन तीर्थंकर के समान कोई वैभव वाला नहीं है, फिर भी आंतरिक त्याग के अनुकूल वे उस वैभव से दूर रहते हैं। उस वैभव का उपभोग तो दूसरी बात है, स्पर्श भी नहीं करते हैं। अनन्त अतीन्द्रिय आत्मोत्थ आनन्द का रसास्वाद आने से उन वीतराग प्रभु की दृष्टि कर्माधीन सुख की ओर से पूर्ण विमुख है।

राजवार्तिक में लिखा– ''सम्पूर्ण भोगान्तराय के तिरोभाव हो जाने से अतिशयों का आविर्भाव होने से भगवान् के क्षायिक अनंत भोग होता है। इसके फलस्वरूप पंच वर्ण युक्त सुगन्धित पुष्पों की वर्षा, चरणों के निक्षेप के स्थान में अनेक प्रकार की दिव्य गंध युक्त सात कमलों की पंक्ति, सुगन्धित धूप, सुखद और शीतल पवनादिक प्राप्त होते हैं।'' **''कृत्स्नस्य भोगांतरायस्य तिरोभावादाविर्भूतो अतिशयवाननंतो भोगः क्षायिको, यत्कृताः पञ्चवर्णसुरभि कुसुमवृष्टिविविधदिव्यगंधचरण**

निक्षेपस्थानसप्तपद्मपंक्ति सुगंधितधूपसुखशीतमारूतादयो भावाः।''

क्षायिक उपभोग के विषय में आचार्य का कथन है–''परिपूर्ण रूप से उपभोगान्तराय कर्म के नाश होने से उत्पन्न होने वाला अनन्त उपभोग क्षायिक है। इसके कारण सिंहासन, बालव्यजन (पंखा) अशोक वृक्ष, छत्रत्रय, प्रभामण्डल, गम्भीर तथा मधुर शब्द रूप परिणमन होने वाली देवदुन्दुभि आदि पदार्थ होते हैं ''**निरवशेषस्योपभोगान्तरायकर्मणः प्रलयात्प्रादुभूतोऽनंत उपभोगः क्षायिको, यत्कृताः सिंहासन–बालव्यजन अशोकपादप–छत्रत्रय–प्रभामण्डल–गम्भीरस्निग्धस्वरपरिणाम–देवदुन्दुभि प्रभृतयो भावाः'' (पृ० ७३)**

भगवान् के द्वारा दिए जाने वाले क्षायिकदान पर अकलंक स्वामी इस प्रकार प्रकाश डालते हैं 'दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय होने से उत्पन्न होने वाला त्रिकाल गोचर अनन्त प्राणीमात्र का अनुग्रह करने वाला क्षायिक अभयदान होता है। ''**दानान्तरायस्य कर्मणोऽत्यन्त संक्षयादाविर्भूतं त्रिकालगोचरानन्त–प्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानं**'' (पृ०७३) जिनेन्द्र भगवान् के कारण अनंत जीवों को जो कल्याणदायी तथा अविनाशी सुख का कारण अभयदान प्राप्त होता है, उसकी तुलना संसार में नहीं की जा सकती है। अन्य दानों का सम्बन्ध शरीर तक ही सीमित है। यह वीतराग प्रभु का दान आत्मा को अनंत दुःखों से निकाल कर अविनाशी उत्तम सुख में स्थापित करता है। यह सामर्थ्य अलौकिक है।

८५. सिद्ध भगवान् में अभयदानादिक का सद्भाव कैसे सिद्ध होगा? समाधान—उक्त दानादि का सिद्धों में कैसे सद्भाव सिद्ध होगा? इस प्रश्न के उत्तर में अकलंक स्वामी कहते हैं ''**शरीरनाम कर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्तेषां तदभावे तदप्रसंगः परमानंताव्याबाधरूपेणैव तेषां च तत्र वृत्तिः केवलज्ञानरूपेणानंतवीर्यवत्**''—उक्त रूप से अभयदानादि के लिए शरीरनामकर्म के उदय की अपेक्षा पड़ती है। सिद्ध भगवान् के शरीर नामकर्म के उदय का अभाव होने से उक्त प्रकार के अभयदानादि का प्रसंग नहीं आयेगा। जिस प्रकार केवलज्ञान रूप से उन सिद्धों में अनन्तवीर्य गुण माना जाता है अर्थात् अनन्तवीर्य के साथ केवलज्ञान का अविनाभाव सम्बन्ध होने से केवलज्ञान होने से अनन्तवीर्य का सद्भाव सिद्ध होता है, उसी प्रकार उक्त अभयदानादि भावों का समावेश करना चाहिए।

आत्मा में अनन्त शक्ति है, जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होती है। यह शक्ति आत्मा कि स्तुति नहीं है, किन्तु वास्तव में युक्ति द्वारा यह शक्ति सिद्ध होती है। पं० आशाधरजी ने सागार धर्मामृत में लिखा है कि आत्मा अपने स्वरूप में निमग्न होकर त्रिभुवन विजेता काम को जीतती है, इसलिए आत्मा में अनंत शक्ति का सद्भाव मानना अतिशयोक्ति नहीं है, किन्तु यह वास्तविक बात है। आचार्य कल्प पं. आशाधरजी का अभिप्राय यह है कि जगत् भर में सुर, नर, पशु, देव, दानव आदि तथा अन्य सम्प्रदायों में पूज्य माने गए उनके भगवान् आदि भी कामवासना के कारण स्त्री का

परित्याग करने में असमर्थ हैं। इतना प्रभाव इस काम भाव का है, जिसका स्वानुभव में निमग्न जिन भगवान् ने जड़मूल से नाश कर दिया है, अतएव अनन्त जीवों पर शासन करने वाले काम के विध्वंसक जिनेन्द्रदेव में अनन्तवीर्य का सद्भाव मानना पूर्णतया युक्तिसंगत है।

८६. समवसरण में तीर्थंकर प्रभु का कौन-सा आसन रहता है ?

समाधान—समवसरण में तीर्थंकर प्रभु का आसन पद्मासन रहता है।

प्रश्न—भगवान् भव्य जीवों के संताप दूर करने के लिए जो विहार करते हैं, उस समय उनके पैरों को उठाकर डग भरते हुए गमन को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् के इस प्रकार की क्रिया का सद्भाव स्वीकार करना इच्छा के अस्तित्व का संदेह उत्पन्न करता है तो वास्तव में क्या है? **समाधान**—मोहनीय कर्म का अत्यन्त क्षय हो जाने से जिनेन्द्र भगवान् के इच्छा का पूर्णतया अभाव हो चुका है, फिर भी उनके शरीर में जो क्रिया होती है, वह अबुद्धि पूर्वक स्वभाव से होती है। प्रवचनसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है–

ठाणणिसेज्जविहार-धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥१.४४॥

अरहन्त भगवान् के केवली अवस्था में खड़े होना, पद्मासन से बैठना, विहार करना तथा धर्मोपदेश देना, ये सब कार्य स्वभाव से ही पाये जाते हैं। जिस प्रकार स्त्रियों में माया परिणाम स्वभाव से होता है।

जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव की दिव्य देशना इच्छा के बिना होती है, उसी प्रकार उनके शरीर में खड़े रहना, बैठना तथा विहार करना आदि कार्य इच्छा के बिना ही होते हैं।

समवसरण में विहार के पश्चात् अरहन्त भगवान् खड्गासन में रहते हैं या उनके पद्मासन हो जाता है?

समाधान—विहार के पश्चात् समवसरण में भगवान् अरहन्त पद्मासन से विराजमान रहते हैं। हरिवंशपुराण में लिखा है कि महावीर भगवान् के दर्शनार्थ चतुरंग सेना से समन्वित सम्राट् श्रेणिक ने सिंहासन पर विराजमान वीर भगवान् के दर्शन कर उनको प्रणाम किया था। श्लोक में '**सिंहासनोपविष्ट**' शब्द का अर्थ है सिंहासन पर बैठे हुए। मूल श्लोक इस प्रकार है–

सिंहासनोपविष्टं तं सेनया चतुरंगया।
श्रेणिकोऽपि च संप्राप्तः प्रणनाम जिनेश्वरम् ॥२-७१॥

इस प्रकरण में यह बात ज्ञातव्य है कि वीर भगवान् ने कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष प्राप्त किया है। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है–

उसहो य वासुपुज्जो णेमी पल्लंक बद्धया सिद्धा।
काउस्सग्गेण जिणा सेसा मुत्तिं समावण्णा ॥४-१२२१॥

ऋषभनाथ भगवान्, वासुपूज्य स्वामी तथा नेमिनाथ भगवान् ने पल्यंक बद्ध आसन से मोक्ष प्राप्त किया है।

शान्तिनाथ पुराण में लिखा है कि समवसरण में शांतिनाथ भगवान् का पल्यंकासन था। कहा भी है–

श्रेष्ठषष्ठोपवासेन धवले दशमीदिने।
पौषमास दिनस्यान्ते पल्यंकासनमास्थितः ॥९२॥
निर्ग्रंथो नीरजो वीतविघ्नो विश्वैकबांधवः।
केवलज्ञानसाम्राज्यश्रिया शान्तिमशिश्रियत् ॥९३॥

धर्म शर्माभ्युदय में लिखा है कि धर्मनाथ तीर्थंकर समवसरण में बैठे हुए थे। कहा भी है–

रत्नज्योतिर्भासुरे तत्रपीठे तिष्ठन् देवः शुभ्रभामण्डलस्थः।
क्षीरांभोधेः सिच्यमानः पयोभिर्भूयोरेजे कांचनाद्राविवोच्चैः ॥२०-९२॥

तिलोयपण्णत्ति के उपरोक्त कथन के प्रकाश में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि धर्मनाथ, शांतिनाथ तथा महावीर भगवान् को मोक्ष कायोत्सर्ग आसन से हुआ है, किन्तु समवसरण में वे पद्मासन से विराजमान रहते थे। अतएव केवलज्ञान होने पर समवसरण में तीर्थंकर भगवान् को पद्मासन मुद्रा में विराजमान मानना उचित है। सिंहासन रूप प्रातिहार्य अर्हत् भगवान् के पाया जाता है। उस पर कायोत्सर्ग आसन से रहने की कल्पना उचित नहीं दिखती है।

एक बात यह भी विचारणीय है कि द्वादश सभाओं में समस्त जीव बैठे रहे और भगवान् खड़े रहे, ऐसा मानने पर भक्त भव्य जीवों पर अविनय का दोष आये बिना न रहेगा। तीनलोक के नाथ खड़े रहे उनके चरणों के सेवक जीव बैठे रहें।

ज्ञानार्णव में पिंडस्थध्यान के प्रकरण में सिंहासन पर पद्मासन से विराजमान जिनेन्द्रदेव के स्वरूप चिंतन करने का कथन आया है। अतः यह बात आगम तथा युक्ति के अनुकूल है कि समवसरण में भगवान् सिंहासन पर पद्मासन से विराजमान रहते हैं। विहार में कायोत्सर्ग आसन होता है। उसके पश्चात् पद्मासन हो जाता है। आसन में परिवर्तन मानने में कोई बाधा नहीं हैं।

८७. ऋषभनाथ तीर्थंकर प्रभु की दिव्यध्वनि और गणधर का अभाव—भगवान् ऋषभनाथ प्रभु को जब केवलज्ञान प्राप्त हुआ था तब उनके उपदेश के पूर्व साधारण लोग धर्म तत्त्व से पूर्ण अपरिचित थे, अतः समवसरण के निर्माण होने पर भी गणधर कौन बनेगा और कौन भगवान् की दिव्यध्वनि को झेलेगा। कर्मभूमि के प्रारम्भ की अवस्था को दृष्टि में रखने वाले के समक्ष सम्पूर्ण

परिस्थिति का चित्र उपस्थित हो जायेगा। इस प्रसंग में महापुराण से एक महत्त्वपूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। उससे सर्व प्रकार की कठिनताएँ सहज ही सुलझ जायेंगी। जिस प्रकार वैशाख सुदी दशमी को महावीर भगवान् को केवलज्ञान हो जाने पर ६६ दिन तक दिव्यध्वनि उत्पन्न नहीं हुई थी, यद्यपि सर्व सामग्री का समुदाय वहाँ विद्यमान था। जयधवला टीका में कहा है कि उस समय गणधर देव रूप कारण का अभाव था '**गणिंदाभावादो**' (पृ० ७६)। गणधरदेव की उपलब्धि होने पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा की प्रभात बेला में वीर जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि खिरी थी। इससे भी कठिन परिस्थिति उस कर्मभूमि के प्रारम्भ काल में थी, जब भगवान् आदिनाथ ने तपश्चर्या द्वारा कैवल्य ज्ञान लक्ष्मी प्राप्त की थी। यदि लोग धर्म तत्त्व के ज्ञाता होते तो मुनि अवस्था में भगवान् को छह माह तक आहार प्राप्ति के निमित्त क्यों भटकना पड़ता? इस प्रकार की कठिन स्थिति मन में विविध शंकाओं को उत्पन्न करती है।

महापुराणकार कहते हैं कि भरत महाराज को धर्माधिकारी पुरुष से यह समाचार प्राप्त हुआ, कि आदिनाथ भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। आयुध शाला के रक्षक से ज्ञात हुआ कि आयुध शाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है तथा कंचुकी से ज्ञात हुआ कि राज भवन में पुत्र उत्पन्न हुआ है।

धर्मस्थाद् गुरुकैवल्यं चक्रमायुधपालतः।
गुरोः कैवल्यसंभूतिं सूतिं च सुतचक्रयोः ॥२४-२॥

भरतेश्वर ने पहले धर्म पुरुषार्थ की आराधना करना कल्याणदायी सोचा '**कार्येषु प्राग्विधेयं तद्धर्म्यं श्रेयोनुबंधि यत्।**' (८) इससे भरत महाराज सपरिवार पुरिमतालपुर जाने को उद्यत हुए। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि फाल्गुन कृष्ण एकादशी के पूर्वाह्न काल में उत्तराषाढ़ नक्षत्र के रहते हुए आदिनाथ भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था (४-६७९) प्रभु के समवसरण की भूमि सूर्य मण्डल के समान गोल इन्द्रनील मणिमयी तथा बारह योजन प्रमाण विस्तार वाली थी। केवलज्ञान उत्पन्न होते ही भगवान् का परम औदारिक शरीर पृथ्वी से पाँच हजार धनुष ऊँचाई पर चला गया था। भरत महाराज ने सुवर्ण निर्मित बीस हजार सीढ़ियों पर से शीघ्र ही समवसरण में प्रवेश किया था।

पुण्यशाली महाराज भरत ने पद्मासन से विराजमान उन अन्तर्यामी आदिनाथ प्रभु की प्रदक्षिणा दी। श्रेष्ठ समग्री से उन देवाधिदेव की अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा की। पूजा के उपरान्त उनको प्रणाम किया और उनका मंगल स्तवन करते हुए कहा –

त्वं शंभुः शंभवः शंयुः शंवदः शंकरो हरः।
हरिर्मोहासुरारिश्च तमोरिर्भव्यभास्करः ॥२४-३६॥

हे भगवन्! आप ही शम्भु हैं, शंभव अर्थात् सुख को उत्पन्न करने वाले हैं, शंयु अर्थात् सुखी

है, शंवद अर्थात् सुख या शान्ति का उपदेश देने वाले हैं, शंकर अर्थात् शांति के करने वाले हैं, हर हैं, मोहरूपी असुर के शत्रु हैं, हरि हैं अज्ञानरूप अन्धकार के अरि हैं और भव्य जीवों के लिए उत्तम सूर्य हैं।

भरतेश्वर जिनेन्द्रदेव के गुण स्तवन के सिवाय नाम कीर्तन को भी आत्म निर्मलता का कारण मानते हुए कहते हैं–

तदास्तां ते गुणस्तोत्रं नाममात्रं च कीर्तितम्।
पुनाति नस्ततो देव त्वन्नामोद्देशतः श्रिताः॥ २४-६८॥

हे देव! आपके गुणों का स्तोत्र करना तो दूर रहा, आपका उच्चारण किया हुआ नाम भी हम लोगों को पवित्र कर देता है अतएव हम आपका नाम लेकर ही आपकी शरण को प्राप्त होते हैं।

८८. भरतचक्रवर्ती के निमित्त से भगवान् की दिव्यध्वनि खिरना—वृषभात्मज भरतेश्वर जगत् पिता वृषभ जिनेश्वर की स्तुति के उपरान्त श्री मण्डप में जाकर अपने योग्य सभा में जा बैठे। पश्चात् विनयपूर्वक भरत महाराज ने जिनराज से प्रार्थना की–

भगवन् बोद्धुमिच्छामि कीदृशस्तत्त्वविस्तरः।
मार्गो मार्गफलं चापि कीदृश तत्त्वविदांवर ॥२४-७९॥

हे भगवन्! तत्त्वों का स्पष्ट स्वरूप किस प्रकार है? मार्ग तथा मार्ग का फल कैसा है? हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ देव! मैं आपसे सब सुनना चाहता हूँ।

भाग्यशाली, भक्त भव्य शिरोमणि भरतराज के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने समस्त सप्त तत्त्वों का, रत्नत्रय मार्ग तथा उसके फलस्वरूप निर्वाण आदि का अपनी दिव्यवाणी के द्वारा निरूपण किया। सर्वज्ञ, वीतराग तथा परम हितोपदेशी जिनेन्द्र देव की वाणी की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है? सम्राट् भरत ने भगवान् के श्रीमुख से मुनि दीक्षा लेते समय सांत्वना के शब्द सुने थे, उसके पश्चात् अब फिर प्रभु की प्रिय मधुर तथा शान्तिदायिनी वाणी सुनने में आई। समवसरण में विद्यमान भव्य जीवों को अवर्णनीय आनन्द तथा प्रकाश की उपलब्धि हुई। चिर पिपासित चातक के मुख में मेघ बिन्दु पड़ कर जैसी प्रसन्नता उत्पन्न करती है, ऐसी ही प्रसन्नता प्रभु की वाणी को सुनकर, समवसरण के भव्य जीवों को प्राप्त हुई थी। प्रभु की वाणी का सम्राट् भरत पर क्या प्रभाव पड़ा। इस पर महापुराणकार इस प्रकार प्रकाश डालते हैं–

ततः सम्यक्त्वशुद्धिं च व्रतशुद्धिं च पुष्कलाम्।
निष्कलात् भरतो भेजे परमानंदमुद्वहन् ॥२४-१६३॥

भगवान् की दिव्य देशना को सुनकर सम्राट् भरत ने परम आनन्द को प्राप्त होते हुए सम्यक्त्व शुद्धि तथा व्रतों के विषय में परम विशुद्धता प्राप्त की।

भरत महाराज ने भगवान् की आराधना कर सम्यग्दर्शन रूप मुख्य मणि सहित व्रत और शीलों से समलंकृत निर्मल माला अपने कंठ में धारण की, जो मुक्ति श्री के कंठहार के समान लगती थी। अर्थात् भरत महाराज ने बारह व्रतों द्वारा अपना जीवन अलंकृत किया था। इस कारण वे सम्राट् भरत सुसंस्कृत मणि के समान देदीप्यमान होते थे।

भगवान् की दिव्यवाणी सुनकर बारहवें कोठे में स्थित पशुओं के मध्य में स्थित मयूरों को बड़ा हर्ष हुआ, क्योंकि जिनेन्द्र की मधुर वाणी उन मयूरों को अत्यन्त प्रिय मेघ की ध्वनि समान सुनाई पड़ी थी। महाकवि जिनसेन स्वामी कहते हैं–

दिव्यध्वनिमनुश्रुत्य जलद-स्तनितोपमम्।
अशोक-विटपारूढाः सस्वनु-र्दिव्यबर्हिणः॥ २४-१६९॥

मेघ की गर्जना के समान भगवान् की दिव्यध्वनि को सुनकर अशोक वृक्ष की शाखाओं पर स्थित दिव्य मयूर भी आनन्द से मानों शब्द करने लग गए थे।

८९. ऋषभनाथ तीर्थंकर के प्रथम गणधर वृषभसेन—भगवान् की दिव्य देशना से भरत महाराज के छोटे भाई पुरिमतालपुर (वर्तमान प्रयाग) के स्वामी वृषभसेन की आत्मा अत्यधिक प्रभावित हुई। वृषभ पिता की कल्याणमयी आज्ञा को ही मानो शिरोधार्य करते हुए वृषभ पुत्र ने मोक्ष के साक्षात् मार्गस्वरूप महाव्रतों को अंगीकार कर मुनि पदवी प्राप्त की और सप्तऋद्धि से शोभायमान होकर प्रथम गणधरपद की प्रतिष्ठा प्राप्त की। उनके विषय में महापुराणकार के सर्ग २४ में यह शब्द हैं–

योऽसौ पुरिमतालेशो, भरतस्यानुजः कृती।
प्राज्ञः शूरः शुचिर्धीरो, धौरेयो मानशालिनाम् ॥१७१॥
श्रीमान्वृषभसेनाख्यः प्रज्ञापारमितो वशी।
स सम्बुध्य गुरोः पार्श्वे दीक्षित्वाऽभूद् गणाधिपः॥१७२॥

उसी समय कुरुवंश के शिरोमणि, महाराज श्रेयांस, महाराज सोमप्रभ तथा अन्य राजाओं ने मुनिदीक्षा धारण कर वृषभसेन स्वामी के समान गणनायकों के पद प्राप्त किए।

जिस सर्व परिग्रहत्याग वृत्ति को सिंहवृत्ति मानकर शृगाल स्वभाव वाले जीव डरा करते हैं, उस पदवी को निर्भय होकर धारण करने में लोगों का साहस वृद्धिंगत हो रहा था। भरत महाराज की छोटी बहिन ब्राह्मी ने कुमारी अवस्था में ही वैराग्य भाव जागृत हो जाने से आर्यिका की श्रेष्ठ पदवी प्राप्त की।

गुरुदेव के अनुग्रह से कुमारी ब्राह्मी ने दीक्षा लेकर आर्याओं के मध्य गणिनी का पद प्राप्त किया था। आर्यिका ब्राह्मी की देवताओं ने पूजा की थी।

बाहुबली कुमार की सगी बहिन कुमारी सुन्दरी ने भी बहिन ब्राह्मी के समान जिन दीक्षा धारण

कर नारी जाति को गौरवान्वित किया था। उस समय श्रुतकीर्ति नामक गृहस्थ ने श्रावकों के उच्च व्रत ग्रहण किए थे। वह देशव्रती श्रावकों में प्रमुख था।

भरत के भाई अनंतवीर्य कुमार ने भी भगवान् से मुनिदीक्षा लेकर अपूर्व विशुद्धता प्राप्त की इस युग में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जाने वाले पूज्य पुरुषों में अनन्तवीर्य भगवान् का सर्वोपरि स्थान है। कहा भी है–

संबुद्धोऽनंतवीर्यश्च, गुरोः संप्राप्तदीक्षणः।
सुरैरवाप्तपूजर्धिरग्रिमो मोक्षवतामभूत् ॥१४-१८१॥

कुमार अनन्तवीर्य ने प्रतिबोध को प्राप्त करने के पश्चात् भगवान् से दीक्षा ली। देवों के द्वारा पूजा को प्राप्त वे अनंतवीर्य इस अवसर्पिणी काल में मोक्ष जाने वालों में अग्रणी हुए हैं।

भगवान् के साथ दीक्षा लेने वाले तथा पश्चात् भ्रष्ट हुए समस्त राजाओं ने भगवान् की वाणी को सुनकर अपने मिथ्यात्व का परित्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की। मरीचिकुमार का संसार भ्रमण अभी समाप्त नहीं हुआ था, अतः उस मरीचिकुमार ने मिथ्यामार्ग का आश्रय नहीं छोड़ा कहा भी है–

मरीचिवर्ज्याः सर्वेऽपि, तापसास्तपसि स्थिता।
भट्टारकान्ते संबुध्य, महाप्राव्राज्येऽवस्थिताः॥

मरीचिकुमार को छोड़कर शेष सभी कुलिंगी साधुओं ने भट्टारक ऋषभदेव के समीप प्रतिबोध को प्राप्त कर महाप्राव्रज्य अर्थात् पञ्च महाव्रतों की दीक्षा ग्रहण की।

भरत महाराज सदृश महान् ज्ञानी के छोटे भाई, छोटी बहिन कुमारी ब्राह्मी आदि ने दीक्षा ली, किन्तु भरत महाराज अयोध्या को लौट गए और दिग्विजय आदि सांसारिक चिंताओं में संलग्न हो गए, क्योंकि उनके परिग्रह परित्याग की पुण्य वेला अभी समीप नहीं आई थी। जब काललब्धि का योग मिला तो दीक्षा लेकर भरत सम्राट् शीघ्र ही ज्ञान साम्राज्य के स्वामी बन गए। मुनि पदवी लेने के पश्चात् उन्हें फिर पारणा करने तक का भी प्रसंग नहीं प्राप्त हुआ। उत्तरपुराण का यह कथन कितना अर्थ पूर्ण है–

आदितीर्थकृतो ज्येष्ठपुत्रो राजसु षोडशः।
ज्यायाँश्चक्री मुहूर्तेन मुक्तो यं कैस्तुलांव्रजेत्॥७४-४९॥

आदिनाथ तीर्थंकर के ज्येष्ठ पुत्र, सोलहवें मनु प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज ने अंतर्मुहूर्त के अनन्तर ही केवलज्ञान प्राप्त किया था। उनकी बराबरी संसार में कौन कर सकता है?

९०. तीर्थंकर भगवान् में लक्ष्मी और सरस्वती की मैत्री पाई जाती है। संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि सरस्वती और लक्ष्मी में इतना विरोध है कि किसी भी पुरुष में दोनों का एक साथ

निवास नहीं पाया जाता है। तीर्थंकर भगवान् में इन दोनों की मैत्री स्पष्ट नयन गोचर होती है। समन्तभद्र स्वामी ने पद्मप्रभ भगवान् के स्तवन में कहा है कि जिनेन्द्र देव ने सरस्वती तथा पद्मा अर्थात् लक्ष्मी को मुक्ति श्री के अभिमुख होने के पहले धारण किया था। **''बभार पद्मां च सरस्वतीं च भवान् पुरस्तान् प्रतिमुक्तिलक्ष्याः''**

९१. अचेल अवस्था या दिगम्बरत्व—विविध धर्मों के साहित्य में जो अचेल या दिगम्बरत्व के पोषक वाक्य मिलते हैं, उसका कारण यह प्रतीत होता है कि इन समस्त देशों के विद्वानों ने दिगम्बर अवस्था में जिनेन्द्र देव के अवश्य दर्शन किए थे। प्रचुर शीत परिपूर्ण तथा हिमाच्छादित देशों के साहित्य में भी दिगम्बर वृत्ति के प्रति आदरपूर्ण भाव प्रदर्शन का असली रहस्य यह रहा है कि सभी तीर्थंकर मुनि अवस्था में निर्ग्रन्थ थे, श्वेताम्बरों की मान्यतानुसार निर्ग्रन्थपने का दिगम्बर पन से रहित अर्थ करना असंगत है, क्योंकि वस्त्रों के होते हुए श्रेष्ठ अहिंसा वृत्ति का पालन करना असंभव है। वस्त्रादि के प्रति मूर्च्छा रूप अन्तरंग परिग्रह भाव तो रहेगा ही, साथ में द्रव्य हिंसा का भी दोष नहीं टाला जा सकता है। वस्त्रों को स्वच्छ करते समय सतत् अनन्त जलकायिक जीवों का विनाश भी अवश्यंभावी है।

९२. योगनिरोध के बाद समवसरणादि की स्थिति—भगवान् आदिनाथ को सिद्धालय प्राप्त करने में जब चौदह दिन शेष रह गए तब वे प्रभु आदिनाथ कैलाशगिरि पर आ गए। कैलाश पर्वत पर प्रभु पद्मासन से विराजमान हुए, जिस दिन योग निरोध कर भगवान् अष्टापद अर्थात् कैलाश पर्वत पर विराजमान हुए। उसी दिन भरत चक्रवर्ती ने स्वप्न में देखा कि–

तदाभरतराजेन्द्रो महामंदरभूधरं।
आप्राग्भारं व्यलोकिष्ट स्वप्ने दैर्ध्येण संस्थितं॥४७-३२२॥

महा मंदराचल अर्थात् सुमेरु पर्वत वृद्धि को प्राप्त होता हुआ प्राग्भार पृथ्वी अर्थात् सिद्धलोक तक पहुँच गया है।

युवराज अर्ककीर्ति ने स्वप्न में देखा, एक महौषधि का वृक्ष स्वर्ग से आया था। मनुष्यों का जन्म-रोग नष्ट कर वह पुनः स्वर्ग में चला गया। गृहपति रत्न ने देखा कि एक कल्पद्रुम स्वर्ग प्राप्ति के लिए समुद्यत है। चक्रवर्ती के प्रमुख मंत्री ने देखा कि एक रत्नों का दीपक जीवों को ज्ञान रत्न देने के पश्चात् आकाश में जाने के लिए उद्यत हो रहा है। सेनापति ने देखा, एक सिंह वज्र के पिंजरे को तोड़ कर कैलाश पर्वत को उल्लंघन करने के लिए तैयार हुआ है। भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति ने देखा कि त्रिलोक को प्रकाश करता हुआ तारकेश्वर अर्थात् चन्द्रमा ताराओं सहित जा रहा है। चक्रवर्ती की पट्टरानी सुभद्रा का स्वप्न था कि ऋषभदेव भगवान् की रानी यशस्वती और सुनन्दा के साथ शक्र अर्थात् इन्द्र की मनः प्रिया अर्थात् महादेवी (इन्द्राणी) बहुत कालपर्यंत शोक कर रही हैं। इन स्वप्नों का फल पुरोहित ने यह बताया कि ये समस्त स्वप्न यह सूचित करते हैं कि भगवान् वृषभदेव समस्त कर्मों का निर्मूल नाश कर, अनेक मुनियों के साथ मोक्ष पधारेंगे।

इतने में आनन्द नाम के व्यक्ति ने चक्रवर्ती भरतेश्वर को भगवान् ऋषभ का सर्व वृत्तान्त बताया कि–

ध्वनौ भगवतो दिव्ये संहृते मुकुलीभवेत्।
कराम्बुजा सभा जाता पूष्णीव सरसीत्यसौ ॥३३५॥

भगवान् की दिव्यध्वनि का खिरना अब बंद हो गया है, इससे जैसे सूर्य के अस्त के समय सरोवर के कमल मुकुलित हो जाते हैं, उसी प्रकार सब सभा हाथ जोड़े हुए मुकुलित (उदास) हो रही है। इस समाचार को सुनते ही भरत चक्रवर्ती तत्काल कैलाश पर्वत पर पहुँचे। उन प्रभु की तीन परिक्रमा करके स्तुति की।

महामहमहापूजां भक्त्या निर्वर्तयन्नस्वयं।
चतुर्दश दिनान्येवं भगवंतमसेवत ॥३३७॥

चक्रवर्ती भरत ने महामह नाम की महान् पूजा, भक्तिभाव पूर्वक स्वयं की तथा चौदह दिन तक भगवान् की सेवा भक्ति की।

यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि सर्व सामग्री का सन्निधान होते हुए भी आदिनाथ जिनेन्द्र की लोककल्याण निमित्त खिरने वाली दिव्यवाणी बन्द हो गई, क्योंकि क्षण-क्षण में विशेष विशुद्धता को प्राप्त करने वाले इन प्रभु की शुद्धोपयोग रूप अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित हो गई है और अब उसमें अघातिया कर्मों को भी स्वाहा (भस्म) करने की तैयारी आत्म यज्ञ के कर्ता जिनेन्द्र ने की है। प्रारम्भ में निर्दयता पूर्वक पाप कर्मों को नष्ट किया था और अब शुभ भावों द्वारा बाँधी गई पुण्य प्रकृतियों का भी शुद्ध भाव रूपी तीक्ष्ण तलवार के द्वारा ध्वंस का कार्य शीघ्र आरम्भ होने वाला है। संसार के जीवों की अपेक्षा प्रिय और पूज्य मानी गई तीर्थंकर प्रकृति अब इन वीतराग प्रभु को सर्वथा क्षय योग्य लगती है, क्योंकि ऐसा कोई भी कर्म का उदय नहीं है, जो सिद्ध पदवी के प्राप्त करने में विघ्न रूप न हो। पञ्चाध्यायी में लिखा है–

नहि कर्मोदयः कश्चित्, जन्तो र्यः स्यात् सुखावहः।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र, वैलक्षण्यात् स्वरूपताः॥

ऐसा कोई कर्म का उदय नहीं है, जो आत्मा को आनंद प्रदान करे, क्योंकि सभी कर्मों का उदय आत्म स्वरूप से विपरीत स्वभाव वाला है।

इस कथन के प्रकाश में यह बात सिद्ध होती है कि स्वभाव परिणति की उपलब्धि में बाधक तथा विभाव परिणति के साधक कारण सभी कर्म त्यागने योग्य हैं। सुवर्ण वर्ण के सर्प द्वारा कृत दंश प्राप्त व्यक्ति उसी प्रकार मृत्यु के मुख में प्रवेश करता है, जिस प्रकार श्याम सर्पराज के द्वारा काटा गया व्यक्ति भी प्राणों का त्याग करता है। इसलिए शुद्धोपयोगी ऋषिराज ऋषभदेव तीर्थंकर ने दिव्य उपदेश

देना बन्द कर दिया है। उन्हें जितना कहना था वह सब कह चुके। अन्य जीवों के उपकार के लिए यदि भगवान् लगे रहें तो वे सिद्ध वधू के स्वामी नहीं बन सकेंगे। इसलिए अब भगवान् पूर्ण निर्मलता सम्पादन के श्रेष्ठ उद्योग में संलग्न हैं, अन्य तीर्थंकरों के योग निरोध का समय एक माह तक आगम में कहा गया है। इतना विशेष है कि वर्धमान भगवान् ने जीवन के दो दिन शेष रहने पर योगनिरोध आरम्भ किया था। यही बात निर्वाण भक्ति में इस प्रकार कही है–

आद्यश्चतुर्दशदिनैर्विनिवृत्तयोगः ।
षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्धमानः।
शेषा विधूतघनकर्मनिबद्धपाशा।
मासेन ते यतिवरास्त्वभवन्वियोगाः॥२६॥

ऋषभनाथ भगवान् ने मन-वचन-काय के योग निरोध का कार्य चौदह दिन पूर्व किया था तथा वर्धमान जिन ने दो दिन पूर्व योगनिरोध किया था, घनकर्म राशि के बंधन को दूर करने वाले बाईस तीर्थंकरों ने एक माह पूर्व मन-वचन-काय की बाह्य क्रिया का निरोध प्रारम्भ किया था।

९३. केवली के कौन-सा ध्यान रहता है? समाधान–शुक्लध्यान का तृतीय भेद उस समय होता है, जब आयु कर्म के क्षय के लिए अंतर्मुहूर्त काल शेष रहता है। अतएव प्रश्न होता है कि आठ वर्ष से कुछ अधिक काल में केवली बनकर एक कोटि पूर्व काल में से किंचित् न्यून काल छोड़कर शेष काल पर्यन्त केवली के कौन-सा ध्यान रहता है?

परमार्थ दृष्टि से '**एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानं**' यह ध्यान का लक्षण सर्वज्ञ भगवान् में नहीं पाया जाता है। आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होते हुए भी ज्ञानावरण के क्षय होने से वे त्रिकालज्ञ भी हैं, अतः उनके एकाग्रता का कथन किस प्रकार सिद्ध होगा? चिन्ता का भी उनके अभाव है। ''**चिन्ता अंतः करणवृत्तिः**'' अंतःकरण अर्थात् क्षयोपशमात्मक भावमन की विशेषवृत्ति चिन्ता है। केवली के क्षायिक केवलज्ञान होने से क्षयोपशम रूप चित्तवृत्ति का सद्भाव भी नहीं है, तब उस चित्तवृत्ति का निरोध कैसे बनेगा? इस अपेक्षा से केवली भगवान् के ध्यान नहीं है।

इस पर शंका उत्पन्न होती है कि आगम में केवली के दो शुक्ल ध्यान क्यों कहे गए हैं?

समाधान–केवली भगवान् के उपचार से ध्यान कहे गए हैं। राजवार्तिक में 'एकादश जिने' सूत्र की टीका में अकलंक स्वामी लिखते हैं–केवली भगवान् में ग्यारह परीषह उपचार से पाये जाते हैं। इस विषय के स्पष्टीकरण हेतु आचार्य लिखते हैं–''**यथा निरवशेष निरस्तज्ञानावरणे परिपूर्णज्ञाने एकाग्रचिंता निरोधाभावेऽपि कर्मरजोविधूनन फल संभवात् ध्यानोपचारः तथा क्षुधादि-वेदनाभावपरीषहऽभावेपि वेदनीयकर्मोदयद्रव्यपरीषहसद्भावात् एकादश जिने संतीति उपचारो युक्तः**'' (पृ० ३३८) जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्म के परिपूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर एकाग्रचिंतानिरोध रूप ध्यान के अभाव होने पर भी कर्मरज के विनाश रूप फल को देखकर ध्यान

का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार क्षुधा, तृषादि की वेदनारूप भाव परीषह के अभाव होते हुए भी वेदनीय कर्मोदय द्रव्यरूप कारणात्मक परीषह के सद्‌भाव होने से जिन भगवान् में एकादश (ग्यारह) परीषह होते हैं, ऐसा उपचार किया जाता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि केवली भगवान् के आयुकर्म की अंतर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहने के पूर्व ध्यान का सद्‌भाव नहीं कहा गया है, इसी कारण धवला टीका में सयोगी जिन के विषय में लिखा है "**सयोगी केवली ण किंचि कम्मं खवेदि**" (भाग १, पृ० २२३) सयोग केवली किसी कर्म का क्षय नहीं करते हैं। कर्म के क्षपण कार्य का अभाव रहने से सयोगी जिनके ध्यान का अभाव है। इतना विशेष है कि अयोग केवली होने के पूर्व सयोगी जिन अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को नष्ट करते हैं तथा अशुभ कर्मों के अनुभाग को नष्ट करते हैं, उस समय उनके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान की योग्यता उत्पन्न होती है।

९४. समुद्‌घात विधि—हरिवंश पुराण में लिखा है "जिस समय केवली भगवान की आयु अंतर्मुहूर्त मात्र रह जाती है और गोत्र आदि तीन अघातिया कर्मों की स्थिति भी आयु के बराबर रहती है, उस समय सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्लध्यान होता है और यह मन-वचन-काय की स्थूल क्रिया के नाश होने पर उस समय होता है जब स्वभाव से ही काय सम्बन्धी सूक्ष्मक्रिया का अवलम्बन होता है।"

अंतर्मुहूर्तशेषायुः स यदा भवतीश्वरः।
तत्तुल्यस्थितिवेद्यादित्रितयश्च तदा पुनः॥५६-६९॥
समस्तं वाङ्‌मनोयोगं काययोगं च वादरम्।
प्रहाप्यालम्ब्य सूक्ष्मं तु काययोगं स्वभावतः॥७०॥
तृतीयं शुक्लसामान्यात्प्रथमं तु विशेषतः।
सूक्ष्मक्रियाप्रतीपाति ध्यानमास्कन्तुमर्हति ॥७१॥

तत्त्वार्थराजवार्तिक में अकलंकस्वामी ने लिखा है "जब सयोग केवली की आयु अंतर्मुहूर्त प्रमाण रहती है और शेष वेदनीय, नाम तथा गोत्र इन कर्मों की स्थिति अधिक रहती है, उस समय आत्मोपयोग के अतिशय सहित साम्यभाव समन्वित विशेष परिणाम युक्त, महा संवर वाला, शीघ्र कर्मक्षय करने में समर्थ, योगी शेष कर्मरूपी रज के विनाश करने की शक्ति से अलंकृत स्वभाव से दंड, कपाट, प्रतर तथा लोकपूरण समुद्धात रूप आत्मप्रदेशों का चार समय में विस्तार करके पश्चात् उतने ही समयों में विस्तृत आत्म प्रदेशों को संकुचित करता हुआ चारों कर्मों की स्थिति विशेष को एक बराबर करके पूर्व शरीर बराबर परिमाण को धारण करके सूक्ष्म काययोग को धारण करता हुआ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम के ध्यान को करता है। मूल ग्रन्थ के शब्द इस प्रकार हैं—"**यदा पुनरंतर्मुहूर्त-शेषायुष्कस्ततोऽधिक स्थितिविशेषकर्मत्रयो भवति योगी, तदात्मोपयोगातिशयस्य सामायिक-**

सहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंवरस्य लघुकर्मपरिपाचनस्य शेषकर्मरेणुपरिशातन शक्ति-स्वाभाव्यात् दंड-कपाट-प्रतरलोकपूरणानि स्वात्मप्रदेशविसर्पणतश्चतुर्भिः समयैः कृत्वापुनरपि तावद्भिरेव समयैः समुपहृतप्रदेश-विसर्पणः समीकृत-स्थितिविशेषकर्मचतुष्टयः पूर्वशरीर-परिमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानं ध्यायति'' (अध्याय ९, सूत्र ४४, पृ० ३५६)

महापुराण में लिखा है–

सहि योगनिरोधार्थमुद्यतः केवली जिनः।
समुद्घात-विधिं पूर्वमाविष्कुर्यान्निसर्गतः॥२१-१८९॥

स्नातक केवली जिन भगवान् जब योगों का निरोध करने के लिए तत्पर होते हैं, तब वे उसके पूर्व ही स्वभाव से समुद्घात की विधि करते हैं।

समुद्घात विधि का स्पष्टीकरण इस प्रकार है–पहले समय में केवली के आत्मप्रदेश चौदह राजू ऊँचे दण्ड के आकार के होते हैं। दूसरे समय में कपाट अर्थात् दरवाजे के किवाड़ के आकार को धारण करते हैं। तृतीय समय में प्रतर रूप होते हैं। चौथे समय में समस्त लोक में व्याप्त हो जाते हैं। इस प्रकार वे जिनेन्द्रदेव चार समय में समस्त लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित होते हैं।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्मवादी ब्रह्मा को सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त मानते हैं। जैन दृष्टि से उनका कथन सयोगी जिन के लोकपूरण समुद्घात काल में सत्य चरितार्थ होता है, क्योंकि लोकपूरण समुद्घात की अवस्था में उन जिनेन्द्र परमात्मा के आत्मप्रदेश समस्त लोक में विस्तार स्वभाववश व्याप्त होते हैं।

ब्रह्मवादी सदा ब्रह्म को लोकव्यापी कहता है, इससे उसका कथन अयथार्थ हो जाता है।

लोकपूरण समुद्घात के अनंतर आत्म प्रदेश पुनः प्रतर रूपता को दूसरे समय में धारण करते हैं। तीसरे समय में कपाटरूप होते हैं तथा चौथे समय में दण्डरूप होते हैं और शरीराकार हो जाते हैं। इस समुद्घात क्रिया के करने में विस्तार में चार समय तथा संकोच में चार समय अर्थात् समस्त आठ समय लगते हैं। लोकपूरण समुद्घात के समय आत्मा के प्रदेश सिद्धालय का स्पर्श करते हैं, नरक की भूमि का भी स्पर्श करते हैं तथा उन आकाश के प्रदेशों का भी स्पर्श करते हैं, जिनका पञ्च परावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण करते समय इस जीव ने चौरासी लक्ष योनियों को धारण कर अपने शरीर की निवास भूमि बनाया था। अनन्तानन्त जीवों के भीतर भी यह योगी समा जाता है। इस कार्य के द्वारा सयोगी जिन अघातिया कर्मों की स्थिति में विषमता दूर करके उनको आयु कर्म के बराबर शीघ्र बनाते हैं। जिस प्रकार गीले वस्त्र को ऊँचा, नीचा, आड़ा तिरछा करके हिलाने से वह शीघ्र सूख जाता है, उसी प्रकार की इस क्रिया द्वारा योगी अघातिया कर्मों की स्थिति तथा अशुभ कर्मों की अनुभाग शक्ति

का खण्डन करते हैं।

इस समुद्घात क्रिया के विषय में यह कल्पना करना अनुचित नहीं है कि समता भाव के स्वामी जिनेन्द्र देव सदा के लिए अपने घर सिद्धालय में जा रहे हैं, इससे वे सब जीवों से बैर विरोध छोड़कर बिना संकोच छोटे बड़े सबसे भेंट करते हुए तथा मिलते हुए मोक्ष जाने को तैयार हो रहे हैं। महापुराण में लिखा है–

तत्र घातिस्थितेर्भागानसंख्येयान्निहंत्यसौ।
अनुभागस्य चानंतान् भागानशुभकर्मणाम् ॥२१-१९३॥

उस समय वे भगवान् अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को विनष्ट करते हैं। इसी प्रकार अशुभ कर्मों के अनुभाग के अनन्त भागों को नष्ट करते हैं।

इसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में योग रूपी आस्रव का निरोध करते हुए काययोग के आश्रय से वचन योग तथा मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं और फिर काययोग को भी सूक्ष्म करके उसके आश्रय से होने वाले सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान का चिंतन करते हैं।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ ने एकत्ववितर्क-अवीचार रूप द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा केवलज्ञान की विभूति प्राप्त की थी। राजवार्तिककार ने केवली भगवान् के लिए इन विशेषणों का प्रयोग किया है **''एकत्व-वितर्कशुक्लध्यानवैश्वानर-निर्दग्धघातिकर्मेन्धनः, प्रज्वलितकेवलज्ञानगभस्तिमण्डलः''** (राजवार्तिक, पृ०३५६) अर्थात् एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यान रूप अग्नि के द्वारा घातिया कर्मरूपी ईंधन का नाश करने वाले तथा प्रज्वलित केवलज्ञानरूपी सूर्य से युक्त केवली भगवान् हैं।

इस अवस्था वाली सभी आत्माएँ समुद्घात करती हैं, ऐसा आचार्य यतिवृषभ का अभिप्राय है। धवला टीका में लिखा है–**''यतिवृषभोपदेशात् सर्वाघातिकर्मणां क्षीणकषायचरमसमये स्थितेः साम्याभावात् सर्वेऽपि कृतसमुद्घाताः सन्तो निवृत्तिमुपढौकन्ते''**आचार्य यतिवृषभ के उपदेशानुसार क्षीणकषाय गुणस्थान के चरम समय में सम्पूर्ण अघातिया कर्मों की स्थिति में समानता का अभाव होने से सभी केवली समुद्घात पूर्वक ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

आगे यह भी कथन किया गया है **–''येषामाचार्याणां लोकव्यापि-केवलिषु विंशति-संख्या नियमस्तेषां मतेन केचित्समुद्घातयन्ति, केचिन्न समुद्घातयन्ति। के न समुद्घातयन्ति? येषां संसृतिव्यक्तिः कर्मस्थित्याः समाना, ते न समुद्घातयन्ति, शेषाःसमुद्घातयन्ति''** (भाग १, पृ० ३०२,) जिन आचार्यों ने लोकपूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की संख्या नियम रूप से बीस मानी है, उनके अभिप्रायानुसार कोई जीव समुद्घात करते हैं और कोई समुद्घात नहीं करते हैं। कौन आत्माएँ समुद्घात नहीं करती हैं? जिनकी संसृति की व्यक्ति अर्थात् संसार में रहने का काल

जिसे आयु कर्म के नाम से कहते हैं अर्थात् जिनकी नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्मों की स्थिति आयु कर्म की स्थिति के समान है, वे केवली समुद्घात नहीं करते हैं, शेष केवली समुद्घात करते हैं।''

९५. **सिद्धपरमात्मा**—समुच्छिन्न-क्रिया-निर्वृत्ति अथवा व्युपरतक्रिया-निर्वृत्ति ध्यान के होने पर प्राणापान अर्थात् श्वासोच्छ्वास का गमनागमन कार्य रूक जाता है। समस्त काय, वचन तथा मनोयोग के निमित्त से सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों का परिस्पंदन बन्द हो जाता है। उस ध्यान के होने पर परिपूर्ण संवर होता है। उस समय १८ हजार शील के भेदों का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त हो जाता है। ८४ लाख उत्तर गुणों की पूर्णता प्राप्त होती है। सम्यग्दर्शन का श्रेष्ठ भेद परमावगाढ़ सम्यक्त्व तो तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त हो गया था। ज्ञानावरण का क्षय होने से सम्यग्ज्ञान की भी पूर्णता हो चुकी थी, फिर किंचित् न्यून एक कोटि पूर्व वर्ष प्रमाण तक निर्वाण अवस्था की उपलब्धि न होने का कारण पूर्ण चरित्र में कुछ कमी है। अयोगी जिन होते ही वह तीन गुप्तियों के स्वामी हो जाते है। उस त्रिगुप्ति के प्रसाद से अयोगी जिन के उपांत्य-समय में अर्थात् अंत के दो समयों में से प्रथम समय में साता-असाता वेदनीय में से अनुदय रूप एक वेदनीय की प्रकृति, देवगति, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण ये पाँच शरीर, पाँच संघात, पाँच बंधन, तीन आंगोपांग, छह संहनन, छह संस्थान, पाँच वर्ण, पाँच रस, आठ स्पर्श, दो गंध, देवगत्यानुपूर्व्य, अगुरुलघु, उच्छ्वास, परघात, उपघात, विहायोगति युगल, प्रत्येक, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, स्वरयुगल, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण तथा नीच गोत्र इन ७२ प्रकृतियों का नाश होता है।

अंत समय में वेदनीय की बची हुई एक प्रकृति, मनुष्यगति, मनुष्यायु तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, उच्चगोत्र, यशस्कीर्ति, ये बारह तथा तेरहवीं तीर्थंकर प्रकृति का भी क्षय करके अ इ उ ऋ लृ इन पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण में लगने वाले अल्पकाल के भीतर वे अयोगी जिन आत्म विकास की चरम अवस्था सिद्ध पदवी को प्राप्त करते हैं। मुनिदीक्षा लेते समय इन तीर्थंकर भगवान् ने सिद्धों को प्रणाम किया था। अब ये स्वयं सिद्ध परमात्मा बन गए।

ये सिद्ध परमात्मा समस्त विभाव भावों से मुक्त हो गए हैं तथा समयसार रूप परिणत हो गए हैं।

महापुराण में लिखा है कि ऋषभदेव भगवान् ने माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन सूर्योदय की प्रभात बेला में पूर्वाभिमुख होकर 'प्राप्तपल्यंकः' पल्यंकासन को धारण कर कर्मों का नाश किया था–

शरीरत्रितयापाये प्राप्त सिद्धत्वपर्यायं।
निजाष्टगुणसम्पूर्णः क्षणावाप्ततनुवातकः॥४७-३४१॥

ऋषभनाथ भगवान् औदारिक, तैजस तथा कार्मण इन तीनों शरीरों का नाशकर, आत्मा के

अष्ट गुणों से परिपूर्ण सिद्धत्व प्राप्त करके क्षण मात्र में लोक के अग्रभाग में पहुँचकर तनुवातवलय को प्राप्त हुए।

अब ये तीर्थंकर भगवान् सिद्ध परमात्मा बन जाने से समस्त विकल्पों से विमुक्त हो गए हैं। ज्ञान नेत्रों से इनका दर्शन करने पर जो स्वरूप ज्ञात होता है, उसे महापुराण में इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।

नित्यो निरंजनः किंचिदूनो देहादमूर्तिभाक्।
स्थितःस्वसुखसाद्भूतःपश्यन्विश्वमनारतम्॥४७-३४२॥

अब ये सिद्ध भगवान् नित्य, निरंजन, अंतिम शरीर से किंचित् न्यूनाकार युक्त, अमूर्त, आत्मा से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्द का रसपान करने वाले सम्पूर्ण विश्व का निरन्तर अवलोकन करने वाले हो गए।

९६. तीर्थंकरों के अनुपम सामर्थ्य का स्थूल दृष्टान्त–तीर्थंकरों की अनुपम सामर्थ्य की कल्पना करना शक्य नहीं है, फिर भी स्थूल दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। सब पशु समूह में सबसे बड़ा बलशाली प्राणी हाथी है, ऐसा लोग समझते हैं, परन्तु हजारों हाथियों का बल एक सिंह में होता है और हजारों सिंहों का बल एक शरभ (शार्दूल) में होता है। हजारों शरभों का बल एक बलदेव में होता हैं, दो बलदेवों की शक्ति एक अर्धचक्री में रहती है। दो अर्धचक्रवर्तियों का बल एक चक्रवर्ती में होता है। एक हजार चक्रवर्तियों का बल एक इन्द्र में होता है असंख्य इन्द्रों के बल से भी अधिक शक्ति एक तीर्थंकर में होती है। वास्तव में तीर्थंकरों के जन्म से ही अतुल बल अथवा अप्रतिम वीर्यता नामक एक अतिशय गुण होता है। उस बल की तुलना नहीं हो सकती है।

९७. निर्वाण अर्थात् मोक्ष कल्याणक–तीर्थंकर प्रभु अपने केवलज्ञान से तीन लोक के सम्पूर्ण चराचर पदार्थों को जानकर सब भव्य जीवों को हितकारी उपदेश देते हैं। संसार से भयभीत भव्य जनों को मोक्षमार्ग की ओर उन्मुख कर देते हैं। इस तरह उपदेश देते हुए तीसरे शुक्लध्यान को प्रारम्भ करके जब वे तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में आते हैं, तब वहाँ चार अघातिया कर्मों की ७२ और १३ प्रकृतियों का नाश करके अन्त्य समय में अ-इ-उ-ऋ-लृ इन पाँच अल्प अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय में वे तीर्थंकर भगवान् मोक्ष चले जाते हैं।

उस समय चारों निकाय के देव स्वर्ग से आकर भगवान् के शरीर का दाह संस्कार करते हैं। और वह दाह स्थान पवित्र हुआ समझकर उस स्थान की देव पूजा करते हैं। उस पूजा उत्सव को निर्वाण किंवा (अथवा) मोक्ष कल्याणक कहते हैं।

उत्तरपुराण के सर्ग ६३ में लिखा है कि भगवान् शांतिनाथ के मोक्ष होने पर देवों ने आकर उनके शरीर का अन्तिम संस्कार तथा पूजा की थी। कहा भी है–

चतुर्विधामरा: सेन्द्रा: निस्तन्द्रारूद्रभक्तय:।
कृत्वांत्येष्टिं तदागत्य स्वं स्वभावासमाश्रयन्॥५००॥

बड़ी भक्ति को धारण करने वाले आलस्य रहित इन्द्रों सहित चारों निकाय के देव आये और अंत्येष्टि अर्थात् उन भगवान् की अन्तिम पूजा कर अपने-अपने स्थानों को चले गए।

शरीरं भर्तुरस्येति परार्घ्य-शिविकार्पितं।
अग्नीन्द्र-रत्न-भासि-प्रोत्तुंग-मुकुटोद्भवेन ॥३४४॥
चन्दनाऽगुरु-कर्पूर-पारी-काश्मीरजादिभि: ।
घृत-क्षीरादिभिश्चाप्तवृद्धिना हव्यभोजिना ॥३४५॥
जगद्त्रयस्य सौगंध्यं संपाद्याभूतपूर्वकं।
तदाकारोपमर्देन पर्यायान्तरमानयन् ॥३४६॥

उस समय निर्वाण कल्याणक की पूजा की इच्छा करते हुए सब देव वहाँ स्वर्ग से आये। उन्होंने पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्ष के साधन, स्वच्छ तथा निर्मल भगवान् के शरीर को उत्कृष्ट मूल्य वाली पालकी में विराजमान किया। तदनन्तर अग्निकुमार नाम के भवनवासी देवों के इन्द्र के रत्नों की कांति से देदीप्यमान अत्यन्त उन्नत मुकुट से उत्पन्न की गई, चन्दन, अगर, कपूर, केशरादि सुगन्धित पदार्थों से तथा घृत, क्षीरादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त अग्नि से त्रिभुवन में अभूतपूर्व सुगन्ध को व्याप्त करते हुए उस प्रभु के शरीर को अग्नि संस्कार द्वारा भस्म रूप पर्यायान्तर को प्राप्त करा दिया।

अभ्यर्चिताग्निकुंडस्य गंध-पुष्पादिभिस्तथा।
तस्यदक्षिणग्भागेऽभूद्गणभृत: संस्क्रियानल: ॥३४७॥
तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शेष-केवलिकायग:।
एवं वह्नित्रयं भूभाववस्थाप्यामरेश्वरा: ॥३४८॥

देवों ने गन्ध, पुष्पादि द्रव्यों से उस अग्निकुण्ड की पूजा की। उस अग्निकुण्ड के दाहिनी ओर गणधर देवों की अंतिम संस्कार वाली गणधराग्नि स्थापित की और उस अग्निकुण्ड के बायें भाग में शेष केवलियों की अंतिम संस्कार वाली अग्नि की स्थापना की। इस प्रकार देवेन्द्रों ने पृथ्वी पर तीन प्रकार की अग्नियों की स्थापना की।

ततोभस्म समादाय पञ्चकल्याणभागिन:।
वयं चैवं भवामेति स्वललाटे भुजद्वये ॥३४९॥
कण्ठे हृदयदेशे च तेन संस्पृश्य भक्तित:।
तत्पवित्रतमं मत्वा धर्मराग-रसाहिता: ॥३५०॥

तदनन्तर देवों तथा देवेन्द्रों ने भक्ति पूर्वक पञ्चकल्याण प्राप्त जिनेन्द्र के देह दाह से उत्पन्न भस्म

को लेकर ''हम भी ऐसे हों'' यही विचार करते हुये उस भस्म को अपने मस्तक, भुजायुगल, कण्ठ तथा छाती में लगाई। उन्होंने उस भस्म को अत्यन्त पवित्र माना तथा धर्म के रस में देव इन्द्र निमग्न हो गए।

जिनेन्द्र भगवान् ने सचमुच में मृत्यु के कारण रूप आयु कर्म का क्षय करके अन्वर्थ रूप में अमर पद प्राप्त किया है। देवताओं को मृत्यु के वशीभूत होते हुए भी नाम निक्षेप से अमर कहते हैं। इसी से उन अमरों तथा उनके इन्द्रों ने भस्म अपने अंगों में लगाकर यह भावना की कि हम नाम के अमर न रह कर सचमुच में ऋषभनाथ भगवान् के समान अमर होवे।

देवेन्द्रादि के द्वारा कृत निर्वाण कल्याण की लोकोत्तर पूजा को **'अंत्येष्टि'** संस्कार कहते हैं। अन्य लोगों में मरण प्राप्त व्यक्तियों के देह दाह को **'अंत्येष्टि'** क्रिया कहने की पद्धति पाई जाती है। इस अर्थ शून्य शब्द का अन्य सम्प्रदायों में प्रयोग जैनधर्म के प्रभाव को सूचित करता है। निर्वाण कल्याणक में शरीर की अंतिम पूजा, अग्नि संस्कार आदि की महत्ता स्वतः सिद्ध है, किन्तु पशु-पक्षियों की भाँति मरने वालों के शरीर की पूजा की कल्पना करना विवेकहीनता का परिणाम है।

महावीर भगवान् का पावानगर के उद्यान से कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष होने पर देवों द्वारा कैलाश गिरि पर किए गए प्रभु के शरीर संस्कार के सदृश पावानगर के उद्यान में भगवान् महावीर के शरीर का दाह संस्कार सम्पन्न हुआ था। पूज्यपाद स्वामी ने निर्वाण भक्ति में लिखा है-

परिनिर्वृतं जिनेन्द्रं ज्ञात्वा विबुधा ह्यथाशु चागम्य।
देवतरू-रक्तचन्दन-कालागरू-सुरभि-गोशीर्षैः॥ १८॥
अग्नीन्द्राज्जिनदेहं मुकुटानल-सुरभिधूप-वरमाल्यैः।
अभ्यचर्यं गणधरानपि गतादिवं खं च वनभवने॥ १९॥

महावीर भगवान् के मोक्ष कल्याणक का संवाद अवगत कर देव लोग शीघ्र ही पावानगर के उद्यान में आये। उन्होंने जिनेश्वर के देह की पूजा की तथा देवदारू, रक्तचन्दन, कृष्णागरू, सुगन्धित गोशीर चन्दन के द्वारा और अग्निकुमार देवों के इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न अग्नि तथा सुगन्धित धूप तथा श्रेष्ठ पुष्पों द्वारा भगवान् महावीर के शरीर का दाह संस्कार किया। गणधरों की भी पूजा भक्ति करने के पश्चात् कल्पवासी, ज्योतिषी, व्यन्तर तथा भवनवासी देव अपने-अपने स्थान चले गए।

अशग कविकृत वर्धमान चरित्र में भी भगवान् महावीर के अन्तिम शरीर के दाह संस्कार का इस प्रकार कथन आया है-

अग्नीन्द्रमौलिवररत्नविनिर्गतेऽग्नौ। कर्पूर-लोह-हरिचन्दनसारकाष्ठैः॥
संक्षुभिते सपदि वातकुमारनाथैः। इन्द्रा मुदा जिनपते र्जुहुवुः शरीरं॥ १८-१००॥

अग्निकुमारों के इन्द्रों के मुकुट के उत्कृष्ट रत्न से उत्पन्न अग्नि, जो कपूर, लोभान, हरिचन्दन,

देवदारू आदि सार रूप काष्ठों से तथा वायु कुमारों के इन्द्रों द्वारा शीघ्र ही प्रज्वलित की गई थी, उस अग्नि में इन्द्रों ने प्रभु महावीर के शरीर का सहर्ष दाह संस्कार किया।

हरिवंशपुराण में नेमिनाथ भगवान् के परिनिर्वाण पर की गई पूजादि का भी इस प्रकार कथन किया गया है–

परिनिर्वाणकल्याणपूजामंत्यशरीरगाम् ।
चतुर्विधसुराः जैनीं चक्रः शक्रपुरोगमाः॥६५-११॥

जब नेमिनाथ भगवान का निर्वाण हो चुका, तब इन्द्र और चारों प्रकार के देवों ने जिनेन्द्र देव के अंतिम शरीर सम्बन्धी निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

गंध-पुष्पादिभिर्दिव्यैः पूजितास्तनवः क्षणात्।
जैनाद्या द्योतयंत्यो द्यां विलीना विद्युतोयथा ॥१२॥

जिस प्रकार विद्युत देखते-देखते शीघ्र विलय को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार गन्ध, पुष्पादि दिव्य पदार्थों से पूजित भगवान् का शरीर क्षण भर में दृष्टि के अगोचर हो गया।

स्वभावोऽयं जिनादीनां शरीरपरमाणवः।
मुञ्चन्ति स्कंधतामंते क्षणात् क्षणरूचामिव ॥१३॥

यह स्वभाव है कि जिन भगवान् के शरीर के परमाणु अन्त समय में स्कंध रूपता का परित्याग करते हैं और बिजली के समान तत्काल विलय को प्राप्त होते हैं।

हरिवंशपुराण में यह भी कहा है–

ऊर्जयन्तगिरौ वज्री वज्रेणालिख्यपावनीम्।
लोके सिद्धिशिलां चक्रे जिनलक्षणालंकृतां ॥६५-१४॥

गिरनार पर्वत पर इन्द्र ने परमपवित्र 'सिद्ध शिला' निर्मापी (रची) तथा उसमें जिनेन्द्र के चिह्न वज्र द्वारा अंकित किए।

स्वामी समन्तभद्र ने स्वयंभू स्तोत्र में भी यह बात कही है कि गिरनार पर्वत पर इन्द्र ने निर्वाण प्राप्त जिनेन्द्र नेमिनाथ के चिह्न अंकित किए थे। यहाँ हरिवंशपुराण से यह बात विशेष ज्ञात होती है कि इन्द्र एक विशेष शिला-सिद्ध शिला की रचना करके उस पर जिनेन्द्र के निर्वाण सूचक चिह्नों का निर्माण करता है। परम्परा से प्राप्त चरण-चिह्नों की निर्वाण भूमि में अवस्थिति देखने से यह अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्र ने मुक्ति प्राप्त करने वाले भगवान् के स्मारक रूप में चरण चिह्नों की स्थापना का कार्य किया होगा।

९८. सिद्ध भट्टारक—भगवान् जिनेन्द्र ने समस्त कर्मों का नाश करके असिद्धत्व रूप औदयिक भाव से रहित सिद्ध पर्याय को मुक्त होने पर प्राप्त किया है। अयोग केवली की अवस्था

में भी असिद्धत्व भाव था। राजवार्तिक में कहा है–''**कर्मोदय-सामान्यापेक्षो, असिद्धः। सयोग केवल्ययोगकेवलिनोर-घातिकर्मोदयापेक्षः**'' (पृ० ७६)। कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा से यह असिद्धत्वभाव होता है। सयोग केवली तथा अयोग केवली के भी अघातिया कर्मोदय की अपेक्षा यह असिद्धत्वभाव माना गया है।

सम्पूर्ण जगत् को पुरुषाकृति के समान माना जाता है, उसमें सिद्ध परमेष्ठी को त्रिभुवन के मस्तक पर अवस्थित मुकुट समान कहा है। कहा भी है– ''**तिहुयण-सिर-सेहरया सिद्धा भडारया पसीयंतु**'' त्रिलोक के शिखर पर मुकुट समान विराजमान सिद्ध भट्टारक प्रसन्न होवे। (धवला टीका, वेदना खण्ड)

९९. अष्टम भूमि–अनन्तानन्त सिद्ध भगवानों ने ध्रुव, अचल तथा अनुपम गति को प्राप्त कर जिस स्थान को अपने चिर निवास योग्य बनाया है, उसके विषय में तिलोयपण्णत्ति में इस प्रकार कथन किया गया है–सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक विमान के ध्वज दण्ड से बारह योजन मात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथ्वी स्थित है। उसके उपरिम और अधस्तन तल में से प्रत्येक का विस्तार पूर्व पश्चिम में रूप (एक) से रहित एक राजू है। वेत्रासन के समान वह पृथ्वी उत्तर दक्षिण भाग में कुछ कम सात राजू लम्बी तथा आठ योजन बाहुल्य वाली है–''**दक्खिण उत्तरभाएदिहा किंचूण, सत्तरज्जूओ**'' (८-६५४)। यह पृथ्वी घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीन वातवलय नामक वायुओं से वेष्टित है।

१००. ईषत्प्राग्भार नाम का क्षेत्र या सिद्धशिला–अष्टमभूमि के बहुमध्य भाग में चाँदी तथा सुवर्ण के समान और नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत्प्राग्भार नाम का क्षेत्र है। कहा भी है–

एदाए बहुमज्झे खेत्तं णामेण ईसिपब्भारं।
अज्जुण-सुवण्ण-सरिसं णाणा-रयणेहिं परिपुण्णं ॥६५६॥

यह क्षेत्र उत्तान अर्थात् ऊर्ध्व मुख वाले धवल छत्र के समान आकार से सुन्दर और पैंतालीस लाख योजन प्रमाण विस्तार से युक्त है। उसका मध्य बाहुल्य आठ योजन और अन्त में एक अंगुल मात्र है। अष्टम भूमि में स्थित सिद्धक्षेत्र की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान है। (गाथा ६५२ से ६५८, पृ० ८६४)

तिलोयपण्णत्ति में आठवीं पृथ्वी को 'ईषत् प्राग्भार' नाम नहीं दिया गया है। उसके मध्य में स्थित निर्वाण क्षेत्र को 'ईषत्प्राग्भार' संज्ञा प्रदान की गई है, किन्तु त्रिलोकसार में अष्टम पृथ्वी को ईषत्प्राग्भार कहा है।

त्रिभुवनमूर्धारूढा-ईषत्प्राग्भारा धराष्टमी रुन्द्रा।
दीर्घा-एकसप्तरज्जू-अष्टयोजनप्रतिबाहल्या ॥५५६॥

त्रिलोक के शिखर पर स्थित ईषत्प्राग्भार नाम की आठवीं पृथ्वी है। वह एक राजू चौड़ी तथा सात राजू लम्बी और आठ योजन प्रमाण बाहुल्ययुक्त है।

उस पृथ्वी के मध्य में विद्यमान सिद्धक्षेत्र को छत्राकार कहा है, उसका वर्ण चाँदी का बताया है–

तन्मध्ये रूप्यमयं छत्राकारं मनुष्यमहीव्यसं।
सिद्धक्षेत्रं मध्येऽष्टवेधं क्रमहीन बाहुल्यम् ॥५५७॥

उस ईषत्प्राग्भार पृथ्वी के मध्य में चाँदी मय छत्राकार पैंतालीस लाख योजन प्रमाण मनुष्य क्षेत्र के बराबर विस्तार वाला सिद्धक्षेत्र है। उसका बाहुल्य अर्थात् मोटाई मध्य में आठ योजन प्रमाण है और अन्यत्र वह मोटाई क्रम-क्रम से हीन होती गई है।

उत्तानस्थितमंते पात्रमिव तनु तदुपरि तनुवाते।
अष्टगुणाढ्याः सिद्धाः तिष्ठंति अनंतसुखतृप्ताः॥५५८॥

उस सिद्धक्षेत्र के ऊपर तनुवातवलय में अष्ट गुण सहित तथा अनन्तसुख से संतुष्ट सिद्ध भगवान् रहते हैं। वह सिद्धक्षेत्र अन्त में सीधे रखे गए अर्थात् ऊपर मुख वाले बर्तन के समान है।

राजवार्तिक के अन्त में इस प्रकार वर्णन पाया जाता है–

तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभासुरा।
प्राग्भारा नाम वसुधा लोकाग्रे व्यवस्थिता ॥१९॥

त्रिलोक के मस्तक पर स्थित प्राग्भार नाम की पृथ्वी है, वह तन्वी है अर्थात् स्थूलता रहित है। मनोज्ञ है। सुगन्ध युक्त है। पवित्र है तथा अत्यन्त देदीप्यमान है।

त्रिलोकतुल्यविष्कंभा सितच्छत्रनिभा शुभा।
ऊर्ध्वं तस्या क्षितेः सिद्धाः लोकान्ते समवस्थिताः ॥२०॥

वह पृथ्वी त्रिलोक तुल्य विस्तार वाली है (?) श्वेतवर्ण के छत्र समान तथा शुभ है। उस पृथ्वी के ऊपर लोक के अन्त में सिद्ध भगवान् विराजमान हैं।

१०१. सिद्धों का आवास—तिलोयपण्णत्ति में कहा है–

अट्ठम-खिदीएउवरिं पण्णास-ब्भहिय सत्तयसहस्सा।
दंडाणि गंतूणं सिद्धाणं होदि आवासो॥९, अध्याय ३॥

आठवीं पृथ्वी के ऊपर ७०५० धनुष जाकर सिद्धों का आवास है।

सिद्धों की अवगाहना अर्थात् शरीर की ऊँचाई उत्कृष्ट ५२५ धनुष और जघन्य साढ़े तीन हाथ प्रमाण कही गई है।

तिलोयपण्णत्ति में कहा है–

दीहत्तं वाहल्लं चरिमभवे जस्स जारिसं संठाणं।
तत्तो तिभागहीणं ओगाहण सव्वसिद्धाणं ॥९-१०॥

अंतिम भव में जिसका जैसा आकार दीर्घता तथा बाहुल्य हो, उस आकार से तृतीय भाग से कम सब सिद्धों की अवगाहना होती है।

तिलोयपण्णत्ति में ग्रन्थान्तर का यह कथन दिया गया है–

लोय-विणिच्छयगंथे लोयविभागम्मि सव्व सिद्धाणं।
ओगाहणपरिमाणं भणिदं किंचूण चरिमदेहसमो ॥९-९॥

लोक विनिश्चय ग्रन्थ में एवं लोक विभाग में सब सिद्धों की अवगाहना का प्रमाण कुछ कम चरम शरीर के समान कहा है।

आदिपुराण में भगवान् के निर्वाण का वर्णन करते हुए ''**किंचित् ऊनो देहात्**'' (४७-३४२) चरम शरीर से किंचित् ऊन आकार कहा है।

द्रव्यसंग्रह में भी भगवान् सिद्धपरमेष्ठी को चरम शरीर से किंचित् ऊन कहा है। यथा–

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्ग-ठिदा णिच्चा उप्पाद-वयेहिं संजुत्ता ॥१४॥

सिद्ध भगवान् आठ कर्मों से रहित हैं, आठ गुणों से समन्वित हैं। चरम शरीर से किंचित् न्यून प्रमाण हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित है तथा उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त हैं।

१०२. चरम शरीर से, किंचित् न्यून प्रमाण का रहस्य—सिद्ध भगवान् का शरीर चरम शरीर से किंचित् न्यून प्रमाण सर्वत्र आगम में कहा गया है, क्योंकि शरीर की अवगाहना को हीनाधिक करने वाले कर्म का क्षय हो चुका है। ऐसी स्थिति में त्रिलोक प्रज्ञप्ति में कहे गए सिद्धान्त का, अंतिम शरीर से एक तृतीयांश भाग प्रमाण हीन सिद्धों की अवगाहना रहती है, रहस्य विचारणीय है।

समाधान—सम्पूर्ण दृश्यमान शरीर की अवगाहना को लक्ष्य में रखकर किंचित् ऊन चरम शरीर प्रमाण कथन किया गया है। सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर ज्ञात होगा कि शरीर के भीतर मुख, उदर आदि में आत्म प्रदेश शून्य भाग भी है, उसको घटाने पर शरीर का घनफल एक तृतीय भाग न्यून होगा, यह अभिप्राय तिलोयपण्णत्तिकार का प्रतीत होता है। इस दृष्टि से दोनों मतों में समन्वय करना युक्ति तथा अनुभव के अविरुद्ध प्रतीत होता है।

१०३. सिद्ध भूमि ही ब्रह्मलोक है—जिस महात्मा ने मोक्ष की भी अभिलाषा का त्याग कर दिया वह मोक्ष को प्राप्त करता है, इस आत्म वाणी को ध्यान में रखते हुए आत्म हित के इच्छुक भव्य जीवों को समस्त इच्छाओं का त्याग करना चाहिए।

इच्छाओं का जब तक सद्भाव रहता है, तब तक आत्मा अपनी निर्मल स्थिति को नहीं प्राप्त करती है। इन इच्छाओं के क्षय होते ही सर्वज्ञता की उज्ज्वल ज्योति से योगी का जीवन अलंकृत हो जाता है। आत्मा की निर्मलता का सर्वज्ञता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसी भ्रान्त आत्मा को परमात्म प्रकाश का यह दोहा महत्त्वपूर्ण प्रकाश प्रदान करता है–

तारायणु जलिबिंबियउ णिम्मलि दिसइ जेम।
अप्पए णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउवि तेम ॥१०३॥

जैसे निर्मल जल में तारागण का प्रतिबिम्ब बिना प्रयत्न के स्वयमेव दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार रागादि मल से रहित निर्मल आत्मा में लोक तथा अलोक स्वयमेव प्रतिबिम्बित होते हैं।

ऐसी निर्मल आत्मायें ही वास्तव में परम ब्रह्म, विष्णु तथा शिव कही जाती हैं। इनके सिवाय दूसरों के द्वारा माना गया लोकव्यापी कोई एक परम ब्रह्म अथवा शिव नहीं है। इन आत्माओं का लोक के शिखर पर निवास होता है। इसलिए सिद्धभूमि ही ब्रह्म लोक है। वही विष्णुलोक तथा शिवलोक भी है। ब्रह्मदेवसूरि ने उपरोक्त विषय को इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया है–''**व्यक्तिरूपेण पुनर्भगवानर्हन्नेव मुक्तिगतः सिद्धात्मा वा परमब्रह्मा विष्णुः शिवो वा भण्यते। तेन नान्यः परिकल्पितः जगद्व्यापी तथैवैकः परमब्रह्मा शिवो वास्तीति। अयमत्रार्थः।'' यत्रासौ मुक्तात्मा लोकाग्रे तिष्ठति स एव ब्रह्मलोक स एव विष्णुलोकः स एव शिवलोको नान्यः कोऽपीति भावार्थः।** (परमात्मप्रकाश टीका, पृ० ११३)

१०४. सिद्धालय में निगोदिया जीव भी रहते हैं, इसका क्या रहस्य है? समाधान– सिद्धलोक में सभी सिद्ध जीवों का ही निवास है, ऐसा सामान्यतया लोक में समझा जाता है, किन्तु आगम के प्रकाश में यह भी ज्ञात होता है कि अनन्तानन्त सूक्ष्म निगोदिया जीव सर्वत्र लोक में भरे हैं, अतः वे सिद्धालय में भी भरे हुए हैं। इससे यह सोचना कि उन निगोदिया जीवों को कुछ विशेष सुख की प्राप्ति होती होगी, अनुचित है, क्योंकि प्रत्येक जीव सुख–दुःख का संवेदन अपने–अपने कर्मोदय के अनुसार करता है। इस नियम के अनुसार निगोदिया जीव कर्माष्टक के उदयजन्य कष्टों के समुद्र में डूबे रहते हैं और उसी आकाश के क्षेत्र में विद्यमान केवल आत्म प्रदेश वाले सिद्ध भगवान् आत्मोत्पन्न परम शुद्ध निराबाध आनन्द का अनुभव करते हैं।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा निगोदिया जीव भी सिद्धों के समान कहे जाते हैं, किन्तु परमागम में जिनेन्द्र देव ने पर्याय दृष्टि का भी प्रतिपादन किया है, उसकी अपेक्षा दोनों का अंतर स्पष्ट है। भूल से एकान्त पक्ष की विकार युक्त दृष्टि के कारण मूढ़जन सर्वथा सब संसारी जीवों को सिद्धों के समान समझ बैठते हैं और धर्माचरण में प्रमादी बन जाते हैं। स्याद्वाद दृष्टि का आश्रय लिए बिना यथार्थ रहस्य ज्ञात नहीं हो पाता है।

१०५. सिद्ध भगवान् और वीतरागता–

प्रश्न–कोई यह सोच सकता है कि भगवान् में अनंतज्ञान है, अनन्त शक्ति है और भी अनन्त गुण उनमें विद्यमान हैं। यदि वे दु:खी जीवों के हितार्थ कुछ कृपा करें तो संसारी जीवों को बड़ी शांति मिलेगी।

समाधान–वस्तु का स्वभाव हमारी कल्पना के अनुसार नहीं बदलता है। पदार्थों के स्वभाव को आगम में स्वाश्रित कहा है। बीज के दग्ध हो जाने पर पुनः अंकुरोत्पादन कार्य नहीं हो सकता है, इसी प्रकार कर्म के बीज रूप रागद्वेष भावों का सर्वथा क्षय हो जाने से पुनः लोक कल्याणार्थ प्रवृत्ति के प्रेरक कर्मों का भी अभाव हो गया है। अब वे वीतराग हो गए हैं।

आचार्य अकलंकदेव ने राजवार्तिक में एक सुन्दर चर्चा की है। शंकाकार कहता है– ''**स्यात् एतत् व्यसनार्णवे निमग्नं जगदशेष जानतः पश्यतश्च कारूण्यमुत्पद्यते।**'' सम्पूर्ण जगत् को दु:ख के सागर में निमग्न जानते तथा देखते हुए सिद्ध भगवान् के करुणाभाव उत्पन्न होता होगा। शंका का भाव यह है कि अन्य सरागी, सम्प्रदाय में उनका माना गया काल्पनिक रागद्वेष, मोहादि सम्पन्न परमात्मा जीवों के हितार्थ संसार में आता है। ऐसा ही सिद्ध भगवान् करते होंगे, यह शंकाकार का भाव है। इस दृष्टि से प्रेरित होकर उपरोक्त प्रश्न के पश्चात् वह कहता है–''**ततश्चबंधः**'' जब भगवान् के मन में करुणाभाव उत्पन्न होगा तो वे बन्ध को भी प्राप्त होंगे।

समाधान–तत्र किं कारणं? सर्वास्रव-परिक्षयात् भक्ति-स्नेह-कृपा-स्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्वीतरागे न ते संतीति'' (पृ० ३६२, ३६३-१०-४) ऐसा नहीं है, कारण भगवान् के सर्व कर्मों का आस्रव बन्द हो गया है। भक्ति, स्नेह, कृपा, इच्छा आदि सब रागभाव के ही भेद हैं। वीतराग प्रभु में उन भावों का सद्भाव नहीं है।

प्रश्न–यदि भगवान् कुछ कालपर्यंत मोक्ष में रहकर पुनः संसार में आ जायें तो इसमें क्या बाधा है?

समाधान–गंभीर चिंतन से पता चलेगा कि अपने ज्ञान द्वारा जब परमात्मा जानते हैं कि मैं राग, द्वेष, मोहादि शत्रुओं के द्वारा अनंत दु:ख भोग चुका हूँ, तब वे सर्वज्ञ, समर्थित तथा आत्मानन्द का रसपान करने वाले परमात्मायें पाप-पंक में डूबने का विचार करेंगे? अपनी भूल के कारण पंजर बद्ध बुद्धिमान पक्षी भी एक बार पिंजरे से छूटकर स्वतन्त्रता का उपभोग छोड़कर पुनः पिंजरे में आने का क्यों प्रयत्न करेगा? तब निर्विकार, वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा अपनी स्वतन्त्रता को छोड़कर पुनः माता के गर्भ में आकर अत्यन्त मलिन मानव शरीर धारण करने की कल्पना भी नहीं करेगा। ऐसी कल्पना मनोविज्ञान तथा स्वस्थ विचारधारा के पूर्णतया विरुद्ध होगी।

प्रश्न–सिद्ध पर्याय प्राप्त करने पर वे भगवान् अनन्त काल पर्यंत क्या कार्य करते हैं?

समाधान—भगवान् अब कृतकृत्य हो चुके हैं। उन्हें संसार का कोई काम करना बाकी नहीं रहा है। सर्वज्ञ होने से संसार का चिरकाल तक चलने वाला विविध रसमय नाटक उनके सदा ज्ञान गोचर होता रहता है। उन सर्वज्ञ के समान ही शुद्धोपयोग वाला तथा अनन्त गुण वाला जीव विभाव को आश्रय लेकर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ अनन्त प्रकार अभिनय करता है। विश्व के रंगमंच पर चलने वाले इस महानाटक का महाप्रभु निर्विकार भाव से प्रेक्षण करते हुए अपनी आत्मानुभूति का रसपान करते रहते हैं।

एक बात और है। सिद्ध भगवान् योगीन्द्रों के भी परम आराध्य हैं। समाधि के परम अनुरागी योगी जन कहते हैं। जितना महान् तथा उच्च योगी होगा, उसकी समाधि भी उतनी ही उच्च प्रकार की होगी। योगी यदि सर्वोच्च हो तो उसकी समाधि भी श्रेष्ठ रहेगी। सिद्ध भगवान् परम समाधि में सर्वदा निमग्न रहते हैं। उनकी आत्मसमाधि कभी भी भंग नहीं होती है, क्योंकि अब उन सिद्धों के क्षुधा, तृषादि की व्यथा का क्षय हो गया है। शरीर भी नष्ट हो चुका है अब वे सिद्ध ज्ञानशरीरी बन गए हैं। इस शुद्ध आत्म समाधि में उन्हें अनंत तथा अक्षय आनन्द प्राप्त होता है। उस समाधि में निमग्न रहने से उनकी बहिर्मुख वृत्ति की कभी भी कल्पना नहीं की जा सकती है।

जब तक ऋषभनाथ भगवान् सयोगी तथा अयोगी जिन थे तब तक वे सकल-परमात्मा थे। उनके भव्यत्व नाम का पारिणामिक भाव था। जिस क्षण वे सिद्ध भगवान् हुए उसी समय वे निकल-परमात्मा हो गए। भव्यत्व भाव भी दूर हो गया। अभव्य तो वे थे ही नहीं, भव्यपना विद्यमान था, वह भी दूर हो गया, इससे वे अभव्य-भव्य के विकल्प से भी मुक्त हो गए हैं। कैलाशगिरि से एक समय में ही ऋजुगति द्वारा गमन करके भगवान् ऋषभदेव सिद्धभूमि में पहुँच गए हैं। वहाँ वे अनन्त सिद्धों के समूह में सम्मिलित हो गए हैं। उनका व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता है। वेदान्ती मानते हैं ब्रह्म दर्शन के पश्चात् जीव परम ब्रह्म में विलीन होकर स्वयं के अस्तित्व से शून्य हो जाता है। सर्वज्ञ प्रणीत परमागम कहता है कि कभी भी सत् का नाश नहीं होता है। अतएव सिद्ध भगवान् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभाव में सदा अवस्थित रहते हैं।

१०६. एक ब्रह्म की कल्पना अपरमार्थ है—इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की है कि सिद्ध भगवान् आपस में सभी समान हैं। अनन्त प्रकार के जो संसारी जीवों के कर्मकृत भेद पाए जाते हैं। उनका वहाँ अभाव है। सभी सिद्ध परमात्मा एक से हैं। एक नहीं है। उनमें परस्पर में सादृश्य है। एकत्व नहीं है। अन्य सम्प्रदाय मुक्ति प्राप्त करने वालों का ब्रह्म में विलीन होना मानकर एक ब्रह्म कहते हैं। स्याद्वाद शासन बताता है कि एक ब्रह्म की कल्पना युक्ति संगत नहीं है 'एक' के स्थान में एक सदृश अथवा एक से कहना परमार्थ कथन हो जाता है।

१०७. द्वैत अद्वैत विचार—सिद्धभूमि में पापात्माओं का भी साम्यवाद है। वहाँ रहने वाले अनन्तानन्त निगोदिया जीव दुःख तथा आत्म गुणों के ह्रास की अवस्था में सभी-समानता धारण करते

हैं। प्रत्येक प्राणी को जीवन में अपनी शक्ति भर सिद्धों के सदृश बनने का विशुद्ध भागीरथ प्रयत्न करना चाहिए।

जब जीव कर्मों का नाश कर के शुद्धावस्था युक्त निकल परमात्मा बन जाता है, तब उसकी अद्वैत अवस्था हो जाती है। आत्मा अपने एकत्व को प्राप्त करता है और कर्म रूपी माया जाल से मुक्त हो जाता है, मुक्तात्मा की अपेक्षा वह अद्वैत अवस्था है। इस तत्त्व को जगत् भर में लगाकर सभी को अद्वैत के भीतर समाविष्ट मानना एकान्त मान्यता है, जो असत्य की भूमि पर अवस्थित होने से क्षण भर भी युक्ति तथा सद्विचार के समक्ष नहीं टिक सकती। सिद्ध भगवान् बंधन रूप द्वैत अवस्था से छूटकर आत्मा की अपेक्षा अद्वैत पदवी को प्राप्त हो गए हैं। इस प्रकार का अद्वैत स्याद्वाद शासन भी स्वीकार करता है। यह अद्वैत अन्य द्वैत का विरोधक नहीं है। जो संहारक अद्वैत समस्त द्वैत के विनाश को केन्द्र बिन्दु बनाता है, वह तत्काल स्वयं क्षय को प्राप्त होता है।

अनन्त गुण सम्पन्न होने के कारण सिद्ध भगवान् को अनंत कहना उचित है। वर्तमान युग के कवि जिस अनन्त की ओर अपनी कल्पना को दौड़ाते हैं, उनका लक्ष्य यथार्थ में ये अनन्त गुण राशि के भण्डार परम प्रभु हैं।

१०८. निर्वाण भूमि–ऋषभनाथ भगवान् कैलाश पर्वत पर मुक्त हुए, पश्चात् वे सिद्धालय में ऊर्ध्वगमन स्वभाव वश पहुँचे। इस दृष्टि से प्रथम मुक्ति स्थल ऋषभनाथ भगवान् की अपेक्षा कैलाश पर्वत है, वासुपूज्य भगवान् की दृष्टि से चम्पापुर है, नेमि जिनेन्द्र की अपेक्षा गिरनार अर्थात् ऊर्जयन्त गिरि है। वर्धमान भगवान् की अपेक्षा पावापुर है और शेष बीस तीर्थंकरों की अपेक्षा सम्मेदशिखर निर्वाण स्थल है। निर्वाणकाण्ड में कहा है–

अष्टापदे वृषभश्चंपायां वासुपूज्यजिननाथः।
ऊर्ज्जयन्ते नेमिजिनः पावायां निर्वृतो महावीरः॥१॥
विंशतिस्तु जिनवरेन्द्राः अमरासुरवन्दिता धुतक्लेशाः।
सम्मेदे गिरिशिखरे निर्वाणं गता नमस्तेभ्यः॥२॥

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि केवलज्ञान होने के पश्चात् भगवान् का परम औदारिक शरीर पृथ्वी तल का स्पर्श नहीं करता है। इसलिए मोक्ष जाते समय उन्होंने भूतल का स्पर्श किया होगा। यह विचार उचित नहीं है। भगवान् के कर्म जाल से छूटने का असली स्थान वे आकाश के प्रदेश हैं, जिनको मुक्त होने के पूर्व उनके परम पवित्र देह ने स्पर्श किया था। तिलोयपण्णत्ति में क्षेत्र मंगल पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–

एदस्य उदाहरणं पावाणय-रुज्जयंत-चंपादी।
आउट्ठ-हत्थपहुदी पणुवीस-व्यहिय पणसयधणूणि ॥१-२२॥

देहअवट्ठिद केवलणाणावट्ठद्ध-गयण देसो वा।
सेढि-घणमेत्त अप्पप्पदेसगद लोयपूरणा पुण्णा ॥१-२३॥

इस क्षेत्र मंगल के उदाहरण पावानगर, ऊर्जयन्तगिरि और चम्पापुर आदि हैं। अथवा साढ़े तीन हाथ से लेकर पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण शरीर में स्थित और केवलज्ञान से व्याप्त आकाश के प्रदेशों को क्षेत्र मंगल समझना चाहिए। अथवा जगत् श्रेणी के घनमात्र अर्थात् लोक प्रमाण आत्मा के प्रदेशों से लोकपूरण समुद्घात द्वारा पूरित सभी तीन लोकों के प्रदेश भी क्षेत्र मंगल है।

स्वयंभूस्तोत्र में लिखा है कि उर्जयन्त गिरि से अरिष्टनेमि जिनेन्द्र के मुक्त होने के पश्चात् इन्द्र ने गिरनार पर्वत पर चरण चिह्नों को अंकित किया था, जिससे भगवान् के निर्वाण स्थान की सदा पूजा की जा सके। कहा भी है–

ककुदं भुवः खचर-योषिदुषित-शिखरैरलंकृतः।
मेघपटल-परिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥१२७॥

वह उर्जयन्तपर्वत पृथ्वीरूप बैल की ककुद के समान था। उसके शिखर विद्याधरों तथा विद्याधरियों से शोभायमान थे तथा उसका तट मेघ पटल से घिरा रहता था। उस पर वज्री अर्थात् इन्द्र ने आपके अर्थात् नेमिनाथ भगवान् के चरण चिह्नों को उत्कीर्ण किया था।

इस कथन के अनुसार इन्द्र ने अन्य तीर्थंकरों के निर्वाण क्षेत्रों पर भी भगवान् के चरण चिह्नों की स्थापना की होगी यह मानना उचित है।

जिस काल में भगवान् ने मोक्ष प्राप्त किया था, वह समय समस्त पाप मल के गलाने का कारण होने से काल मंगल माना गया है।

१०९. कर्मों के नाश का क्या अर्थ है ?

प्रश्न—सत् पदार्थ का कभी भी सर्वथा क्षय नहीं होता है, तब भगवान् ने समस्त कर्मों का क्षय किया इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—यह बात यथार्थ है कि सत् का सर्वथा नाश नहीं होता है और न कभी असत् का उत्पाद ही होता है। समन्तभद्रस्वामी ने कहा है–"**नैवाऽसतो जन्म, सतो न नाशो**" अर्थात् असत् का जन्म नहीं होता है तथा सत् का नाश भी नहीं होता है। कर्मों के नाश का अर्थ यह है कि आत्मा से उन कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है। उन कर्मों में रागादि विकार उत्पन्न करने की शक्ति दूर हो जाती है। वैसे पदार्थ की शक्ति का नाश नहीं होता है। यहाँ अभिप्राय यह है कि पुद्गल ने कर्मत्व पर्याय का त्याग कर दिया है। वह पुद्गल कर्म पर्याय के रूप में विद्यमान है। अन्य कषायवान् जीव के द्वारा उसे कर्म योग्य बनाने पर पुनः कर्म पर्याय रूप परिणत कर सकता है। मुक्त होने वाली आत्मा के साथ उस पुद्गल का अब कभी पुनः बन्ध नहीं होगा। कर्म क्षय का इतना ही मर्यादा पूर्ण अर्थ करना

उचित है।

११०. निषीधिका—आत्म निर्मलता सम्पादन में सिद्धभूमि का आश्रय ग्रहण करना भी उपयोगी माना गया है। निर्वाण स्वामी सल्लेखना करने के लिए निर्वाण-स्थल में निवास को अपने लिए हितकारी अनुभव करते हैं। क्षपकराज चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज ने आत्म विशुद्धता के लिए ही कुंथलगिरि नामक निर्वाण भूमि को अपनी अंतिम तपोभूमि बनाया था। आचार्य महाराज की पहले इच्छा थी कि मैं पावापुरी में जाकर सल्लेखना को स्वीकार करूँ। उन्होंने कहा था ''हमारी इच्छा पावापुर में सल्लेखना लेने की है। वहाँ जाते हुए यदि मार्ग में ही हमारा शरीरान्त (स्वर्गवास) हो जाय तो हमारे शरीर को जहाँ हमारे पिता हैं, वहाँ पहुँचा देना।''

प्रश्न—''महाराज। पिता से आपका क्या अभिप्राय है?''

उत्तर—''महावीर भगवान् हमारे धर्म पिता हैं?''

प्रश्न—''तब तो जिनवाणी आपकी माता हुईं?''

उत्तर—बिल्कुल ठीक बात है जिनवाणी हमारी माता हैं और महावीर भगवान् हमारे धर्म पिता हैं।

सिद्धभूमि में रहने से भावों में विशेष निर्मलता आती है तथा वहाँ सुखपूर्वक बहुत उपवास बन जाते हैं ऐसा हमारा अनुभव है। यहाँ कुंथलगिरि में पाँच उपवास करते हुए भी हमें ऐसा लगता है कि हमने एक ही उपवास किया है। ये उद्‌गार महाराज शांतिसागरजी ने १९५३ में कुंथलगिरि चातुर्मास के समय व्यक्त किए थे।

निर्वाण भूमि को निषीधिका कहा गया है। प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी में गौतम गणधर ने लिखा है **''णमोत्थुदे णिसीधिए णमोत्थु दे अरहंत, सिद्ध''** (पृ० २०) निषीधिका को नमस्कार है। अरहंतों को नमस्कार है। सिद्धों को नमस्कार है। संस्कृत टीका में आचार्य प्रभाचन्द्र ने निषीधिका के सत्रह अर्थ करते हुए उसका अर्थ सिद्ध जीव, निर्वाण क्षेत्र, उनके द्वारा आश्रित आकाश के प्रदेश भी किया है, उन्होंने यह गाथा भी उद्‌धृत की है–

सिद्धाय सिद्धभूमी सिद्धाण-समाहिओ णहो-देसो।
एयाओ अण्णाओ णिसीहीयाओ सया वंदे॥

सिद्ध, सिद्धभूमि, सिद्धों के द्वारा आश्रित आकाश के प्रदेश आदि निषीधिकाओं की मैं सदा वंदना करता हूँ।

इस आगम के प्रकाश में कैलाशगिरि आदि निर्वाण भूमियों का महत्त्व स्पष्ट होता है।

इससे 'निषीधिका या निषेधिका' पूज्य है यह निर्विवाद है। निषीधिका शब्द का प्रतिनिधि शब्द कानड़ी भाषा में 'निशिदी' और मराठी में 'समाधि' कहने का प्रधात (प्रचार) है। दक्षिण भारत के

महाराष्ट्र प्रांत में कोल्हापुर, कुंभोज-बाहुबली पहाड़, नांदणी, शेडबाल, रायबाग, तेरदाल, भिलवड़ी, अक्किवाट इत्यादि अनेक गाँवों में निषीधिका हैं। और दक्षिण कर्नाटक प्रान्त में श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि पहाड़ पर भद्रबाहु स्वामी की निषीधिका है। इस विषय का वर्णन रत्ननन्दीमुनि विरचित 'भद्रबाहु' पुराण में लिखा है।

निषेधिका पूजा के सम्बन्ध में कुन्दकुन्दाचार्य विरचित षट् प्राभृत ग्रन्थ की टीका में श्रुतसागर सूरी लिखते हैं कि :-

देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्वेसु करेइ।
नियमिं पाउ हवेइ तसु जें संसारू भभेइ ॥

(संस्कृत छाया)

देवेभ्यः शास्त्रेभ्यो मुनिवरेभ्यो यो विद्वेषं करोति।
नियमेन पापं भवति तस्य येन संसारे भ्राम्यति ॥ योगीन्द्र देव

टीका—अस्यदोहकस्यभावः—देवशास्त्रगुरूणां प्रतिमासु निषीधिकादिषु च पुष्पादिभिः पूजादिषु लोका द्वेषं कुर्वन्ति तेषां पापं भवति, तेन पापेन ते नरकादौ पतन्ति इति ज्ञातव्यम्। श्री श्रुतसागर सूरि।

भावार्थ—देव, शास्त्र, गुरुओं की प्रतिमा और निषीधिका आदि स्थानों की पुष्पादिक से पूजन करने के लिए लोग द्वेष करते हैं, वे दुर्गति में जाते हैं।

इस विषय में नेमिचन्द्रकृत प्रतिष्ठा तिलक शास्त्र में निषीधिका की यथोक्त प्रतिष्ठा करके उसकी पूजन करना चाहिए। इस विषय का वर्णन आया है—

गद्य—ऐदंयुगीनाचार्यादिषु पूर्वाचार्यगुणस्य सत्तां वीक्ष्य तप्तादुकाद्वयं आचार्यादि-प्रतिष्ठावत् प्रतिष्ठापयेत्। प्रसिद्ध संन्यास मरण प्राप्त गुर्वादिनिषेधिकां जिनगृहे निर्माप्य जिनप्रतिष्ठाकाले प्रतिष्ठाप्य क्षपकांगोज्झनभूमौ निवेशयेत्। अथवा बहिरेव निर्माप्य जिनप्रतिष्ठासमये नयनोन्मीलनं तद्द्रव्येण प्रापय्य तत्र गत्वा शेषविधिं स्वयमिन्द्रः कृत्वा संघक्रियां कुर्यात्। अथवा क्षपकांगोज्जनावनौ आचार्यादिप्रतिष्ठोक्तविधिं सर्व समासतः कृत्वा वर्द्धमानस्वामिनिर्वाणकाले निषेधिकां प्रतिष्ठापयेत्।

उपर्युक्त आधार से वर्तमान में जहाँ-जहाँ निषीधिका हैं, वहाँ-वहाँ के श्रावक लोग उनकी नित्य नैमित्तिक जो पूजा करते हैं, वह यथायोग्य होते हुए भी शास्त्रोक्त है।

१११. मृत्यु- मोक्ष और समाधि में क्या अंतर है ? समाधान—पौद्गलिक कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध छूटने को द्रव्यमोक्ष कहते हैं। जिन परम विशुद्ध भावों द्वारा संवर तथा निर्जरा द्वारा कर्मों का क्षय होता है, उसे भावमोक्ष कहते हैं। इस मोक्ष अवस्था में कर्म और जीव पृथक् हो जाते हैं। बंध की

अवस्था में कर्म ने जीव को बांधा था और जीव ने कर्मों को पकड़ लिया था। उस अवस्था में जीव और पुद्गल में विकार उत्पन्न होने से वैभाविक परिणमन हुआ करता था। मोक्ष होने पर जैसे जीव स्वतंत्र हो जाता है, उसी प्रकार बंधनबद्ध कर्मपरिणत पुद्गल भी स्वतंत्र हो जाता है। जीव की स्वतन्त्रता का फिर विनाश नहीं होता, किन्तु पुद्गल पुनः अशुद्ध पर्याय को प्राप्त कर अन्य संसारी जीवों में विकार उत्पन्न करता है। दोनों की स्वतंत्रता में इतना अंतर है।

भगवान् ने निर्वाण का दिन यथार्थ में आध्यात्मिक स्वाधीनता दिवस है। उस दिन मृत्यु की मृत्यु हुई है और पुरुषार्थी आत्मा ने श्रेष्ठ पुरुषार्थ को प्राप्त किया है। निर्वाण तथा मृत्यु में यही अंतर है। भुज्यमान आयु कर्म के नष्ट होने के पूर्व ही आगामी भव की आयु का बंध होता रहता है। वर्तमान आयु का क्षय होने पर वर्तमान शरीर का परित्याग होता है। पश्चात् जीव पूर्व बद्ध आयु कर्म के अनुसार अन्य देह को धारण करता है। इस प्रकार मृत्यु का सम्बन्ध आगामी जीवन से बना रहता है। मोक्ष में ऐसा नहीं होता है। परिनिर्वाण की अवस्था में आयुकर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से जन्म-मरण की शृंखला समाप्त हो जाती है। इस पञ्चमकाल में संहनन की हीनता के कारण मोक्ष के योग्य शुक्लध्यान नहीं बन सकता है। अतः मोक्ष के होने का वर्तमान काल में भरतक्षेत्र से अभाव है।

सरागी सम्प्रदायों में निर्वाण का आंतरिक मर्म का अवबोधन होने से वे लोक प्रसिद्ध व्यक्ति की मृत्यु को भी परिनिर्वाण या महानिर्वाण कह देते हैं। सम्पूर्ण परिग्रह को त्याग कर दिगम्बर मुद्राधारी श्रमण बनने वाले व्यक्ति को रत्नत्रय की पूर्णता होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। जो कुगुरु, रागी-द्वेषी देवों तथा हिंसामय धर्म से अपने को उन्मुक्त नहीं कर पाए हैं, उनकी मृत्यु को निर्वाण मानना उचित नहीं है। तत्त्वज्ञानी ऐसी भ्रान्त धारणाओं के जाल से अपने को बचाता है।

तत्त्वार्थसार में एक सुन्दर शंका उत्पन्न कर उसका समाधान किया गया है।

स्यादेतदशरीरस्य जंतोर्नष्टाष्टकर्मणः।
कथंभवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरंशृणु ॥४६, मोक्षतत्त्वम्॥

प्रत्येक निर्वाण दीक्षा लेने वाले श्रमण भगवान् का स्मरण करते हुए यह कामना करते हैं "इच्छामि भंते। कम्मक्खओ भगवन्! मैं कर्मों के नाश की आकांक्षा करता हूँ।" "भंते। समाहिमरणं जिणगुण संपत्ति होहु मज्झं" प्रभो! मुझे समाधिमरण प्राप्त हो तथा जिनेन्द्र गुणसम्पत्ति की प्राप्ति हो।

सत्रह प्रकार के मरणों में समाधि अर्थात् मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति की पूर्णतापूर्वक शरीर का त्याग अयोगी जिन के पाया जाता है। उस मरण का नाम पण्डित-पण्डित मरण कहा है। मिथ्यात्वी जीव का मरण 'बालबाल' मरण कहा है। **पंडा यस्यास्ति असौपण्डितः।** जिसके पंडा का सद्भाव है, वह पण्डित है। मूलाराधना में लिखा है-"**पंडा हि रत्नत्रय-परिणता बुद्धिः**" (पृ० १०५) रत्नत्रय धर्म के धारण करने में उपयुक्त बुद्धि पण्डा है। उस बुद्धि से अलंकृत व्यक्ति पण्डित है। सच्चा पाण्डित्य तो तब ही शोभायमान होता है, जब जीव हीनाचार का त्याग कर विशुद्ध प्रवृत्ति

द्वारा अपनी आत्मा को अलंकृत करता है। आगम में व्यवहार पण्डित, दर्शन पण्डित, ज्ञान पण्डित तथा चरित्र पण्डित रूप से पण्डित के भेद कहे गए हैं। अयोगी जिन परिपूर्ण दर्शन, ज्ञान तथा चरित्र से सम्पन्न होने के कारण पण्डित-पण्डित हैं। उनका शरीरान्त पण्डित-पण्डित मरण है। इसके पश्चात् उस आत्मा का मरण पुनः नहीं होता है। जिस शुद्धोपयोगी, ज्ञान चेतना का अमृतपान करने वालों को ऐसा समाधिमरण प्राप्त होता है, उनको जिनेन्द्र की अष्ट गुण रूप सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। ऐसी अवस्था की सदा अभिलाषा की जाती है। छह माह आठ समय में ६०८ महान् आत्माओं को आत्म गुणरूप विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। जीवन में मोक्ष प्राप्ति से बढ़कर श्रेष्ठ क्षण नहीं हो सकता है। अतएव विचारवान् व्यक्ति की दृष्टि से निर्वाणकल्याणक का सर्वोपरि महत्त्व है। वह अवस्था आत्मगुणों का चिंतन करते हुए जीवन को उज्ज्वल बनाने की प्रेरणा प्रदान करती है।

मोक्ष प्राप्ति की महत्ता को सभी स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्य जीवों के समाधिमरण को वे शोक का हेतु सोचते हैं। इस सम्बन्ध में हरिवंश पुराण से महत्त्वपूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। आचार्य कहते हैं-

मिथ्यादृष्टेः सतो, जन्तोः मरणं शोचनाय हि।
न तु दर्शनशुद्धस्य समाधिमरणं शुचे ॥६१-९७॥

मिथ्यात्वी जीव का मरण सत्पुरुषों के लिए शोक का कारण है, क्योंकि उस जीव ने अपनी आत्मा का कल्याण नहीं किया है तथा विषयों में आसक्त होकर दुर्लभ नर जन्म बिता दिया। सम्यग्दर्शन से विशुद्ध आत्मा का समाधिमरण शोक का कारण नहीं है।

११२. सिद्धों के किस प्रकार सुख माना जायेगा ? अष्ट कर्मों के नाश करने वाले शरीर रहित मुक्तात्मा के कैसे सुख पाया जायेगा? शंकाकार का अभिप्राय यह है कि शरीर के होने पर सुखोपभोग के साधन इन्द्रियों द्वारा विषयों से आनंद की उपलब्धि होती थी। मुक्तावस्था में शरीर का नाश हो जाने से सुख का सद्भाव कैसे माना जाये?

समाधान—सुख शब्द का प्रयोग लोक में विषय, वेदना का अभाव, विपाक, मोक्ष इन चार अर्थों में होता है।

तत्त्वार्थसार में कहा भी है-

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते।
विषये वेदनाऽभावे विपाके मोक्षएव च ॥ ४७, मोक्षतत्त्वम्॥

''**सुखं वायुः सुखं वह्निः**'' यह पवन आनंददायी है। यह अग्नि अच्छी लगती है। यहाँ विषय में सुख शब्द का प्रयोग हुआ है। दुःख का अभाव होने पर पुरुष कहता है ''**सुखितोऽस्मि**'' मैं सुखी हूँ। पुण्य कर्म सातावेदनीय के विपाक-उदय से इन्द्रिय तथा पदार्थ से उत्पन्न सुख प्राप्त होता है। श्रेष्ठ सुख की प्राप्ति, कर्मक्लेश का अभाव होने से मोक्ष में होती है, मोक्ष में सुख के समान

अन्य आनंद नहीं है, इससे उस मोक्ष के सुख को निरुपम कहा है। त्रिलोकसार में लिखा है–

चक्कि-कुरु-फणि-सुरेन्दे-सहमिन्दे जं सुहं तिकालभयं।
तत्तो अणंतगुणिदं सिद्धाणं खणसुहं होदि ॥५६०॥

चक्रवर्ती, कुरु, नागेन्द्र, सुरेन्द्र, अहमिन्द्रों में जो क्रमशः अनंतगुणा सुख पाया जाता है, उनके सुखों को अनंत गुणित करने से जो सुख होता है, उतना सुख सिद्ध भगवान् को क्षणमात्र में प्राप्त होता है।

सुख और दुःख की सूक्ष्मता पूर्वक मीमांसा की जाये तो ज्ञात होगा कि सच्चा सुख तथा शांति भोग में नहीं त्याग में है। भोग से तृष्णा की वृद्धि होती जाती है। उससे अनाकुलता रूप सुख का नाश होता जाता है। इन्द्रिय जनित सुख का स्वरूप समझाते हुए आचार्य कहते हैं, तलवार की धार पर मधु लगा दिया जाय। उसको चाटते समय कुछ आनंद अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु जीभ के कट जाने से अपार वेदना होती है।

विषय जनित सुखों को, दुःख कहने के बदले में सुखाभास नाम दिया जाता है। परमार्थ दृष्टि से यह सुखाभास दुःख ही है। पञ्चाध्यायी में वैषयिक सुख के विषय में कहा है–

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम्।
नहि तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥ पं.भाग २-२३८॥

वह इन्द्रियजन्य सुख सुखाभास है। यथार्थ में वह दुःख ही है।

शक्र-चक्रधरादीनां केवल पुण्यशालिनाम्।
तृष्णाबीजं रतिं तेषां सुखावाप्तिस्कुतस्तनी ॥ पं.भाग २-२५७॥

महापुण्यशाली इन्द्र, चक्रवर्ती आदि जीवों के तृष्णा के बीज रूप रति अर्थात् आनन्द पाया जाता है। उनको सुख की प्राप्ति कैसे होगी?

समाधान–इन्द्रियजनित सुख कर्मोदय के आधीन है। सिद्धों का सुख स्वाधीन है। इन्द्रिय जन्य सुख अंत सहित है, पाप का बीज है तथा दुःखों से मिश्रित है। सिद्धावस्था का सौख्य अनंत है। वहाँ दुःख का लेश भी नहीं है। विघ्नकारी कर्मों का पूर्ण क्षय हो चुका है। नियमसार में कहा है–

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरूद्दाणि।
णवि धम्म-सुक्कझाणे तत्थेव होइ णिव्वाणं ॥१८१॥

सिद्ध भगवान् के कर्म, नोकर्म नहीं हैं, चिन्ता नहीं है। आर्त तथा रौद्रध्यान नहीं हैं। धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान नहीं हैं। ऐसी अवस्था में ही निर्वाण है। पुनः कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं–

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंत्तं ॥१८३॥

निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है अर्थात् दोनों में अभिन्नता है। कर्मों से रहित आत्मा लोक के अग्रपर्यंत जाती है।

शंका—भोजन, पान आदि के द्वारा सुख प्राप्त होता है, यह संसारी प्राणी का अनुभव है। अतएव सिद्धालय में सुख जनक सामग्री के अभाव में सिद्ध परमात्मा के किस प्रकार सुख माना जायेगा?

समाधान—सिद्ध भक्ति में लिखा है–भगवान् ने क्षुधा तथा प्यास के कारणभूत असातावेदनीय कर्मों का नाश कर दिया है। उस भूख की वेदना का क्षय हो जाने से असंख्य प्रकार के भोजन व्यञ्जन आदि पदार्थ व्यर्थ हो जाते हैं। क्षुधा की वेदना दूर करने को संसारी जीव आहारादि ग्रहण करते हैं। उन सिद्धों के वेदना ही नहीं हैं। अतः औषधि रूप आहार की कोई भी उपयोगिता नहीं रहती है। अपवित्रता से सम्बन्ध न होने के कारण सुगंधित माला आदि की भी आवश्यकता नहीं है। ग्लानि, निद्रा आदि के कारण दर्शनावरण तथा मोहनीयादि कर्मों का क्षय हो गया है, अतएव मृदु शयन आसनादि की आवश्यकता नहीं है। भीषण रोग जनित पीड़ा का अभाव होने से उस रोग के उपशमन हेतु ली जाने वाली औषधि अनुपयोगी है अथवा दृश्यमान जगत् को सूर्य के प्रकाश रहने पर दीपक के प्रकाश का प्रयोजन नहीं रहता है, इसी प्रकार सिद्ध भगवान् के समस्त इच्छाओं का अभाव है, इसलिए बाह्य इच्छा पूर्ति करने वाली सामग्री की आवश्यकता नहीं है। मोहज्वर से पीड़ित जगत् के जीवों का अनुभव मोह से रहित स्वस्थ अर्थात् आत्मस्वभाव में अवस्थित सिद्ध भगवान् के विषय में लगाना अनुचित है। कहा भी है–

नार्थः क्षुत्तृट्विनाशात् विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या-
नास्पृष्टेर्गन्धमाल्यैर्नहि मृदुशयनैर्ग्लानिनिद्राद्यभावात्।
आतंकार्तेरभावे तदुपशमनाद्भेषजानर्थतावद्-
दीपानर्थक्यवद्वा व्यपगततिमिरे दृश्यमाने समस्ते ॥८॥

अवर्णनीय इन्द्रिय जनित सुख का अनुभव लेने वाले सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र सदा यही अभिलाषा करते हैं कि किस प्रकार उनको सिद्धों का स्वाधीन तथा इन्द्रियातीत अविनाशी सुख प्राप्त हो। सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्रों में पूर्णतया समानता रहने से पुण्यात्माओं का परिपूर्ण साम्यवाद पाया जाता है, ऐसा ही साम्यवाद उनसे द्वादश योजन ऊँचाई पर विराजमान सिद्धों के मध्य पाया जाता है। यह आध्यात्मिक विभूतियों के मध्य स्थित साम्यवाद है। अहमिन्द्रों का साम्यवाद तैंतीस सागर की आयु समाप्त होने पर तत्क्षण समाप्त हो जाता है अर्थात् वहाँ से चय होने पर अवस्थान्तर–मनुष्य पर्याय में आना पड़ता है। सिद्धों के मध्य का साम्यवाद अविनाशी है। सब आत्माएँ परिपूर्ण तथा स्वतंत्र हैं। एक दूसरे के परिणमन में न साधक हैं, न बाधक हैं।

संसार में शरीरान्त होने पर शोक करने की प्रणाली है, किन्तु यहाँ भगवान् का देहान्त होते हुए भी आनंदोत्सव मनाया जा रहा है, कारण आज भगवान् को चिरजीवन प्राप्त हुआ है। मृत्यु तो कर्मों की हुई है। आत्मा आज अपने निज भवन आकर अनन्त सिद्ध बन्धुओं के पावन परिवार में सम्मिलित हुआ है। आज आत्मा ने स्व का राज्य रूप सार्थक स्वराज्य का स्वामित्व प्राप्त किया है। भगवान् के अनन्त आनन्द लाभ की वेला में कौन विवेकी व्यथित होगा? इसी से देवों ने उस आध्यात्मिक महोत्सव की प्रतिष्ठा के अनुरूप आनंद नाम का नाटक किया था। इस आनन्द नाटक के भीतर एक रहस्य का तत्त्व प्रतीत होता है। सच्चा आनन्द तो कर्मराशि के नष्ट होने से सिद्धों के उपयोग में आता है। संसारी जीव विषय भोगकर सुख प्राप्ति का नकली नाटक सदा दिखाया करते हैं। सिद्धों के आनन्द की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण में बड़ी सुन्दर बात कही है–

जनेभ्यः सुखिनो भूपाः भूपेभ्यश्चक्रवर्तिनः।
चक्रिभ्यो व्यन्तरास्तेभ्यः सुखिनो ज्योतिषाऽमरा॥१०५-१८७॥
ज्योतिर्भ्योभवनावासास्तेभ्यःकल्पभुवः क्रमात्।
ततो ग्रैवेयकावासास्ततोऽनुत्तरवासिनः ॥१०५-१८८॥
अनंतानंतगुणतस्तेभ्यः सिद्धपदस्थिताः।
सुखं नापरमुत्कृष्टं विद्यते सिद्धसौख्यतः॥१८९॥

मनुष्यों की अपेक्षा राजा सुखी है। राजाओं की अपेक्षा चक्रवर्ती सुखी, चक्रवर्ती की अपेक्षा व्यन्तरदेव तथा व्यन्तरों की अपेक्षा ज्योतिषी देव सुखी हैं। ज्योतिषी देवों की अपेक्षा भवनवासी तथा भवनवासियों की अपेक्षा कल्पवासी सुखी हैं। कल्पवासियों की अपेक्षा ग्रैवेयकवासी तथा ग्रैवेयकवासियों की अपेक्षा विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि यह पञ्च अनुत्तरवासी देव सुखी हैं। उनसे भी अनंतानंतगुणे सुखयुक्त सिद्धपद को प्राप्त सिद्ध भगवान् हैं। सिद्धों के सुख की अपेक्षा दूसरा और उत्कृष्ट आनंद नहीं है।

सिद्धों के ऐसे आनंद के समक्ष अन्य संसारी जीव अपने को सुखी समझते हैं। उनका सुख ऐसा ही अवास्तविक है। जैसे नाटक में नरेश का अभिनय करने वाले व्यक्ति का काल्पनिक राज्य का स्वामित्व भी अयथार्थ है।

११३. सिद्ध भगवान् लोक के अंत तक जाकर क्यों ठहर जाते हैं? आत्मा का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। अनन्त शक्ति भी सिद्ध भगवान् के पाई जाती है। ऐसी स्थिति में वे लोक के अग्रभाग तक जाकर क्यों ठहर जाते हैं? उनके गमन को रोकने की सामर्थ्य किसमें हो सकती है?

समाधान—वस्तु का स्वभाव विचित्रता पूर्ण है। धर्म द्रव्य नाम की गमन में उदासीनता रूप

से सहायता प्रदान करने वाली द्रव्य का लोकाग्र तक सद्भाव है। उस निमित्त कारण का जहाँ तक सद्भाव था, वहाँ तक मुक्त जीव गए और जहाँ उस द्रव्य का अभाव हो गया, वहाँ अनन्त शक्ति वाले तथा ऊर्ध्वगमन सामर्थ्य सम्पन्न सिद्ध परमात्मा को भी रुक जाना पड़ता है। जैन तत्त्व व्यवस्था की यही तो अलौकिकता है, कि तत्त्व के स्वरूप को बदलने की किसी में सामर्थ्य नहीं है। परमात्मा अपने निज तत्त्व का स्वामी है। अन्य द्रव्य के व्यवस्थित कार्यक्रम में उसका हस्तक्षेप नहीं रहता है। इस प्रसंग के द्वारा उस एकान्तवाद का भी निराकरण हो जाता है, जो लोग निमित्त कारण की पूर्णतया उपेक्षा करते हैं। स्वामी समन्तभद्र ने बाह्य तथा अभ्यंतर कारणों की पूर्णता को कार्य का साधक माना है। मोक्ष के लिए अंतरंग अपरिग्रहत्व आवश्यक है, किन्तु इसके लिए बाह्य परिग्रह का परित्याग भी जरूरी है। बाहरी वस्त्रादि धारण करते हुए जीव-प्रमत्तसंयत की श्रेणी में भी नहीं पहुँच सकता है। मोक्ष की बात तो निराली ही है। निमित्त कारण तथा उपादान कारण अपनी-अपनी सीमा के भीतर उचित हैं। कोई निमित्त को ही उपादान का स्थान देता है, तो विषम परिस्थिति उत्पन्न हुए बिना न रहेगी। लोकाग्र में सिद्ध परमात्मा की अवस्थिति यह सूचित करती है कि निमित्त कारण का भी उचित स्थान है। एकांत पक्ष को पकड़ना दुराग्रह है। आगम भक्त को सत्याग्रही बनना चाहिए। असत्य का आग्रह करने से तत्त्व ज्ञान का प्रदीप बुझ जाता है।

११४. मुक्तात्मा अमुक्त भी हैं? शंका—सिद्ध भगवान् मुक्ति लक्ष्मी के स्वामी हो गए हैं। अब इनका मुक्ति श्री से कभी भी वियोग नहीं होगा, अतएव यदि इन प्रभु को मुक्त ही मानते हो, तो आप भी स्याद्वादी के स्थान में एकान्तवादिता के दोषी बन जाते हैं।

समाधान—भगवान् को एकान्त रूप से मुक्त नहीं माना गया है। वे मुक्त भी हैं। अमुक्त भी हैं। मुक्तात्माओं को अमुक्त कहना आश्चर्य प्रद लगेगा, किन्तु तार्किक अकलंक देव का कथन पूर्णतया युक्तियुक्त तथा अविरोधी भी लगेगा। वे 'स्वरूप सम्बोधन' नाम की पञ्चविंशति पद्यात्मक रचना के मंगल पद्य में उक्त विषय में महत्त्वपूर्ण प्रकाश प्रदान करते हैं–

मुक्ताऽमुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमामि तम् ॥१॥

मैं ज्ञान मूर्ति अविनाशी परमात्मा को नमस्कार करता हूँ, जो कर्मों से मुक्त हैं और ज्ञानादि गुणों से अमुक्त हैं अर्थात् युक्त हैं। इस प्रकार ज्ञानमूर्ति वे परमात्मा कर्मों की अपेक्षा मुक्त हैं। ज्ञानादि गुणों की दृष्टि से अमुक्त भी हैं। स्याद्वाद ज्योति के प्रकाश में शंका रूपी तिमिर तत्काल दूर हो जाता है। इस मुक्तामुक्त रूप अवस्था की प्राप्ति के लिए जीव को मोक्ष की अभिलाषा भी त्याज्य कही गई है। मुक्ति की अभिलाषा करने वाला मुमुक्षु माना जाता है। शुभोपयोग की अवस्था में यह जीव मुमुक्षु रहता है। शुद्धोपयोग की भूमि में प्रवेश करते समय **'मुमुक्षु'** संज्ञा का भी परित्याग हो जाता है, कारण उस शुद्धि की ओर प्रगतिशील पुरुष को मोक्ष की भी अभिलाषा का परित्याग आवश्यक

कहा गया है। यह कथन सापेक्ष है। प्रारम्भिक अवस्था में भोगाकांक्षा का त्याग करके मुक्ति की भावना तथा अभिलाषा के लिए प्रेरणा की जाती है, किन्तु पश्चात् समर्थ आत्मा उस निर्वाण की भी अभिलाषा का त्याग करता है। अकलंकदेव ने उक्त रचना में लिखा है–

मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।
इत्युक्तत्वात् हितान्वेषी कांक्षां न क्वापि योजयेत् ॥२१॥

११५. सिद्धों के विशेष गुण–इन सिद्धों के चार अनुजीवी गुण कहे गए हैं। जो घातिया कर्मों के विनाश से अरहंत अवस्था में ही उत्पन्न होते हैं। ये गुण भावात्मक कहे गए हैं। ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, दर्शनावरण के विनाश से केवलदर्शन, मोहनीय के उच्छेद से अविचलित सम्यक्त्व तथा अंतराय के नाश द्वारा अनंतवीर्य रूप गुण चतुष्टय प्राप्त होते हैं।

अघातिया कर्मों के अभाव में चार प्रतिजीवी गुण उत्पन्न होते हैं। वेदनीय के विनाश से अव्याबाधत्व गुण प्रकट होता है। गोत्र के नाश होने पर अगुरुलघु गुण प्राप्त होता है। नाम कर्म के अभाव में अवगाहनत्व तथा आयु कर्म के (जिसे जगत् मृत्यु, यमराज आदि नाम से पुकारता है) विनाश होने पर सूक्ष्मत्व यह चार प्रतिजीवी गुण प्रकट होते हैं। इन अनुजीवी तथा प्रतिजीवी गुणों से अलंकृत यह सिद्ध पर्याय है। इसे स्वभाव-द्रव्य-व्यञ्जन-पर्याय भी कहते हैं। आलापपद्धति में लिखा है ''**स्वभाव-द्रव्य-व्यञ्जन-पर्यायाश्चरम-शरीरात्-किंचित्-न्यून-सिद्धपर्यायाः** (पृ० १६६)''

सिद्ध परमेष्ठी की महत्ता को योगी लोग भली प्रकार जानते हैं। इससे महापुराणकार उनको ''**योगिनां गम्यः**'' योगियों के ज्ञान गोचर कहते हैं। जिनसेन स्वामी का यह कथन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए ध्यान देने योग्य है–

वीतरागोऽप्यसौ ध्येयो भव्यानां भवविच्छिदे।
विच्छिन्नबंधनस्यास्य तादृग्नैसर्गिको गुणः ॥२१-११९॥

भव्यात्माओं को संसार का विच्छेद करने के लिए वीतराग होते हुए भी इन सिद्धों का ध्यान करना चाहिए। कर्म बंधन का विच्छेद करने वाले सिद्ध भगवान् का यह नैसर्गिक गुण कहा गया है।

आचार्य का अभिप्राय यह है कि सिद्ध भगवान् वीतराग हैं। वे स्वयं किसी को कुछ नहीं देते हैं, किन्तु उनका ध्यान करने से तथा उनके निर्मल गुणों का चिंतन करने से आत्मा की मलिनता दूर होती है और यह मुक्ति के मार्ग में प्रगति को प्राप्त करती है। निरंजन निर्विकार तथा निराकार सिद्धों के ध्यान की रूपातीत नाम के धर्मध्यान में परिगणना की गई है।

रूपातीतध्यान में सिद्ध परमात्मा का किस प्रकार योगी चिंतन करते हैं, यह ज्ञानार्णव के सर्ग ४० में इस प्रकार कहा है–

व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शांतमच्युतम्।
चरमाङ्गात्किंचज्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥२२॥
लोकाग्रा-शिखरासीनं शिवो भूतमनामम्।
पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्त च चिन्तयेत् ॥२३॥

आकाश के समान अमूर्त, पौद्‌गलिक आकार रहित, परिपूर्ण, शांत, अविनाशी, चरम देह से किंचित् न्यून, घनाकार आत्म प्रदेशों से युक्त, लोकाग्र के शिखर पर अवस्थित, कल्याणमय, स्वस्थ, स्पर्शादि गुण रहित तथा पुरुषाकार परमात्मा का ध्यान रूपातीत ध्यान में करें।

ध्यान के अभ्यासी के हितार्थ आचार्य शुभचन्द्रदेव ने ज्ञानार्णव सर्ग ४० में यह महत्त्वपूर्ण कथन किया है–

अनुप्रेक्षाश्च धर्म्यस्य स्युः सदैव निबंधनम्।
चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य स्वस्वरूपं निरूपय॥३१॥

हे साधु! अनुप्रेक्षाओं का चिंतन सदा धर्मध्यान का कारण है। अतएव अपनी मनोभूमि में द्वादश भावनाओं को स्थिर करो तथा आत्मस्वरूप का दर्शन करो।

ब्रह्मदेव सूरि का यह अनुभव भी आत्मध्यान के प्रेमियों के ध्यान देने योग्य है– '' **यद्यपि प्राथमिकानां सविकल्पावस्थायां चित्तस्थिति-करणार्थं विषय-कषायरूप-दुर्ध्यान वञ्चनार्थं च जिनप्रतिमाक्षरादिकं ध्येयं भवतीति, तथापि निश्चयध्यानकाले स्वशुद्धात्मैव ध्येय–इति भावार्थः**'' (परमात्मप्रकाश टीका, पृ० ३०२, पद्य २८९) यद्यपि सविकल्प अवस्था में प्रारम्भिक श्रेणी वालों के चित्त को स्थिर करने के लिए तथा विषयकषायरूप दुर्ध्यान अर्थात् आर्तध्यान, रौद्रध्यान को दूर करने के लिए जिनप्रतिमा तथा जिन वाचक अक्षरादिक भी ध्यान करने के योग्य हैं, तथापि निश्चय ध्यान के समय शुद्ध आत्मा ही ध्येय है।

जिनेन्द्र भगवान् की मूर्ति के निमित्त से आत्मा का रागभाव मन्द होता है। परिणाम निर्मल होते हैं तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

११६. सिद्धप्रतिमा–सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने के लिए भी जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा उपयोगी है। सिद्ध प्रतिमा के स्वरूप पर आचार्य वसुनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती ने मूलाचार की टीका में इस प्रकार प्रकाश डाला है– ''**अष्टमहाप्रातिहार्यसमन्विता अर्हत्प्रतिमा, तद्रहिता सिद्धप्रतिमा।**'' जो प्रतिमा अष्टप्रातिहार्य समन्वित हो वह अरहंत भगवान् की प्रतिमा है। अष्टप्रातिहार्य रहित प्रतिमा को सिद्ध प्रतिमा जानना चाहिए। इस विषय में यह कथन भी ध्यान देने योग्य है– ''**अथवा कृत्रिमा यास्ता अर्हत्प्रतिमाः, अकृत्रिमाः सिद्धप्रतिमाः**'' (पृ० ३१, गाथा २५) अथवा सम्पूर्ण कृत्रिम जिनेन्द्र प्रतिमाएँ अरहंत प्रतिमा हैं। अकृत्रिम प्रतिमाओं को सिद्ध प्रतिमा कहा है।

इस आगम वाणी के होते हुए जो धातु विशेष में पुरुषाकार शून्य स्थान बनाकर उसके पीछे दर्पण को रखकर उसे सिद्ध प्रतिमा मानने की प्रवृत्ति विचारने योग्य है। इस प्रकार की मूर्ति का जब आगम में विधान नहीं है, तब आगम की आज्ञा को शिरोधार्य करने वाला सम्यग्दृष्टि अपना कर्त्तव्य और कल्याण स्वयं विचार कर सकता है। दक्षिण भारत के प्राचीन और महत्त्वपूर्ण जिन मंदिरों में इस प्रकार की सिद्ध प्रतिमाएँ नहीं पाई जाती हैं, जैसी उत्तर प्रान्त में कहीं-कहीं देखी जाती हैं। आगम को प्रमाण मानने वाले सत्पुरुषों को परमागम में प्रतिपादित प्रवृत्तियों को ही प्रोत्साहन प्रदान करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

११७. निर्वाण मुद्रा-अचेलमुद्रा या दिगम्बर मुद्रा—सिद्ध पद को प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर वस्त्र रहित (अचेल) मुद्रा का धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। यह दिगम्बर मुद्रा निर्वाण का कारण है इसलिए इसे निर्वाण मुद्रा भी कहते हैं। दक्षिण भारत में दिगम्बर दीक्षा लेने वाले मुनिराज को '**निर्वाण स्वामी**' कहने का सर्वत्र प्रचार है। अजैन भी निर्वाण स्वामी को जानते हैं।

सिद्धों का ध्यान परम कल्याणदायी है, इतना मात्र जानकर भोग तथा विषयों में निमग्न व्यक्ति कुछ क्षण बैठकर ध्यान करने का अभिनय करता है, तो इससे मनोरथ सिद्ध नहीं होगा। ध्यान के योग्य सामग्री का मूलाराधना टीका पृ॰७४ में इस प्रकार उल्लेख किया गया है–

सङ्ग-त्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम्।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनः॥

वस्त्रादि परिग्रह का परित्याग, कषायों का निग्रह, व्रतों का धारण करना, मन तथा इन्द्रियों को वश में करना ये सामग्री ध्यान की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है।

''**बाह्यचेलादिग्रन्थत्यागोऽभ्यंतरपरिग्रहत्यागमूलः**''—बाह्य पदार्थ वस्त्रादि का परित्याग अंतरंग त्याग का मूल है। जैसे चावल के ऊपर लगी हुई मलिनता दूर करने के पूर्व में तंदुल का छिलका दूर करना आवश्यक है, तत्पश्चात् चावल के भीतर की मलिनता दूर की जा सकती है, इसी प्रकार बाह्य परिग्रह त्याग पूर्वक अंतरंग में निर्मलता प्राप्त करने की पात्रता प्राप्त होती है। जो बाह्य मलिनता को धारण करते हुए अंतरंग मलिनता को छोड़ ध्यान का आनंद लेते हुए सिद्धों का ध्यान करना चाहते हैं तथा कर्मों की निर्जरा तथा संवर करने की मनोकामना करते हैं, वे जल का मंथन करके घृत प्राप्ति के उद्योग सदृश कार्य करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्त्रादि के भार से जो मुक्त नहीं हो सकते हैं, उनकी मुक्ति की ओर यथार्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है। जो देशसंयम धारण करते हुए दिगम्बर मुद्रा की लालसा रखता है, वह श्रावक मोक्षमार्गस्थ है। धीरे-धीरे वह अपनी प्रिय पदवी को प्राप्त कर सकेगा, किन्तु जो वस्त्र त्यागादि को व्यर्थ सोचते हैं, वे सकलंक श्रद्धावश

अकलंक पदवी को स्वप्न में भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। गंभीर विचार वाला अनुभवी सत्पुरुष पूर्वोक्त बात का महत्त्व शीघ्र समझेगा। दुराग्रही पुरुष के ऊपर परिग्रह के ममत्व का पिशाच सदा सवार रहने से वह अचेल अवस्था के सद्गुणों की कल्पना भी नहीं कर सकेगा।

मूलाराधना में कहा है–भृकुटी चढ़ाना आदि चिह्नों से जैसे अंतरंग में क्रोधादि विकारों का सद्भाव सूचित होता है, इसी प्रकार बाह्य अचेलता से अंतर्मल दूर होते हैं। कहा भी है–

बाहिर करणविसुद्धि अब्भंतरकरणसोधणत्थाए।
णहु कुंडयस्स सोधी सक्का सतुत्थस्स कादुं जे ॥१३-४८॥

बाह्य तप द्वारा अंतरंग में विशुद्धता आती है तथा जो धान्य सतुष है, उसका अंतर्मल नष्ट नहीं होता है। तुष शून्य धान्य ही शुद्ध किया जाता है।

इसी महत्त्व के कारण निर्वाण के हेतु दिगम्बर मुद्रा को आवश्यक मान उसे निर्वाण मुद्रा कहा गया है।

११८. कैलाशपर्वत (अष्टापदगिरि)–सिद्ध क्षेत्रों में सबसे पहले कैलाशपर्वत बताया गया है। वहाँ से भगवान् ऋषभदेव मोक्ष गए हैं। उत्तरपुराण में अध्याय १ श्लोक १०७-१०८ में लिखा है कि भरत चक्रवर्ती ने उस पर्वत पर रत्नमय जिनालय बनवाए थे और अजितनाथ तीर्थंकर के समय सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों ने पर्वत के चारों ओर खाई का निर्माण किया था। कहा भी है–

राज्ञाऽप्याज्ञापिता यूयं कैलासे भरतेशिना।
गृहा कृता महारत्नैश्चतुर्विंशतिरर्हताम्॥
तेषां गङ्गां प्रकुर्वीध्वं परिखां परितो गिरिम्।
इति तेऽपि तथा कुर्वन् दंडरत्नेन सत्वरम्॥

चक्रवर्ती सगर ने अपने पुत्रों को आज्ञा दी कि महाराज भरत ने कैलाश पर्वत पर महारत्नों के अरहंत देव के चौबीस जिनालय बनवाए हैं। उस पर्वत के चारों ओर खाई के रूप में गंगा का प्रवाह बहा दो। यह सुनकर उन राजपुत्रों ने दण्डरत्न लेकर शीघ्र ही उस काम को पूर्ण कर दिया। अत्यन्त दुर्गम होने के कारण तथा मार्ग अज्ञात होने से वहाँ पहुँचना अशक्य हो गया है।

११९. गंगा भागीरथी नदी का उद्गम–गुणभद्र आचार्य अध्याय १ श्लोक १४०-१४० में यह भी कथन किया है कि राजा भगीरथ ने वैराग्य, उत्पन्न होने पर वरदत्त पुत्र को राज्य लक्ष्मी देकर कैलाश पर्वत पर जाकर **शिवगुप्त महामुनि** के समीप निर्वाण दीक्षा ली और गंगा के किनारे ही प्रतिमायोग धारण किया। गंगा के तट से ही उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया था। इन्द्र ने आकर क्षीरसागर के जल से भगीरथ मुनि के चरणों का अभिषेक किया था, उस अभिषेक का जल गंगा में मिला, तबसे ही यह गंगा संसार में तीर्थ रूप में पूज्य मानी जाती है। कहा भी है–

सुरेन्द्रेणास्य दुग्धाब्धिपयोभिरभिषेचनात्।
क्रमयोस्तत्प्रवाहस्य गङ्गायाः सङ्गमे सति॥
तदा प्रभृति तीर्थत्वंगङ्गाप्यस्मिन्नुपागता।
कृत्वोत्कृष्टं तपो गङ्गातटे निर्वृत्तिं गतः॥

१२०. वैदिक लोग भी कैलाश पर्वत को पूज्य मानते हैं—वे हिमालय पर्वत के समीप जाकर कैलाश की यात्रा करते हैं। कैलाश का जैसा वर्णन उत्तर पुराण में किया गया है वैसी सामग्री का सद्भाव अब तक ज्ञात नहीं हो सका है। उसके विषय में यदाकदा कुछ लेख भी छपे हैं, किन्तु उनके द्वारा ऐसी सामग्री नहीं मिली है, जिसके आधार पर उस तीर्थ की वंदना का लाभ उठाया जा सके। कैलाश नाम के पर्वत का ज्ञान होने के साथ निर्वाण स्थल के सूचक कुछ जैन चिह्नों का सद्भाव ही उस तीर्थ के विषय में संदेह मुक्त कर सकेंगे। अब तक तो उसके विषय में पूर्ण जानकारी नहीं है।

१२१. सिद्ध भगवान् का संदेश—वृषभनाथ भगवान् के समान सभी तीर्थंकरों का निर्वाण महोत्सव सम्पन्न हुआ है। वे सिद्ध भगवान् अपनी ज्ञानमयी परणति के द्वारा सभी जीवों को यह सूचित करते हुए प्रतीत होते हैं। ''**अरे भव्य जीवो! तुम विकारी भावों को शीघ्र छोड़ो और हमारे समान स्वराज्य के स्वामी बनो।**''

भगवान् का यह संदेश भरतेश्वर के अत्यन्त विरक्त मन में प्रवेश कर गया। एक दिन दर्पण में मुख देखते समय भरत महाराज की दृष्टि एक श्वेत केश पर पड़ी। उसे देख भरत को ऐसा लगा मानों मुक्तिपुरी से भगवान् के द्वारा प्रेषित विशिष्ट संदेश-वाहक दूत ही आया हो।

चक्रवर्ती ने छहखण्ड प्रमाण पौद्गलिक साम्राज्य का त्याग करके शीघ्र ही दिगम्बर मुद्रा धारण की और शत्रुध्वंस कला में पारंगत योगी भरत ने अंतर्मुहूर्त में ही मोहासुर का विनाश करके सर्वज्ञता प्राप्त की। वृषभनाथ भगवान् के समान भरत भगवान् ने समस्त देशों में विहार कर जीवों का उद्धार किया तथा मोक्ष प्राप्त किया।

पंचकल्याणक प्राप्त तीर्थंकरों की तथा अनंत सिद्धों की विशुद्ध आराधनारूप अमृत से परिपूर्ण यह भावना करना चाहिए। मूलाचार गाथा ११६ में कहा भी है –

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी।
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥

जो गति अरहंतों की है, जो गति कृतकृत्य सिद्धों की है, जो वीतमोह जिनों की है, वह गति मुझे सदा प्राप्त हो।

वर्तमान कालीन २४ तीर्थंकर सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें।

क्रमांक	तीर्थंकरों के नाम (१)	तीर्थंकरों के पूर्व के तीन भवान्तर		
		पिछले तीसरे भव का		
		द्वीपों के नाम	क्षेत्रों के नाम	देश या प्रान्त
१	२	३	४	५
१	श्री ऋषभनाथ	जम्बूद्वीप	पूर्व विदेह	पुष्कलावती
२	श्री अजितनाथ	,,	,,	वत्स
३	श्री संभवनाथ	,,	,,	कच्छ
४	श्री अभिनन्दननाथ	,,	,,	मंगलावति
५	श्री सुमतिनाथ	धातकीखण्ड	,,	पुष्कलावति
६	श्री पद्मप्रभ	,,	,,	वत्स
७	श्री सुपार्श्वनाथ	,,	,,	सुकच्छ
८	श्री चन्द्रप्रभ	,,	,,	मंगलावति
९	श्री पुष्पदन्तनाथ	पुष्करार्धद्वीप	,,	पुष्कलावति
१०	श्री शीतलनाथ	,,	,,	वत्स
११	श्री श्रेयांशनाथ	,,	,,	सुकच्छ
१२	श्री वासुपूज्य	,,	,,	वत्सकावति
१३	श्री विमलनाथ	धातकीखण्ड	पूर्व भरत	–
१४	श्री अनन्तनाथ	,,	पश्चिमऐरावत	रम्यकावति
१५	श्री धर्मनाथ	,,	पूर्व विदेह	वत्स
१६	श्री शान्तिनाथ	जम्बूद्वीप	,,	पुष्कलावति
१७	श्री कुंथुनाथ	,,	,,	वत्स
१८	श्री अरहनाथ	,,	,,	कच्छ
१९	श्री मल्लिनाथ	,,	,,	वत्स
२०	श्री मुनिसुव्रतनाथ	,,	भरत क्षेत्र	अंगदेश
२१	श्री नमिनाथ	,,	,,	–
२२	श्री नेमिनाथ	,,	,,	–
२३	श्री पार्श्वनाथ	,,	,,	कौशल्य
२४	श्री महावीर स्वामी	,,	,,	–

नोट—१. तीर्थंकर श्री ऋषभदेव को आदिनाथ, आदिब्रह्मा, श्री पुष्पदन्तनाथ जी को सुविधिनाथ भी कहते हैं तथा महावीर भगवान को वर्धमान, वीर, अतिवीर, सन्मति और महति महावीर भी कहते हैं।

नगरी की सीमा	नगरी का नाम	वहाँ के नाम	वहाँ का राज वैभव व्रताचरणादि
६	७	८	९
पूर्व विदेह	पुंडरीकिनी	बज्रनाभि	ऋषभदेव का जीव तो चक्रवर्ती ११ अंग १४ पूर्व का वेत्ता था। बाकी सब मांडलिक राजा ११ अंग के पाठी थे। रङ्ग सबका सुवर्ण सरीखा था। यह सब सिंहनिष्क्रीडित व्रत के आचरण करने वाले एक मास पर्यन्त प्रायोपगमन संन्यास के धारक और स्वर्गगामी थे।
सीता नदी के उत्तर तट पर	सुसीमा	विमलवाहन	
सीता नदी के उत्तर तट पर	क्षेमपुरी (क्षेमा)	विपुलवाहन	
सीता नदी के दक्षिण तट पर	रत्नसंचयपुर	महाबल	
सीता नदी के उत्तर तट पर	पुंडरीकिनी	अतिबल	
सीता नदी के दक्षिण तट पर	सुसीमा	अपराजित	
सीता नदी के उत्तर तट पर	क्षेमपुरी (क्षेमा)	नन्दिषेण	
सीता नदी के दक्षिण तट पर	रत्नसंचयपुर	पद्मनाभि	
सीता नदी के उत्तर तट पर	पुंडरीकिनी	महापद्म	
सीता नदी के दक्षिण तट पर	सुसीमा	पद्मगुल्म	
सीता नदी के उत्तर तट पर	क्षेमपुरी (क्षेमा)	नलिनप्रभ	
सीता नदी के दक्षिण तट पर	रत्नसंचयपुर	पद्मोत्तर	
–	महानगर	पद्मसेन	
–	अरिष्टपुर	पद्मरथ	
सीता नदी के दक्षिण तट पर	सुसीमा	दशरथ	
–	सुसीमा	मेघरथ	
सीता नदी के दक्षिण तट पर	पुंडरीकिनी	सिंहरथ	
सीता नदी के उत्तर तट पर	सुसीमा	धनपति	
सीता नदी के दक्षिण तट पर	क्षेमपुरी (क्षेमा)	वैश्रवण	
–	बीतशोका	श्रीधर्मा (हरिवर्म)	
–	चम्पापुर	सिद्धार्थ	
–	कौशाम्बी	सुप्रतिष्टित	
–	हस्तिनागपुर	आनन्द	
–	अयोध्या (साकेता)	नन्द (नन्दन)	
	छत्रपुर (छत्राकार)		

और इन्द्रों ने तीर्थंकरों की १००८ नामों से स्तुति की है।

क्रमांक	वहाँ के गुरु का नाम	कहाँ से चयकर तीर्थंकर हुए	
		स्वर्गादिकों के नाम	वहाँ कौन थे ?
	१०	११	१२
१	वज्रसेन	सर्वार्थसिद्धि विमान	अहमिन्द्र
२	अरिन्दम	वैजयन्त विमान	,,
३	स्वयंप्रभ	उपरिमहिट्ठिम ग्रैवेयक	,,
४	विमलवाहन	वैजयन्त विमान	,,
५	सीमंधर	जयन्त विमान	,,
६	पिहितास्रव	ऊर्ध्व ग्रैवेयक	,,
७	अरिन्दम (अरहनंदन)	मध्य ग्रैवेयक	,,
८	युगंधर (श्री धर)	वैजयन्त विमान	,,
९	सर्वजनानन्द (मूर्तिहित)	अपराजित विमान	,,
१०	अभयानन्द (आनन्द)	आरण स्वर्ग	इन्द्र
११	वज्रदत्त (अनन्त)	पुष्पोत्तर विमान	,,
१२	वज्रनाभि (युगंधर)	महाशुक्र स्वर्ग	,,
१३	सर्वगुप्त	सहस्रार स्वर्ग	,,
१४	स्वयंप्रभ (त्रिगुप्ता)	पुष्पोत्तर विमान	,,
१५	चित्तरक्ष	सर्वार्थसिद्धि विमान	अहमिन्द्र
१६	विमलवाहन (धनरथ)	सर्वार्थसिद्धि विमान	,,
१७	यतिवृषभ (धनरथ)	सर्वार्थसिद्धि विमान	,,
१८	संबर (अरहनन्द)	सर्वार्थसिद्धि विमान	,,
१९	वरधर्म (श्रीनाग)	अपराजित विमान	,,
२०	सुनन्द (अनन्तीवर्य)	प्राणत स्वर्ग	इन्द्र
२१	नन्द (महाबल)	अपराजित विमान	अहमिन्द्र
२२	व्यतीतशोका (सुमंदर)	जयन्त विमान	,,
२३	दामर (समुद्रदत्त)	प्राणत स्वर्ग	इन्द्र
२४	प्रौष्ठिल	अच्युत स्वर्ग (पुष्पोत्तर विमान)	,,

तीर्थंकरों का गर्भावतरण—गर्भकल्याणक

तीर्थंकरों की जन्मभूमि		गर्भावतरण की तिथि इत्यादि		
देश का नाम	जन्मपुरी (नगर या पट्टन)	वंश का नाम	जनक (पिता)	जननी (माता)
१३	१४	१५	१६	१७
कौशल	अयोध्या (साकेतपुर)	इक्ष्वाकु वंश	नाभिराज	मरुदेवी
,,	,,	,,	जितशत्रु	विजयादेवी
,,	श्रावस्ति(श्रावन्ति)	,,	दृढ़राज (जितारि)	सुषेणादेवी
,,	अयोध्या (साकेतपुर)	,,	संवर (स्वयंवर)	सिद्धार्था
,,	विनीतापुर (अयोध्या)	,,	मेघरथ (मेघप्रभ)	सुमंगला
,,	कौशाम्बीपुर	,,	धारणाराजा	सुसीमा
काशीदेश	वाराणसी (काशी)	,,	सुप्रतिष्ठ	पृथ्वी
कौशल	चन्द्रपुरी	,,	महासेन (महश्रेणी)	लक्ष्मणा (सुलक्षण)
,,	काकन्दीपुरी	,,	सुग्रीवराजा	जयरामा (रामा)
मालवदेश	भद्रिलापुर	,,	दृढ़रथ राजा	नन्दा
कौशलदेश	सिंहपुरी	,,	विष्णुराज (विमल)	विष्णुश्री (नन्दा)
अंगदेश	चम्पापुरी	,,	वसुपूज्य	जयावती (विजया)
,,	कांपिल्य(कंपिला)	,,	कृतवर्मा (कृतधर्मा)	जयश्यामा
,,	अयोध्या (साकेतपुर)	,,	सिंहसेन	श्यामा (सर्वयशा)
,,	रत्नपुरी	,,	भानुराज	सुप्रभा (सुव्रता)
कुरूजांगल	हस्तिनापुरी	कुरुवंश	विश्वसेन	ऐरादेवी
,,	,,	,,	सुरसेन (सूर्य)	श्रीदेवी (श्रीकान्ता)
,,	,,	,,	सुदर्शन	मित्रसेना (मित्रा)
अंगदेश	मिथिलापुर	इक्ष्वाकु वंश	कुंभराज (राजकुंभ)	प्रभावती (रक्षता)
,,	कुशाग्रपुर	यादववंश (हरि)	सुमित्र	सोमा (पद्मावती)
,,	मिथिलापुर	इक्ष्वाकु वंश	विजयराज	वर्मिला (वप्रा)
समुद्रदेश	शौरीपुर (द्वारिका)	यादववंश (हरि)	समुद्र विजय	शिवादेवी
काशीदेश	वाराणसी (काशी)	उग्रवंश	विश्वसेन(अश्वसेन)	वामादेवी (ब्राह्मी)
विदेहदेश	कुण्डग्राम (वैशाली)	नाथवंश	सिद्धार्थ राजा	प्रियकारिणी (त्रिशलादेवी)

तीर्थंकरों का जन्माभिषेक—जन्म तिथि-समयादि

क्रमांक	गर्भ तिथि	गर्भ समय	गर्भ नक्षत्र	जन्म तिथि	जन्म समय
	१८	१९	२०	२१	२२
१	आषाढ़ कृष्णा २	रात्रि के अंत समय	उत्तराषाढ़ा	चैत्रकृष्णा ९	–
२	ज्येष्ठ कृष्णा १५	,,	रोहिणी	माघ शुक्ला १०	प्रजेश योग
३	फाल्गुन कृष्णा ८	प्रातः समय	मृगशीर्ष	कार्तिक पूर्णिमा	साम्य योग
४	वैशाख शुक्ला ६	रात्रि के पूर्व समय	पुनर्वसु	माघ शुक्ला १२	आदित्ययोग
५	श्रावण शुक्ला २	,,	मघा	चैत्र शुक्ला ११	पितृयोग
६	माघ कृष्णा ६	प्रातः समय	चित्रा	कार्तिक कृष्णा १३	त्वष्ट्रयोग
७	भाद्रपद शुक्ला ६	,,	विशाखा	ज्येष्ठ शुक्ला १२	अनिलायोग
८	चैत्र कृष्णा ५	,,	ज्येष्ठा	पौष कृष्णा ११	शक्र
९	फाल्गुन कृष्णा ९	,,	मूला	मार्गशीर्ष शुक्ला १	जैत्रयोग
१०	चैत्र कृष्णा ८	,,	पूर्वाषाढ़ा	माघ कृष्णा १२	विश्व
११	ज्येष्ठ कृष्णा ६	,,	श्रवण	फाल्गुन कृष्णा ११	विष्णु
१२	आषाढ़ कृष्णा ६	,,	शततारका	फाल्गुन कृष्णा १४	वरुणयोग
१३	ज्येष्ठ कृष्णा १०	अष्टमासिया	उत्तराभाद्रपद	माघ शुक्ला ४	अहिंबुहिन
१४	कार्तिक कृष्णा १	,,	रेवती	ज्येष्ठ कृष्णा १३	पुष्ययोग
१५	वैशाख शुक्ला १३	,,	रेवती	पौष कृष्णा १३	गुरु
१६	भाद्रपद कृष्णा ७	,,	भरणी	ज्येष्ठ कृष्णा १२	प्रातः समय
१७	श्रावण कृष्णा १०	,,	कृतिका	वैशाख शुक्ला १	आग्नेय
१८	फाल्गुन शुक्ला ३	,,	रेवती	मार्गशीर्षशुक्ला १४	–
१९	चैत्र शुक्ला १	,,	अश्विनी	मार्गशीर्षशुक्ला ११	–
२०	श्रावण कृष्णा २	,,	श्रवण	वैशाख कृष्णा १०	–
२१	आश्विनी कृष्णा २	,,	अश्विनी	आषाढ़ कृष्णा १०	–
२२	कार्तिक शुक्ला ६	,,	उत्तराषाढ़ा	श्रावण शुक्ला ६	ब्रह्म
२३	वैशाख कृष्णा २	,,	विशाखा	पौष कृष्णा ११	अनिलायोग
२४	आषाढ़ शुक्ला ६	,,	उत्तराषाढ़ा	चैत्र शुक्ला १३	अर्यमा

जन्मकल्याणक

जन्म नक्षत्र	जन्म राशि	शरीर का वर्ण (रंग)	शरीर की ऊँचाई (धनुष)
२३	२४	२५	२६
अभिजित	धनु	तपे हुये सोने के समान वर्ण	५००
रोहिणी	वृषभ	,, ,,	४५०
ज्येष्ठा	मिथुन	,, ,,	४००
पुनर्वसु	मिथुन	,, ,,	३५०
मघा	सिंह	,, ,,	३००
चित्रा	कन्या	बन्धूकपुष्प के समान रक्त वर्ण (विद्रुम वर्ण)	२५०
विशाखा	तुला	इन्द्रनील प्रभा समान हरित (पंच वर्ण)	२००
अनुराधा	वृषभ	कुन्द पुष्प के समान शुभ्र वर्ण (सफेद)	१५०
मूला	धनु	,, ,,	१००
पूर्वाषाढ़ा	धनु	तपे हुए सोने के समान वर्ण	९०
श्रवण	मकर	,, ,,	८०
विशाखा	कुम्भ	बन्धूकपुष्प के समान रक्त वर्ण (विद्रुम वर्ण)	७०
उत्तराभद्रपद	मीन	तपे हुए सोने के समान वर्ण	६०
रेवती	मीन	,, ,,	५०
पुष्य	कर्क	,, ,,	४५
भरणी	मेष	,, ,,	४०
कृतिका	वृषभ	,, ,,	३५
रोहिणी	मीन	,, ,,	३०
अश्विनी	मेष	,, ,,	२५
श्रवण	मकर	प्रियंगुप्रभा-इन्द्रनील (श्याम वर्ण)	२०
स्वाति	मेष	तपे हुए सोने के समान वर्ण	१५
चित्रा	कन्या	प्रियंगुप्रभा-मोर के कंठ के समान (श्याम वर्ण)	१०
विशाखा	कुम्भ	इन्द्रनील प्रभा समान हरित (पच्च वर्ण)	९ हाथ
उत्तरा फाल्गुनी	कन्या	तपे हुए सोने के समान वर्ण	७ हाथ

पूर्व आयु में से कुमार कालादि काल प्रमाण

क्रमांक	तीर्थंकरों के लांछन (चिह्न)	कुमार काल प्रमाण	[1]राजभोग काल प्रमाण
	२७	२८	२९
१	वृषभ (बैल)	२० लाख पूर्व वर्ष	६३ लाख पूर्व + ० वर्ष
२	गज (हाथी)	१८ लाख पूर्व वर्ष	५३ लाख पूर्व + १ पूर्वाङ्ग वर्ष
३	अश्व (घोड़ा)	१५ लाख पूर्व वर्ष	४४ लाख पूर्व + ४ पूर्वाङ्ग वर्ष
४	कपि (बन्दर)	१२॥ लाख पूर्व वर्ष	३६॥ लाख पूर्व + ८ पूर्वाङ्ग वर्ष
५	काक (चकवा)	१० लाख पूर्व वर्ष	२९ लाख पूर्व + १२ पूर्वाङ्ग वर्ष
६	लालकमल	७॥ लाख पूर्व वर्ष	२१॥ लाख पूर्व + १६ पूर्वाङ्ग वर्ष
७	स्वस्तिक (सांथिया)	५ लाख पूर्व वर्ष	१४ लाख पूर्व + २० पूर्वाङ्ग वर्ष
८	शशि (चन्द्रमा)	२॥ लाख पूर्व वर्ष	६॥ लाख पूर्व + २४ पूर्वाङ्ग वर्ष
९	मकर (मगर)	५० हजार पूर्व वर्ष	५० हजार पूर्व + २८ पूर्वाङ्ग वर्ष
१०	कल्पवृक्ष	२५ हजार पूर्व वर्ष	५० हजार पूर्व वर्ष
११	गंडक (गेंडा)	२१ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष
१२	महिष (भैंसा)	१८ लाख वर्ष	राजभोग नहीं किया (कुमार श्रमण)
१३	शूकर (सुअर)	१५ लाख वर्ष	३० लाख वर्ष
१४	भल्लुक (भालु), सेही	७॥ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
१५	वज्रदण्ड	२॥ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष
१६	मृग (हिरण)	२५००० वर्ष	५० हजार वर्ष
१७	मेष (बकरा)	२३७५० वर्ष	४७५०० हजार वर्ष
१८	मीन (मछली)	२१००० वर्ष	४२००० हजार वर्ष
१९	कुम्भ (कलश)	१०० वर्ष	राजभोग नहीं किया (कुमार श्रमण)
२०	कूर्म (कछुआ)	७५०० वर्ष	१५ हजार वर्ष
२१	नीलकमल	२५०० वर्ष	५ हजार वर्ष
२२	शंख	३०० वर्ष	राज्य नहीं किया (कुमार श्रमण)
२३	नाग (सर्प)	३० वर्ष	राज्य नहीं किया (कुमार श्रमण)
२४	सिंह	३० वर्ष	राज्य नहीं किया (कुमार श्रमण)

१. श्री शान्तिनाथ, श्री कुन्थुनाथ, श्री अरहनाथ ये तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती भी हुये हैं और कामदेव भी हुये हैं राज्य छोड़कर वैराग्य (दीक्षा) धारण किया।

(को. २८ से ३१)

छद्मस्थ अवस्था का काल प्रमाण	केवली अवस्था का काल प्रमाण	पूर्व आयु प्रमाण वर्ष	दीक्षा तिथि
३०	३१	३२	३३
१००० वर्ष	१००० वर्ष कम–एक लाख पूर्व वर्ष	८४ लाख पूर्व वर्ष	चैत्रकृष्णा ९
१२ वर्ष	१ पूर्वाङ्ग+१२ वर्ष कम - १ लाख पूर्व वर्ष	७२ लाख पूर्व वर्ष	माघ शुक्ला ९
१४ वर्ष	४ पूर्वाङ्ग+१४ वर्ष कम - १ लाख पूर्व वर्ष	६० लाख पूर्व वर्ष	मार्गशीर्ष शुक्ला३०
१८ वर्ष	८ पूर्वाङ्ग+१८ वर्ष कम - १ लाख पूर्व वर्ष	५० लाख पूर्व वर्ष	माघ शुक्ला १२
२० वर्ष	१२ पूर्वाङ्ग+२० वर्ष कम -१ लाख पूर्व वर्ष	४० लाख पूर्व वर्ष	वैशाख शुक्ला ९
६ महीना	१६ पूर्वाङ्ग+६ माह कम -१ लाख पूर्व वर्ष	३० लाख पूर्व वर्ष	कार्तिक कृष्णा १३
९ वर्ष	२० पूर्वाङ्ग+९ वर्ष कम -१ लाख पूर्व वर्ष	२० लाख पूर्व वर्ष	ज्येष्ठ शुक्ला १२
३ महीना	२४पूर्वाङ्ग+३ माह कम -१ लाख पूर्व वर्ष	१० लाख पूर्व वर्ष	पौष कृष्णा ११
४ वर्ष	२८ पूर्वाङ्ग+४ वर्ष कम-१ लाख पूर्व वर्ष	२ लाख पूर्व वर्ष	मार्गशीर्ष शुक्ला १
३ वर्ष	३ वर्ष कम २५००० वर्ष	१ लाख पूर्व वर्ष	माघ कृष्णा १२
२ वर्ष	२ वर्ष कम २१००००० वर्ष	८४ लाख वर्ष	फाल्गुन कृष्णा ११
१ वर्ष	१ वर्ष कम ५४००००० वर्ष	७२ लाख वर्ष	फाल्गुन कृष्णा १४
३ वर्ष	१४९९९९७ वर्ष	६० लाख वर्ष	माघ शुक्ला ४
२ वर्ष	७४९९९८ वर्ष	३० लाख वर्ष	ज्येष्ठ कृष्णा १२
१ वर्ष	२४९९९९ वर्ष	१० लाख वर्ष	माघ शुक्ला १३
१६ वर्ष	२४९८४ वर्ष	१ लाख वर्ष	ज्येष्ठ कृष्णा ४
१६ वर्ष	२३७३४ वर्ष	९५ हजार वर्ष	वैशाख शुक्ला १
१६ वर्ष	२०९८४ वर्ष	८४ हजार वर्ष	मार्गशीर्षशुक्ला १०
६ दिन	६ दिन कम ५४९०० वर्ष	५५ हजार वर्ष	मार्गशीर्षशुक्ला ११
११ महीना	११ महीना कम ७५०० वर्ष	३० हजार वर्ष	वैशाख कृष्णा १०
९ वर्ष	९ वर्ष कम २५०० वर्ष	१० हजार वर्ष	आषाढ़ कृष्णा १०
५६ दिन	५६ दिन कम ७०० वर्ष	१ हजार वर्ष	श्रावण शुक्ला ६
४ महीना	४ महीना कम ७० वर्ष	१०० वर्ष	पौष कृष्णा ११
१२ वर्ष	३० वर्ष	७२ वर्ष	मार्गशीर्ष कृष्णा १०

तीर्थंकरों के दीक्षा-परिनिष्क्रमण-तपकल्याणक

दीक्षा तिथि इत्यादि			दीक्षा तपोवन-उद्यान		
क्रमांक	दीक्षा समय	दीक्षा नक्षत्र	दीक्षा पालकी का नाम	नगरों के नाम	वनों-उद्यानों के नाम
	३४	३५	३६	३७	३८
१	अपराह्न	उत्तराषाढ़ा	सुदर्शन	प्रयाग	सिद्धार्थ वन
२	,,	रोहिणी	सुप्रभा	अयोध्या	सहेतुक-सहसाम्र
३	,,	ज्येष्ठा	सिद्धार्था	श्रावस्ति	,,
४	पूर्वाह्न	पुनर्वसु	हस्तचित्रा	अयोध्या	उग्रोद्यान-सहसाम्र
५	पूर्वाह्न	मघा	अभयकारी	अयोध्या	सहेतुक-सहसाम्र
६	अपराह्न	चित्रा	निवृत्तकारी	कौशाम्बी	मनोहर-सहसाम्र
७	पूर्वाह्न	विशाखा	सुमनोगति	काशी	सहेतुक-सहसाम्र
८	अपराह्न	अनुराधा	विमला	चन्द्रपुरी	सर्वर्तक-सहसाम्र
९	,,	अनुराधा	सूर्यप्रभा	काकन्दी	पुष्पक-सहसाम्र
१०	,,	पूर्वाषाढ़ा	शुक्रप्रभा	भद्दिलापुरी	सहेतुक
११	पूर्वाह्न	श्रवण	विमलप्रभा	सिंहनादपुर	मनोहर
१२	अपराह्न	विशाखा	पुष्यभा	चम्पापुर	मनोहर
१३	,,	उत्तराभाद्रपद	देवदत्ता	कंपिला	सहेतुक-सहसाम्र
१४	,,	रेवती	सागरदत्ता	अयोध्या	,,
१५	,,	पुष्य	नागदत्ता	रत्नपुर	शालवन -
१६	,,	भरणी	सिद्धार्था	हस्तिनापुर	आम्रवन
१७	,,	कृतिका	विजया	हस्तिनापुर	सहेतुक-
१८	,,	रेवती	वैजयन्ति	हस्तिनापुर	,,
१९	पूर्वाह्न	अश्विनी	जयन्ति	मिथिलापुरी	श्वेतवन/शालि
२०	अपराह्न	श्रवण	अपराजिता	राजगृही	नीलवन-नीलगुफा
२१	,,	अश्विनी	उत्तरकुरु	मिथिलापुरी	चित्रवन-सहसाम्र
२२	अपराह्न	चित्रा	देवकुरु	गिरनार	सहकार (सेसावन)
२३	पूर्वाह्न	विशाखा	विमला	वाराणासी	अश्ववन-मनोरमा
२४	अपराह्न	उत्तरा फाल्गुनी	चन्द्रप्रभा	कुण्डलपुर	षण्डवन ज्ञातृवन-नाथवन

दीक्षा के वृक्ष		दीक्षा के समय		
वृक्षों के नाम	वृक्षों की ऊँचाई (धनुष प्रमाण)	वैराग्य का निमित्त कारण	उपवास का नियम (उत्तरपुराण एवं हरिवंश पुराण से)	कितने राजाओं ने दीक्षा ली थी
३९	४०	४१	४२	४३
वट वृक्ष	६०००	नीलांजना की मृत्यु	६ माह का उपवास	चार हजार
सप्तच्छद	५४००	उल्कापात देखना	षष्ठम् भक्त (बेला)	एक हजार
शाल वृक्ष	४८००	मेघपटल का नाश	बेला (दो दिन का)	एक हजार
,,	४२००	गंधर्वनगर का नाश	,,	,,
प्रियंगु	३६००	पूर्वभव का स्मरण	तेला(तीन दिन का)	,,
,,	३०००	,,	बेला (दो दिन का)	,,
शिरीष	२४००	वन लक्ष्मी का नाश	,,	,,
नागतरु	१८००	बिजली का देखना	,,	,,
शालवृक्ष	१२००	उल्कापात देखना	,,	,,
पलाश	१०८०	हिम का नाश देखना	,,	,,
तिन्दुक	९६०	वन लक्ष्मी का नाश	,,	,,
पाटलतरु	८४०	पूर्वभव का स्मरण	एक उपवास	६०६
जम्बूवृक्ष	७२०	मेघपटल का नाश	बेला	एक हजार
पीपल	६००	उल्कापात देखना	तेला (बेला)	,,
दीर्घपर्ण	५४०	उल्कापात देखना	तेला (बेला)	,,
नन्दीतरु	४८०	पूर्व भव का स्मरण	,,	,,
तिलक	४२०	,,	,,	,,
आम्र	३६०	मेघपटल का नाश	बेला	,,
अशोक	३००	बिजली का देखना	,,	३००
चम्पक	२४०	पूर्वभव का स्मरण	तेला (बेला)	एक हजार
बकुल	१८०	–	बेला	,,
मेघशृङ्ग	१२०	प्राणीवध की वार्ता	तेला (बेला)	,,
धवलवृक्ष	१०८	जातिस्मरण होना	षष्ठमभक्त (३)	३००
शालवृक्ष	३२ धनुष	,,	तेला उ. बेला	अकेले

दान तीर्थ के प्रवर्तक दाताओं के द्वारा दिए गए दीक्षा के बाद का आहारादि

क्रमांक	कितने दिनों में लिए थे?	कौन-सा आहार लिया था?	आहार देने वाले दातृ-महाशयों के नाम	पारणा किए हुए नगरों के नाम
	४४	४५	४६	४७
१	१३ माह ९ दिन के बाद	इक्षु रस	श्रेयांसराजा(हरि-शाम)	हस्तिनागपुर
२	चौथे दिन		ब्रह्मदत्त (सुवर्ण)	अयोध्या
३	तीन दिन के बाद	श्री ऋषभदेव के	सुरेन्द्रदत्त	श्रावस्ति (श्रावन्ति)
४	,, ,,	सिवाय बाकी	इन्द्रदत्त	अयोध्या (वनितापुर)
५	,, ,,	सभी ने गो क्षीर	पद्मदत्त	सोमन (विजयपुरी)
६	,, ,,	(गाय के दूध)	सोमदत्त	वर्धमान (मंगलपुरी)
७	,, ,,	से बना हुआ	महेन्द्रदत्त	सोमखण्ड(पटलीखंडपुरी)
८	,, ,,	क्षीरान्न (खीर)	पुष्यमित्र(सोमदत्त राजा)	नलिनापुर (पद्मखंडपुर)
९	,, ,,	अर्थात् दूध से	पुनर्वसु (पुष्पक राजा)	शैतपुर (चिन्तहरपुर)
१०	,, ,,	नाना प्रकार के	नन्दन (पुनर्वसु)	अरिष्टपुर (सेयपुर)
११	,, ,,	पक्वान्न की	सौन्दर (सुनन्दन राजा)	सिद्धार्थपुर (अरिष्टपुर)
१२	,, ,,	पारणा की थी।	जय (सुरेन्द्रनाथ राजा)	महापुर (सिद्धार्थपुर)
१३	,, ,,		बिशाख (जयकुमार)	नन्दनपुर (धान्यवटपुर)
१४	,, ,,		धान्यसेन (विशाखभूति)	अयोध्या (धर्ममानपुर)
१५	,, ,,		धर्ममित्र (सुमित्र)	पटना (सौमनसपुर)
१६	,, ,,		सुमित्र (प्रियमित्र)	मन्दरपुर (सौमनसपुर)
१७	,, ,,		अपराजित(वरदत्त राजा)	हस्तिनापुर (मन्दिरपुर)
१८	,, ,,		नन्दी (अपराजित)	चक्रपुर (गजपुर)
१९	चौथे दिन के बाद		नन्दिसेन (विषयदत्त)	मिथिला (चक्रहरपुर)
२०	तीन दिन के बाद		वृषभदत्त (दत्त)	राज्यगृही (मिथिलापुर)
२१	तीन दिन के बाद		दत्त (वरदत्त)	वीरपुर (संयोगपुर)
२२	तीन दिन के बाद		वरदत्त (चारुदत्त)	द्वारिका (विखरपुर)
२३	चार दिन के बाद		ब्रह्मदत्त/धान्यसेन (धनदत्त)	गुलमखेट (द्वारावती)
२४	तीन दिन के बाद		नन्दन (विश्वसेन)	कुंडलपुर

तीर्थंकरों के केवलज्ञान-कल्याणक

		केवलज्ञान		
तपादि काल का प्रमाण	केवलज्ञान के पहले उपवास धारण का नियम	तिथि	समय	नक्षत्र
४८	४९	५०	५१	५२
एक लाख पूर्व	अष्टमभक्त (३)	फाल्गुन कृष्णा ११	पूर्वाह्न	उत्तराषाढ़ा
१ पूर्वाङ्ग कम १ लाख पूर्व	बेला (२)	पौष शुक्ला ११	अपराह्न	रोहिणी
४ ,, ,,	,,	कार्तिक कृष्णा ४	,,	मृगशिर
८ ,, ,,	,,	पौष शुक्ला १४	,,	पुनर्वसु
१२ ,, ,,	,,	चैत्र शुक्ला ११	,,	मघा/हस्त
१६ ,, ,,	,,	चैत्र शुक्ला ३०	,,	चित्रा
२० ,, ,,	,,	फाल्गुन कृष्णा ६	,,	विशाखा
२४ ,, ,,	,,	फाल्गुन कृष्णा ७	,,	अनुराधा
२८ ,, ,,	,,	कार्तिक शुक्ला २	,,	मूला
२५ हजार वर्ष	,,	पौष कृष्णा १४	,,	पूर्वाषाढ़ा
२१ लाख वर्ष	,,	माघ कृष्णा १५	पूर्वाह्न	श्रवण
५४ लाख वर्ष	,,	माघ शुक्ला २	अपराह्न	विशाखा
१५ लाख वर्ष	,,	माघ शुक्ला ६	,,	उत्तराषाढ़ा
७५० हजार वर्ष	,,	चैत्र कृष्णा १५	,,	रेवती
२५० हजार वर्ष	तेला (उ) बेला (ह)	पौष शुक्ला ३०	,,	पुष्य
२५ हजार वर्ष	षष्ठोपवास (३)	पौष शुक्ला १०	अपराह्न	भरणी
२३७५० वर्ष	षष्ठोपवास (३)	चैत्र शुक्ला ३	,,	कृतिका
२१००० वर्ष	बेला (२)	कार्तिक शुक्ला १२	,,	रेवती
५४९०० वर्ष	अष्टमभक्त (३)	मार्गशीर्ष शुक्ला ११	,,	अश्विनी
७५०० वर्ष	,,	वैशाख कृष्णा ९	पूर्वाह्न	श्रवण
२५०० वर्ष	बेला (२)	मार्गशीर्ष शुक्ला ११	अपराह्न	अश्विनी
७०० वर्ष	अष्टमभक्त (३)	आश्विन शुक्ला १	पूर्वाह्न	चित्रा
७० वर्ष	तेला (३)	चैत्र कृष्णा ४	,,	विशाखा
४२ वर्ष	बेला (२)	वैशाख शुक्ला १०	अपराह्न	हस्ता (उत्तरा)

तीर्थंकरों के केवलज्ञान—ज्ञानकल्याणक

केवलज्ञान के			समवसरण का विस्तार		समवसरण में तीर्थंकर भगवान् का आसन
क्रमांक	वन उद्यानों के नाम	वृक्ष (अशोक वृक्ष)	योजन प्रमाण	कोस प्रमाण	
	५३	५४	५५	५६	५७
१	शकटावन (पुरिमतालपुर)	वट वृक्ष	१२	४८	समवसरण
२	सहेतुक वन	सप्तपर्ण	११॥	४६	में सब ही
३	,,	शाल्मली	११	४४	तीर्थंकर
४	आम्र वन	वैशाल	१०॥	४२	भगवान्
५	सहेतुक वन	प्रियंगु	१०	४०	पद्मासन से
६	मनोहर वन	,,	९॥	३८	ही
७	सहेतुक वन	शिरीष	९	३६	विराजमान
८	सर्वार्थ वन	नागवृक्ष	८॥	३४	होते हैं।
९	पुष्पक वन	अक्ष (बहेड़ा)	८	३२	
१०	मनोहर वन	बिल्व वृक्ष	७॥	३०	
११	,,	पलाश	७	२८	
१२	सहेतुक वन	कदम्ब	६॥	२६	
१३	सहेतुक वन	जंबु (पाटल)	६	२४	
१४	,,	पीपल वृक्ष	५॥	२२	
१५	शाल वन	सप्तच्छद	५	२०	
१६	सहसाम्र वन	नन्दी वृक्ष	४॥	१८	
१७	सहेतुक वन	तिलक	४	१६	
१८	सहेतुक वन	आम्र वृक्ष	३॥	१४	
१९	श्वेत वन	अशोक	३	१२	
२०	नील वन	चम्पक	२॥	१०	
२१	चित्रक वन	बकुल	२	८	
२२	आम्रवन (गिरनार)	मेष शृंग	१॥	६	
२३	अश्व वन (काशी)	देवदारु	१।	५	
२४	मनोहर (ऋजुकूला नदी)	शालवृक्ष	१	४	

समवसरण में रहने वाले सात प्रकार के मुनीश्वरों का संघ और उनकी संख्या –

सामान्य केवलियों की संख्या	पूर्वधारियों की संख्या	शिक्षकों की संख्या	विपुलमती मन:पर्ययज्ञानियों की संख्या	विक्रिया ऋद्धिधारियों की संख्या	अवधिज्ञानियों की संख्या
५८	५९	६०	६१	६२	६३
२००००	४७५०	४१५०	१२७५०	२०६००	९०००
२००००	३७५०	२१६००	१२४५०	२०४००	९४००
१५०००	२१५०	१२९३००	१२१५०	१९८००	९६००
१६०००	२५००	२३००५०	११६५०	१९०००	९८००
१३०००	२४००	२५४३५०	१०४००	१८४००	११०००
१२०००	२३००	२६९०००	१०३००	१६८००	१००००
११०००	२०३०	२४४९२०	९१५०	१५३००	९०००
१८०००	४०००	२१०४००	८०००	१०६००/१०४००	२०००
७५००	१५००	१५५५००	७५००	१३०००	८४००
७०००	१४००	५९२००	७५००	१२०००	७२००
६५००	१३००	४८२००	६०००	११०००	६०००
६०००	१२००	३९२००	६०००	१००००	५४००
५५००	११००	३८५००	५५००	९०००	४८००
५०००	१०००	३९५००	५०००	८०००	४३००
४५००	९००	४०७००	४५००	७०००	३६००
४०००	८००	४१८००	४०००	६०००	३०००
३२००	७००	४३१५०	३३५०	५१००	२५००
२८००	६१०	३५८३५	२०५५	४३००	२८००
२२००	५५०	२९०००	१७५०	२९००	२२००
१८००	५००	२१०००	१५००	२२००	१८००
१६००	४५०	१२६००	१२५०	१५००	१६००
१५००	४००	११८००	९००	११००	१५००
१०००	३५०	१०९००	७५०	१०००	१४००
७००	३००	९९००	५००	९००	१३००
१८५८००	३६९४०	२०००५५५	१५४९०५	२२५९००	१२७६००

			गणधर		गणिनी या (मुख्यआर्यिका)
क्रमांक	वादियों की संख्या	कुल संघा की (को. ५८ से ६४) संख्या	मुख्य गणधरों के नाम	सब गणधरों की संख्या	मुख्य गणिनी का नाम
	६४	६५	६६	६७	६८
१	१२७५०	८४०००	वृषभसेन	८४	ब्राह्मी
२	१२४००	१०००००	सिंहसेन	९०	आत्मगुप्ता (प्रकुब्जा)
३	१२०००	२०००००	चारूसेन (चारुदत्त)	१०५	धर्म श्री
४	१००००	३०००००	वज्रनाभि (वज्रचमर)	१०३	मेरुषेणा
५	१०४५०	३२००००	चमर (अमरचमर)	११६	अनन्तमती
६	९६००	३३००००	वज्रचमर (चमर)	११०	रतिषेणा (मेरुसेना)
७	८६००	३०००००	बलदत्त (बली)	९५	मीना
८	७०००	२५००००	दत्त (वैदर्भ)	९३	वरुणश्री
९	६६००	२०००००	विदर्भ	८८	घोषवति
१०	५७००	१०००००	नाग (अनगार)	८१	धारणाश्री (धारणा)
११	५०००	८४०००	कुंथु	७७	चारणा
१२	४२००	७२०००	सधर्म (धर्म)	६६	वरसेना (सेना)
१३	३६००	६८०००	मन्दरार्य (मन्दिर)	५५	पद्मश्री
१४	३२००	६६०००	जयार्य (जय)	५०	सर्वश्री
१५	२८००	६४०००	अरिष्टसेन	४३	सुव्रता
१६	२४००	६२०००	चक्रायुध	३६	हरिषेणा
१७	२०००	६००००	स्वयंभु	३५	भावश्री (भाविता)
१८	१६००	५००००	कुंभार्य (कुंभु)	३०	कूर्मश्री (कुंथुसेना)
१९	१४००	४००००	विशाख	२८	अमरसेना (बंधुसेना)
२०	१२००	३००००	मल्ली	१८	पुष्पदत्ता
२१	१०००	२००००	सुप्रभ (सोमक)	१७	भार्गवश्री (आर्यश्री)/मांगिणी
२२	८००	१८०००	वरदत्त	११	राजमति
२३	६००	१६०००	स्वयंभु	१०	सुलोचना
२४	४००	१४०००	गौतम (इन्द्रभूति)	११	चन्दना
	११६३००	२८४८०००		१४५२	

गणिनी आर्यिकाओं की संख्या	मुख्य श्रोताओं के नाम	श्रावकों की संख्या	श्राविकाओं की संख्या	यक्षों के नाम
६९	७०	७१	७२	७३
३५००००	भरत	३ लाख	५ लाख	गोमुख(वृषभ)
३२००००	सगर	,,	,,	महायक्ष
३३००००	सत्यवीर्य	,,	,,	त्रिमुख
३३०६००	मित्रभाव	,,	,,	यक्षेश्वर
३३००००	मित्रवीर्य	,,	,,	तुम्बुर(तुम्बुक)
४२००००	धर्मवीर्य	,,	,,	कुसुम/मातंक
३३००००	दानवीर्य	,,	,,	वरनन्दी(मातंग)/विजय
३८००००	मघवा	,,	,,	विजय(शाम)/अजित
३८००००	बुद्धिवीर्य	२ लाख	४ लाख	अजित/ब्रह्म
३८००००	श्रीमन्दर	,,	,,	ब्रह्मेश्वर(ब्रह्म)
१३००००	त्रिपिष्ट	,,	,,	कुमार(ईश्वर)
१०६०००	द्विपिष्ट/स्वयंभू	,,	,,	षण्मुख(कुमार)
१०३०००	स्वयंभु/पुरुषोत्तम	,,	,,	पाताल(चतुर्मुख)
१०८०००	पुरुषोत्तम/पुण्डरीक	,,	,,	किन्नर(पाताल)
६२४००	पुरुषवर/सत्यदत्त	,,	,,	किंपुरुष(किन्नर)
६०३००	पुंडरीक/कुनाल	,,	,,	गरुड
६०३५०	दत्त/नारायण	१ लाख	३ लाख	गंधर्व
६००००	कुनाल/सुभौम	,,	,,	महेन्द्र(यक्षेन्द्र)/कुबेर
५५०००	नारायण/सार्वभौम	,,	,,	कुबेर/वरुण
५००००	सुभौम/अजितंजय	,,	,,	वरुण/भृकुटि
४५०००	अजितंजय/विजय	,,	,,	विद्युत्प्रभ(भृकुटी)/गोमेध
४००००	उग्रसेन	,,	,,	सर्वान्ह(गोमद)/पार्श्व
३८०००	अजित/महासेन	,,	,,	धरणेन्द्र
३६०००	श्रेणिक राजा	,,	,,	मातंग/गुह्यक
४५०४६५०				

क्र.	यक्षिणियों के नाम	आयु के अंत में योग निरोध या विहार कब बंद किया था ?	विहार बंद होने के बाद समवशरण की स्थिति कैसी रहती
	७४	७५	७६
१	चक्रेश्वरी	१४ दिन पहले	श्री तीर्थंकर केवली भगवान आयु के अंत समय जब विहार बंद करके योग निरोध करते हैं तब एक ही स्थान में यथायोग्य आसन लगाकर निश्चल रहते हैं। हलन-चलन रूप काययोग की क्रिया उपदेश रूप वचनयोग की क्रिया सब बन्द हो जाती है। उनका सभी पुण्य पूरा नाश होने से समवसरण की रचना नहीं रहती है। बारह प्रकार की सभा सब विघटित होकर सभा में के सब जीव हाथ जोड़कर रहते हैं प्रभु के पास रहने वाले सब प्रमुख देवता चले जाते हैं। श्री ऋषभनाथ भगवान के योग निरोध करने के चौदह दिनों तक भरत चक्रवर्ती निरन्तर श्री आदिनाथ भगवान की पूजा करते रहे। इस प्रकार आदि पुराण (महापुराण) पर्व १७४ में लिखा है।
२	रोहिणी (अजिता)	एक मास पहले	
३	प्रज्ञप्ति (नम्रे)	,,	
४	वज्रश्रृंखला (दुरितारि)	,,	
५	पुरुषदत्ता (संसारी)/वज्राङ्कुशा	,,	
६	मनोवेगा(मोहिनी)/अप्रतिचक्रेश्वरी	,,	
७	काली (मालिनी)/पुरुषदत्ता	,,	
८	ज्वाला (मालिनी)/मनोवेगा	,,	
९	महाकाली (भृकुटी)	,,	
१०	मानवी (चामुण्डे)	,,	
११	गौरी (गोमधकी)	,,	
१२	गांधारी (विद्युत्मालि)	,,	
१३	वैरोटी (विद्या)	,,	
१४	अनन्तमती (विग्रंभणी)	,,	
१५	मानसी (परिभृते)	,,	
१६	महामानसी (कन्दर्प)	,,	
१७	जय (गांधारिणी)	,,	
१८	विजया (काली)	,,	
१९	अपराजिता (अनजान)	,,	
२०	बहुरूपिणी (सुगंधिनी)	,,	
२१	चामुंडी (कुसुममालिनी)	,,	
२२	कुष्मांडी	,,	
२३	पद्मावती	,,	
२४	सिद्धायनी	दो दिन पहले	

तीर्थंकर श्री वासुपूज्य, श्री मल्लिनाथ, श्री नेमिनाथ, श्री पार्श्वनाथ, श्री महावीर स्वामी ये पाँच तीर्थंकर कुमार अवस्था में वैरागी (श्रमण) हुये हैं, राज्य भी नहीं किया और विवाह भी नहीं किया। शेष सोलह तीर्थंकर महामाण्डलिक राजा हुये हैं। इन सभी तीर्थंकरों ने राज्य-पाठ छोड़कर वैराग्य (दीक्षा) धारण किया था।

तीर्थंकरों के निर्वाण—मोक्ष का कल्याण

	मोक्ष प्राप्ति की तिथि आदि			निर्वाण क्षेत्र	
क्र.	मोक्ष की तिथि	समय (हरिवंश पु. अ. ६० से)	नक्षत्र	नगर-पर्वतादि स्थान	निर्वाण क्षेत्र का विशिष्ट स्थान (चूलिका)
	७७	७८	७९	८०	८१
१	माघ कृ.१४	पूर्वाह्न	उत्तराषाढ़ा	कैलास पर्वत	–
२	चैत्र शु. ५	पूर्वाह्न	धरणी	सम्मेदशिखर	सिद्धवरकूट
३	चैत्र शु. ६	अपराह्न	ज्येष्ठा	,,	धवलकूट
४	वैशाख शु. ६/७	पूर्वाह्न	पुनर्वसु	,,	आनन्दकूट
५	चैत्र शु. ११/१०	पूर्वाह्न	मघा	,,	अविचलकूट
६	फाल्गुन कृ. ४	अपराह्न	चित्रा	,,	मोहनकूट
७	फाल्गुन कृ. ७	पूर्वाह्न	अनुराधा	,,	प्रभासकूट
८	फा.शु.७/भा.शु.७	पूर्वाह्न	ज्येष्ठा	,,	ललितकूट
९	भाद्र./अश्विन शु. ८	अपराह्न	मूला	,,	सुप्रभकूट
१०	आश्विन शु. ८/५	पूर्वाह्न	पूर्वाषाढ़	,,	विद्युत्प्रभकूट
११	श्रावण शु. ३०	पूर्वाह्न	धनिष्ठा	,,	संकुलकूट
१२	भाद्रपद शु. १४	अपराह्न	अश्विनी	मंदारगिरि(चम्पापुरी)	चम्पासालवन(मनोहरवन)
१३	आषाढ़ कृ. ८	प्रदोष/सायं काल	उत्तराषाढ़	सम्मेदशिखर	सुवीरकूट
१४	चैत्र कृ. १५	प्रदोष	रेवती	,,	स्वयंप्रभकूट
१५	ज्येष्ठ शु. ४	प्रभात	पुष्य	,,	सुदत्तवरकूट
१६	ज्येष्ठ कृ. १४	प्रदोष	भरणी	,,	कुन्दप्रभ(प्रभास-शांतिप्रभ)
१७	वैशाख शु. १	प्रदोष	कृत्तिका	,,	ज्ञानधरकूट
१८	चैत्र कृ. १५	प्रभात	रेवती	,,	नाटककूट
१९	फाल्गुन शु. ५	प्रदोष	भरणी	,,	सम्बलकूट
२०	फाल्गुन कृ. १२	प्रदोष	श्रवण	,,	निर्जराकूट
२१	वैशाख कृ. १४	प्रभात	अश्विनी	,,	मित्रधरकूट
२२	आषाढ़ शु. ७/८	प्रदोष	चित्रा	गिरनार(ऊर्जयन्तगिरी)	–
२३	श्रावण शु. ७	,,	विशाखा	सम्मेद शिखर	सुवर्णभद्रकूट
२४	कार्तिक कृ. १४/१५	प्रभात	स्वाति	पावापुरी	पद्मसरोवर

तीर्थंकरों के साथ-साथ कितने यतिगण कौन-कौन सी गति को प्राप्त किये हैं ?

कौन-कौन से आसन से मोक्ष गये	सौधर्म स्वर्ग से लेकर ऊर्ध्व ग्रै. तक कितने गये ?	अनुत्तर विमान में कितने गये उनकी संख्या	कौन-कौन तीर्थंकरों के कितने कितने शिष्य (यतिगण) कौन-कौन से समय में मोक्ष गये हैं इसका खुलासा	
			तीर्थंकरों का और मोक्ष का समय	संख्या
८२	८३	८४	८५	८६
पद्मासन	३१००	२००००	श्री ऋषभनाथ भगवान से लेकर	६०९००
कायोत्सर्गासन	२९००	२००००	श्री शांतिनाथ तीर्थंकर तक के	७७१००
,,	९९००	२००००	सब तीर्थंकरों के शिष्य	१७०१००
,,	७९००	१२०००	(यतिगण) तीर्थंकरों को केवल	२८०१००
,,	६४००	१२०००	ज्ञान होने के पहले ही कौन-	३०१६००
,,	४०००	१२०००	कौन तीर्थंकरों के कितने-कितने	३१४०००
,,	२४००	१२०००	शिष्यगण मोक्ष गये हैं उनकी	२८५६००
,,	४०००	१२०००	संख्या को आगे कोष्टक ८६ में	२३४०००
,,	९४००	११०००	देखिये।	१७९६००
,,	८४००	११०००		८०६००
,,	७४००	११०००		६५६००
पद्मासन	६४००	११०००		५४६००
कायोत्सर्गासन	५७००	११०००		५१३००
,,	५०००	१००००		५१०००
,,	४३००	१००००		४९७००
,,	३६००	१००००	केवलज्ञान के बाद एक	४८४००
,,	३२००	१००००	महीना तक कितने मोक्ष गये?	४६८००
,,	२८००	१००००	दो	३७२००
,,	२४००	८८००	तीन	२८८००
,,	२०००	८८००	छह	१९२००
,,	१६००	८८००	एक वर्ष तक	९६००
पद्मासन	१२००	८८००	दो	८०००
कायोत्सर्गासन	१०००	८८००	तीन	६२००
,,	८००	८८००	छह	४४००
	१०५८००	२७७८००		२४६४४००

<table>
<tr><th rowspan="2">तीर्थंकरों के साथ जो सिद्ध भये उनकी संख्या</th><th colspan="2">प्रत्येक तीर्थकाल में अनुबद्ध केवली कितने-कितने हुए ?</th><th rowspan="2">इस हुंडावसर्पिणी काल दोष से दुषमासुषमा नामक चौथे काल में जो जिन धर्म का विच्छेद हुआ था वह कहाँ तक रहा था ? उसका काल प्रमाण</th></tr>
<tr><th>संख्या</th><th>दूसरे मत से संख्या</th></tr>
<tr><td>८७</td><td colspan="2">८८</td><td>८९</td></tr>
<tr><td>१००००</td><td>८४</td><td>१००</td><td rowspan="23">श्री पुष्पदन्त (सुविधिनाथ) तीर्थंकर के समय से लेकर श्री धर्मनाथ तीर्थंकर के समय तक तीर्थ प्रवर्तन काल में उच्छेद काल एक पल्य तक बढ़ता हुआ और घटता हुआ धर्म तीर्थ का विच्छेद रहा था। सो ही त्रिलोक सार में लिखा है–
पल्लत्तरियादि चय पल्लंत चउत्थूण पादपर कालं।
णहि सद्धम्मो सुविधीदु सतिअन्ते सगंतररा॥ ८१४॥
सुविधिनाथ के तीर्थकाल में पावपल्य धर्म का विच्छेद हुआ था। शीतलनाथ के तीर्थकाल में आधा पल्य धर्म का विच्छेद हुआ था। श्रेयांसनाथ के तीर्थकाल में पौन पल्य धर्म का विच्छेद हुआ था। वासुपूज्य के तीर्थकाल में एक पल्य धर्म का विच्छेद हुआ था। विमलनाथ के तीर्थकाल में पौन पल्य धर्म का विच्छेद हुआ था। अनन्तनाथ के तीर्थकाल में आधा पल्य धर्म का विच्छेद हुआ था। धर्मनाथ के तीर्थकाल में पाव पल्य धर्म का विच्छेद हुआ था।
इस प्रकार विच्छेद काल क्रम से पाव पल्य से लेकर एक पल्य तक बढ़ता गया और फिर घटता हुआ पाव पल्य तक रहा। जिस समय धर्म का विच्छेद होता है उस समय मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका कोई भी नहीं रहते हैं। दीक्षा के सम्मुख होने वालों का अभाव होता रहता है। इसलिये धर्म रूपी सूर्य अस्तंगत रहता है।</td></tr>
<tr><td>१०००</td><td>८४</td><td>१००</td></tr>
<tr><td>१०००</td><td>८४</td><td>१००</td></tr>
<tr><td>१०००</td><td>८४</td><td>१००</td></tr>
<tr><td>१०००</td><td>८४</td><td>१००</td></tr>
<tr><td>३२४</td><td>८४</td><td>१००</td></tr>
<tr><td>५००</td><td>८४</td><td>१००</td></tr>
<tr><td>१०००</td><td>८४</td><td>९०</td></tr>
<tr><td>१०००</td><td>८४</td><td>९०</td></tr>
<tr><td>१०००</td><td>८४</td><td>९०</td></tr>
<tr><td>१०००</td><td>७२</td><td>९०</td></tr>
<tr><td>६०१</td><td>४४</td><td>८४</td></tr>
<tr><td>६००</td><td>४०</td><td>४०</td></tr>
<tr><td>७०००</td><td>३६</td><td>३६</td></tr>
<tr><td>८०१</td><td>३२</td><td>३२</td></tr>
<tr><td>९००</td><td>२८</td><td>२८</td></tr>
<tr><td>१०००</td><td>२४</td><td>२४</td></tr>
<tr><td>१०००</td><td>२०</td><td>२०</td></tr>
<tr><td>५००</td><td>१६</td><td>१६</td></tr>
<tr><td>१०००</td><td>१२</td><td>१२</td></tr>
<tr><td>१०००</td><td>८</td><td>८</td></tr>
<tr><td>५३६</td><td>४</td><td>४</td></tr>
<tr><td>३६</td><td>३</td><td>३</td></tr>
<tr><td>०</td><td>३</td><td>३</td></tr>
</table>

क्र.	तीर्थंकरों के परस्पर जन्म काल का अन्तराल काल प्रमाण
१.	ऋषभनाथ का जन्म सुषमा दुषमा नामक तीसरे काल के अंत समय में जब ८४ लाख पूर्व + ३ वर्ष ८॥ मास बाकी रहे तब हुआ।
२.	अजितनाथ का जन्म ऋषभदेव का जन्म होने के बाद ५० लाख करोड़ सागरोपम + १२ लाख वर्ष पूर्व प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।
३.	संभवनाथ का जन्म अजितनाथ का जन्म होने के बाद ३० लाख कोड़ाकोड़ी सागरोपम + १२ लाख वर्ष पूर्व प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।
४.	अभिनन्दन का जन्म संभवनाथ का जन्म होने के बाद १० लाख करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।
५.	सुमतिनाथ का जन्म अभिनंदननाथ का जन्म होने के बाद ९ लाख करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।
६.	पद्मप्रभनाथ का जन्म सुमतिनाथ का जन्म होने के बाद ९० हजार करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।
७.	सुपार्श्वनाथ का जन्म पद्मप्रभनाथ का जन्म होने के बाद ९ हजार करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।
८.	चन्द्रप्रभ का जन्म सुपार्श्वनाथ का जन्म होने के बाद ९०० करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।
९.	पुष्पदन्त का जन्म चन्द्रप्रभ का जन्म होने के बाद ९० करोड़ सागरोपम + ८ लाख पूर्व प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।
१०.	शीतलनाथ का जन्म पुष्पदन्त का जन्म होने के बाद ९ करोड़ सागरोपम + १ लाख पूर्व प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।
११.	श्रेयांसनाथ का जन्म शीतलनाथ का जन्म होने के बाद १०० सागरोपम और १५०२६००० वर्ष कम १ लाख पूर्व सहित १ करोड़ सागरोपम प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।
१२.	वासुपूज्य का जन्म श्रेयांसनाथ का जन्म होने के बाद ५४ सागरोपम + १२ लाख वर्ष प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।

१३. विमलनाथ का जन्म वासुपूज्य का जन्म होने के बाद ३० सागरोपम + १२ लाख वर्ष प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।

१४. अनन्तनाथ का जन्म विमलनाथ का जन्म होने के बाद ९ सागरोपम + ३० लाख वर्ष प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।

१५. धर्मनाथ का जन्म अनन्तनाथ का जन्म होने के बाद ४ सागरोपम + २० लाख वर्ष प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।

१६. शान्तिनाथ का जन्म धर्मनाथ का जन्म होने के बाद पौन पल्य कम और ९ लाख वर्ष सहित ३ सागरोपम प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।

१७. कुंथुनाथ का जन्म शान्तिनाथ का जन्म होने के बाद आधापल्य + ५ हजार वर्ष प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।

१८. अरनाथ का जन्म कुंथुनाथ का जन्म होने के बाद ११ हजार कम १ हजार करोड़ वर्ष कम पाव पल्य काल प्रमाण बीत जाने पर हुआ।

१९. मल्लिनाथ का जन्म अरनाथ का जन्म होने के बाद १००० करोड़ वर्ष + २९००० वर्ष काल प्रमाण बीत जाने पर हुआ।

२०. मुनिसुव्रत का जन्म मल्लिनाथ का जन्म होने के बाद ५४२५००० वर्ष प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।

२१ नमिनाथ का जन्म मुनिसुव्रत का जन्म होने के बाद ६२०००० वर्ष प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।

२२. नेमिनाथ का जन्म नमिनाथ का जन्म होने के बाद ५०९००० वर्ष प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।

२३. पार्श्वनाथ का जन्म नेमिनाथ का जन्म होने के बाद ८४६५० वर्ष प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।

२४. महावीर का जन्म पार्श्वनाथ का जन्म होने के बाद २७८ वर्ष काल प्रमाण बीत जाने पर हुआ। अर्थात् दुषमा-सुषमा नामक चौथेकाल के अन्त समय में जब ७५ वर्ष ८ मास १५ दिन बाकी रहे तब महावीर स्वामी का जन्म हुआ।

क्र.	तीर्थंकरों के परस्पर मोक्ष काल का अन्तराल काल प्रमाण–
१.	ऋषभनाथ जिनदेव सुषमादुषमा नामक तीसरे काल के अन्त समय में जब ३ वर्ष ८ मास १५ दिन बाकी रहे तब मोक्ष गये।
२.	अजितनाथ जिनदेव ऋषभनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ५० लाख करोड़ सागर काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।
३.	संभवनाथ जिनदेव अजितनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ३० लाख करोड़ सागर काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।
४.	अभिनन्दननाथ जिनदेव संभवनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद १० लाख करोड़ सागर काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।
५.	सुमतिनाथ जिनदेव अभिनन्दननाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ९ लाख करोड़ सागर काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।
६.	पद्मप्रभनाथ जिनदेव सुमतिनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ९० हजार करोड़ सागर काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।
७.	सुपार्श्वनाथ जिनदेव पद्मप्रभनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ९ हजार करोड़ सागर काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।
८.	चन्द्रप्रभनाथ जिनदेव सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ९०० करोड़ सागर काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।
९.	पुष्पदन्तनाथ जिनदेव चन्द्रप्रभनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ९० करोड़ सागर काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।
१०.	शीतलनाथ जिनदेव पुष्पदन्तनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ९ करोड़ सागर काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।
११.	श्रेयांसनाथ जिनदेव शीतलनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ६६ लाख २६ हजार और १०० सागर कम १ करोड़ सागर काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।
१२.	वासुपूज्य जिनदेव श्रेयांसनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ५४ सागरोपम काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।

१३. विमलनाथ जिनदेव वासुपूज्य तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ३० सागरोपम काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।

१४. अनन्तनाथ जिनदेव विमलनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ९ सागरोपम काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।

१५. धर्मनाथ जिनदेव अनन्तनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ४ सागरोपम काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।

१६. शान्तिनाथ जिनदेव धर्मनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ३ सागरोपम काल में से पौन पल्य घटाने पर जो बाकी रहेगा उतना काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।

१७. कुंथुनाथ जिनदेव शान्तिनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद आधा पल्योपम काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।

१८. अरहनाथ जिनदेव कुंथुनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद पाव पल्य में से एक हजार करोड़ वर्ष घटाने पर जो बाकी रहा उतना काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।

१९. मल्लिनाथ जिनदेव अरहनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद एक हजार करोड़ वर्ष काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।

२०. मुनिसुव्रतनाथ जिनदेव मल्लिनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ५४ लाख वर्ष काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।

२१. नमिनाथ जिनदेव मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ६ लाख वर्ष काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।

२२. नेमिनाथ जिनदेव नमिनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ५ लाख वर्ष काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।

२३. पार्श्वनाथ जिनदेव नेमिनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ८३७५० वर्ष काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।

२४. महावीर जिनदेव पार्श्वनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद २५० वर्ष काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गए। अर्थात् चतुर्थ काल के अन्त समय में जब ३ वर्ष ८ मास १५ दिन बाकी रहे तब मोक्ष गये।

क्र.	तीर्थंकरों का तीर्थ प्रवर्तन काल (मोक्षमार्ग प्रवर्तन काल) प्रमाण –
१.	ऋषभनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ५० लाख करोड़ सागरोपम + १ पूर्वांग प्रमाण काल तक रहा।
२.	अजितनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ३० लाख करोड़ सागरोपम + ३ पूर्वांग प्रमाण काल तक रहा।
३.	संभवनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल १० लाख करोड़ सागरोपम + ४ पूर्वांग प्रमाण काल तक रहा।
४.	अभिनन्दननाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ९ लाख करोड़ सागरोपम + ४ पूर्वांग प्रमाण काल तक रहा।
५.	सुमतिनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ९० हजार करोड़ सागरोपम + ४ पूर्वाङ्ग प्रमाण काल तक रहा।
६.	पद्मप्रभ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ९ हजार करोड़ सागरोपम + ४ पूर्वांग प्रमाण काल तक रहा।
७.	सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ९०० करोड़ सागरोपम + ४ पूर्वांग प्रमाण काल तक रहा।
८.	चन्द्रप्रभ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ९० करोड़ सागरोपम + ४ पूर्वांग प्रमाण काल तक रहा।
९.	पुष्पदन्त तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल २८ पूर्वांग अधिक पल्य के चतुर्थ भाग से हीन (कम) ९ करोड़ सागरोपम से अधिक (अधिक अर्थात् एक लाख पूर्व) काल प्रमाण समझना चाहिए।
१०.	शीतलनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल १/२ पल्योपम और १०० सागर कम एक करोड़ सागरोपम प्रमाण काल से अतिरिक्त (अतिरिक्त अर्थात् काल का प्रमाण ६६२६००० वर्ष कम २५००० पूर्व है) काल प्रमाण समझना चाहिए।
११.	श्रेयांसनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल २१ लाख वर्ष कम एक पल्य के तीन चतुर्थांश से रहित ५४ सागरोपम काल प्रमाण समझना चाहिए।
१२.	वासुपूज्य तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ५४ लाख वर्ष कम एक पल्य से रहित ३० सागरोपम काल प्रमाण समझना चाहिए।
१३.	विमलनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल १५ लाख वर्ष कम पल्य के तीन चतुर्थांश से कम ९

सागरोपम काल प्रमाण समझना चाहिए।

१४. अनन्तनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ७५०००० वर्ष कम आधा पल्य से रहित ४ सागरोपम काल प्रमाण समझना चाहिए।

१५. धर्मनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल २५०००० वर्ष कम एक पल्य से हीन ३ सागरोपम काल प्रमाण समझना चाहिए।

१६. शान्तिनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल आधा पल्य + १२५० वर्ष प्रमाण काल समझना चाहिए।

१७. कुंथुनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ९९९९९९७२५० वर्षों से हीन पल्य के चतुर्थ भाग काल प्रमाण समझना चाहिए।

१८. अरनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ३३९०० वर्ष कम एक हजार करोड़ वर्ष अर्थात् ९९९९९६६१०० वर्ष काल प्रमाण समझना चाहिए।

१९. मल्लिनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ५४४७४०० वर्ष काल प्रमाण समझना चाहिए।

२०. मुनिसुव्रत तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ६०५००० वर्ष काल प्रमाण समझना चाहिए।

२१. नमिनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ५०१८०० वर्ष काल प्रमाण समझना चाहिए।

२२. नेमिनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल ८४३८० वर्ष काल प्रमाण समझना चाहिए।

२३. पार्श्वनाथ तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल २७८ वर्ष काल प्रमाण समझना चाहिए।

२४. महावीर तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल २१०४२ वर्ष काल प्रमाण समझना चाहिए। अर्थात् पंचम काल के अंत समय में जब ३ वर्ष ८ मास और १५ दिन बाकी रहेगा, तब तक महावीर भगवान का तीर्थ प्रवर्तन काल रहेगा।

६३ शलाका पुरुष और नारद, रुद्र, कामदेव सम्बन्धी युगपत् अस्तित्व काल सूचक की रचना

कोठा	२४ तीर्थंकर	१२ चक्रवर्ती	९ बलभद्र	९ नारायण	९प्रतिनारायण	९ नारद	११ रुद्र	२४ कामदेव
१	१ ऋषभनाथ	१ भरत	×	×	×	×	१ भीम	१ बाहुबली
२	२ अजितनाथ	२ सगर	×	×	×	×	२ बलि	२ प्रजापति
३	३ संभवनाथ	×	×	×	×	×	×	३ श्रीधर
४	४ अभिनंदन	×	×	×	×	×	×	४ दर्शनभद्र
५	५ सुमतिनाथ	×	×	×	×	×	×	५ प्रसेनचन्द्र
६	६ पद्मप्रभ	×	×	×	×	×	×	६ चन्द्रवर्ण
७	७ सुपार्श्वनाथ	×	×	×	×	×	×	७ अग्नियुक्त
८	८ चन्द्रप्रभ	×	×	×	×	×	×	८सनत्कुमार
९	९ पुष्पदन्त	×	×	×	×	×	३ शंभु	९ वत्सराज
१०	१० शीतलनाथ	×	×	×	×	×	४विश्वानल	१०कनकप्रभ
११	११ श्रेयांसनाथ	×	१ विजय	१ त्रिपिष्ट	१अश्वग्रीव	१ भीम	५सुप्रतिष्ठ	११ मेघप्रभ
१२	१२ वासुपूज्य	×	२ अचल	२ द्विपिष्ट	२ तारक	२ महाभीम	६ अचल	×
१३	१३ विमलनाथ	×	३ सुधर्म	३ स्वयंभु	३ मेरूक	३रौद्र(इन्द्र)	७ पुंडरीक	×
१४	१४ अनंतनाथ	×	४ सुप्रभ	४ पुरुषोत्तम	४ निशुंभ	४ महारूद्र	८अजितंधर	×
१५	१५ धर्मनाथ	×	५ सुदर्शन	५ पुरुषसिंह	५मधुकैटभ	५ काल	९जितनाभि	×
१६	❉	३ मघवा	×	×	×	×	×	×
१७	❉	४ सनत्कुमार	×	×	×	×	×	×
१८	१६ शान्तिनाथ	५ शान्तिनाथ	×	×	×	×	१० पीठ	१२शांतिनाथ
१९	१७ कुंथुनाथ	६ कुन्थुनाथ	×	×	×	×	×	१३ कुंथुनाथ
२०	१८ अरहनाथ	७ अरहनाथ	×	×	×	×	×	१४ अरहनाथ
२१	❉ ❉	८ सुभौम	×	×	×	×	×	×
२२	१९ मल्लिनाथ	×	६ नन्दी	६ पुंडरीक	६ प्रह्लाद	६ महाकाल	×	१५विजयराज
२३	❉	×	×	×	×	×	×	१६ श्रीचन्द्र
२४	❉	×	७ नन्दीमित्र	७ दत्त	७ बलि	७ दुर्मुख	×	१७ नलराज
२५	२० मुनिसुव्रत	९ महापद्म	×	×	×	×	×	×
२६	❉	×	×	×	×	×	×	×
२७	❉	१० हरिषेण	८ रामचन्द्र	८ लक्ष्मण	८ रावण	×	×	×
२८	२१ नमिनाथ	×	×	×	×	८ नरमुख	×	१८ हनुमंत
२९	❉	×	×	×	×	×	×	१९बलिराज
३०	२२ नेमिनाथ	११ जयसेन	९ बलराम	९ कृष्ण	९ जरासंध	×	×	×
३१		×		×	×	९अधोमुख	×	२० वसुदेव

६३ शलाका पुरुष और नारद, रुद्र, कामदेव सम्बन्धी युगपत् अस्तित्व काल सूचक की रचना

कोठा	२४ तीर्थंकर	१२ चक्रवर्ती	९ बलभद्र	९ नारायण	९प्रतिनारायण	९ नारद	११ रुद्र	२४ कामदेव
३२	❋	१२ ब्रह्मदत्त	×	×	×	×	×	२१ प्रद्युम्न
३३	२३ पार्श्वनाथ	×	×	×	×	×	११महादेव	२२नागकुमार
३४	२४ महावीर	×	×	×	×	×	×	२३ जीवंधर
३५	❋	×	×	×	×	×	×	२४जम्बूस्वामी

सूचना—ऊपर की सारणी में जो तीर्थंकरों के नामों के आगे चक्रवर्ती आदिकों के नाम लिखे हैं वे तीर्थंकरों के समय में हो गये है ऐसा समझना चाहिए। और तीर्थंकरों के नाम कोष्ठक में जब ❋ इस प्रकार का चिह्न रहे और उसके आगे जिन चक्रवर्ती आदिकों के नाम लिखे हो तो वे सब पहले और बाद के होने वाले तीर्थंकरों के अन्तराल काल में ही हुये हैं ऐसा समझना चाहिए। तथा जिस कोष्ठक में जहाँ-जहाँ × इस प्रकार का चिह्न हो वहाँ-वहाँ उनका अभाव समझना चाहिए।

श्री महावीर के तीर्थ प्रवर्तन काल से चली आयी हुई आचार्य शिष्य परम्परा और शास्त्र परिपाठी आदि का विवरण

क्र.	आचार्य परम्परा उनके नाम	कौन कितने ज्ञान के धारी थे ?	वीर नि. सं. से	वीर नि. सं. तक	कितने वर्ष तक शास्त्रों का प्रचार किये?	विक्रम संवत	शालि वाहन शाके	खिस्ति ईस्वी सन्	विशेष
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१	गौतम स्वामी-गणधर (इन्द्रभूति)	अनुबंध केवली थे	१	१२	१२	पूर्व में ४७०	पूर्व में ६०४	पूर्व में ५२६	अनुबंध केवली हैं।
२	सुधर्मा स्वामी	,,	१३	२४	१२	४५८	५९२	५१४	,,
३	जम्बूस्वामी	,,	२५	६२	३८	४४६	५८०	५०२	ये अंतिम अनुबंध केवली हैं
					६२				
४	विष्णु मुनि (नन्दी)	श्रुतकेवली थे १२ अंग व १४ पूर्व शास्त्रज्ञ थे	६३	७६	१४	४०८	५४२	४६४	श्रुत केवली थे केवली के समान पदार्थों का प्ररूरण करते थे चौदह पूर्वी नाम से विख्यात थे।
५	नन्दी मित्र	,,	७७	९२	१६	३९४	५२८	४५०	,,
६	अपराजित	,,	९३	११४	२२	३७८	५१२	४३४	,,
७	गोवर्धन	,,	११५	१३३	१९	३५६	४९०	४९२	,,
८	भद्रबाहु (प्रथम)	,,	१३४	१६२	२९	३३७	४७१	३९३	येअंतिम श्रुत केवली थे
					१००				

९	विशाखाचार्य (विशाल मुनि)	११ अंग व १० पूर्व शास्त्रज्ञ थे।	१६३	१७२	१०	३०८	४४२	३६४	पदार्थों का यथावत् सम्यक् प्ररूपण करते हुए परम निर्ग्रंथ मुनि कहलाते थे।
१०	प्रौष्ठिलाचार्य	,,	१७३	१९१	१९	२९८	४३२	३५४	,,
११	क्षत्रियाचार्य-(नक्षत्र, क्षत्रियांक)	,,	१९२	२०९	१७	२७९	४१३	३२५	,,
१२	जयसेनाचार्य (जय)	,,	२०९	२२९	२१	२६२	३९६	३१८	,,
१३	नागसेनाचार्य (जयनागयोगी-नाग)	,,	२३०	२४७	१८	२४१	७७५	२९७	,,
१४	सिद्धार्थाचार्य	,,	२४८	२६४	१७	२२३	३५७	२७९	,,
१५	धृतसेनाचार्य (धृतिसेन)	,,	२६५	२८४	२०	२०६	३४०	२६२	,,
१६	विजयाचार्य (विजयसेन)	,,	२८५	२९७	१३	१८६	३२०	२४२	,,
१७	बुद्धिषेणाचार्य; (बुद्धिमान-बुद्धिलिंग)	,,	२९८	३१७	२०	१७३	३०७	२२९	,,
१८	देवसेनाचार्य (प्रथम) (गंगदेवाचार्य)	,,	३१८	३३१	१४	१५३	२८७	२०९	,,
१९	धर्मसेनाचार्य (सुधर्म-धरसेन)	,,	३३२	३४५	१४	१३९	२७३	१९५	,,
					१८३				
२०	नक्षत्राचार्य	एकदशांग शास्त्रज्ञ थे	३४६	३६३	१८	१२५	२५९	१८१	ये महामुनि कहलाए हैं।

२१	जयपालाचार्य (यशःपाल मुनि)	एक दशांग शास्त्रज्ञ थे	३६४	३८३	२०	१०७	२४१	१६३	ये महामुनि कहलाये हैं
२२	पाण्डवाचार्य (पाण्डुमुनि)	,,	३८४	४२२	३९	८७	२२१	१४३	,,
२३	ध्रुवसेनाचार्य (ध्रुतसेन)	,,	४२३	४३६	१४	४८	१८२	१०४	,,
२४	कंसाचार्य (कंसभट्टारक)	,,	४३७	४६८	३२	३४	१६८	९०	,,
					१२३				
२५	सुभद्राचार्य	दशांगशास्त्रज्ञ थे। ११ अंग १४ पूर्व के एक देश धारक शास्त्रज्ञ थे	४६९	४७४	६	२	१३६	५८	ये महामुनि कहलाये हैं।
						वि. सं.			
२६	यशोभद्राचार्य	,,	४७५	४९२	१८	४	१३०	५२	,,
२७	भद्रबाहु (द्वितीय)	,,	४९३	५१५	२३	२२	११२	३४	ये अंतिम निमित्तज्ञानी हैं।
२८	लोहाचार्य	,,	५१६	५६५	५०	४५	८९	११	,,
					९७			ई. सन्	
२९	अर्हदबलि (गुप्तिगुप्त)	एक अंग के एक देश शास्त्रज्ञ हुए थे	५६६	५९३	२८	९५	३९	३९	इनके समय में काल दोष से मुनि संघ में पक्षपात होकर संघ में चार भाग हो गए। १ नन्दी संघ २ सेन संघ
३०	माघनन्द्याचार्य	,,	५९४	६१४	२१	१२३	११ शा. शाके	६७	३ सिंह संघ ४ देव संघ

३१	धरसेनाचार्य	,,	६१५	६३३	१९	१४४	१०	८८
३२	पुष्पदन्ताचार्य	,,	६३४	६६३	३०	१६३	२९	१०७
३३	भूतबल्याचार्य	,,	६६४	६८३	२०	१९३	५९	१३७
					११८			
	वसुनन्दि आचार्य वीरनन्दी आचार्य कनकनन्दी आचार्य इन्द्रनन्दी आचार्य नेमिचन्द्र आचार्य	ये सब धवलादि सिद्धान्त के पाठी थे इसलिए ये पाँचों ही सिद्धान्त चक्रवर्ती कहलाते थे।	श्री गौतम मुनि प्रभृतियों का काल का प्रमाण ६८३ वर्ष का है, जो श्रुत-तीर्थ के धर्म प्रवर्तन काल का कारण है, वह आगामी २०३१७ वर्षों में काल दोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा। तो भी इस अवधि में चातुर्वर्ण्य संघ का जन्म होता रहेगा। परन्तु सब लोग प्राय: अविनीत, दुर्बुद्धि, असूयक, सप्तभय और आठ मद संयुक्त शल्य एवं गर्व सहित, कलहप्रिय, क्रोधी, क्रूर होंगे।					

१. महावीर भगवान् जिस दिन मुक्त हुए उस ही दिन गौतम स्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। इसी तरह जिस दिन गौतम गणधर मोक्ष गए। उस ही दिन सुधर्म स्वामी केवली हुए हैं और जिस दिन सुधर्म स्वामी को मोक्ष हुआ उसी दिन जम्बूस्वामी केवली भये। इसलिए इन तीनों को अनुबन्ध केवली कहते हैं। जम्बूस्वामी अन्तिम अनुबन्ध केवली हैं। सामान्य केवली की अपेक्षा से श्रीधर नामक अन्तिम केवली कुंडलगिरि में सिद्ध हुए हैं।

२. प्रथम श्री भद्रबाहु यह अन्तिम श्रुतकेवली हो गए हैं। द्वितीय भद्रबाहु अन्तिम निमित्तज्ञानी हुए हैं।

३. सुपार्श्वचन्द्र नामा अन्तिम चारणमुनि हो गए हैं।

४. प्रज्ञाश्रमणों में वज्रयश नामा अन्तिम श्रमण हो गए हैं।

५. श्रुत नाम के मुनि अन्तिम अवधिज्ञानी हो गए हैं।

६. विनय एवं सुशीलादि गुण सम्पन्न श्री नाम के ऋषि हो गए हैं।

७. मुकुटधारी राजाओं में जिन दीक्षा धारण करने वाले सम्राट् चन्द्रगुप्त यही अन्तिम राजा हुए हैं। इनके पश्चात् कोई भी मुकुटधारी राजागण जिन दीक्षा नहीं धारण करेंगे।

भविष्यत्काल में अर्थात् उत्सर्पिणीकाल के दु:षमासुषमा नामा तीसरे काल में होने वाले २४ तीर्थंकरों के नाम आदि

क्र.	भविष्यत्काल में अर्थात् उत्सर्पिणीकाल में होने वाले २४ तीर्थंकरों के नाम आदि	इन तीर्थंकरों के जीव पिछले तीसरे भव में कौन थे उनके नाम	आगे उत्सर्पिणी काल के तीसरे काल में कहाँ से आकर तीर्थंकर होंगे	उनके शरीर की ऊँचाई कितनी होगी	उनकी आयु कितने वर्ष होगी
१	२	३	४	५	६
१	महापद्म	श्रेणिक राजा	पहले नरक से	७ हाथ	११६
२	सुरदेव	सुपार्श्व			
३	सुपार्श्व	उदंक			
४	स्वयंप्रभ	प्रौष्ठिल			
५	सर्वात्मभूत (सर्वप्रभ)	कृतसूर्य (कटप्रू)			
६	देवपुत्र (देवसुत)	क्षत्रिय			
७	कुलपुत्र (कुलसुत)	पाविल (श्रेष्ठी)			
८	उदंक (उदक)	शंख		दूसरे तीर्थंकर से लेकर २३ वें तीर्थंकर पर्यंत शरीर की ऊँचाई आयु का उपदेश नहीं मिलता ऐसा उल्लेख ति.प. भा.-२, गा. १६०४ से १६०७ में लिखा है।	
९	प्रौष्ठिल	नन्द (नन्दन)			
१०	जयकीर्ति	सुनन्द			
११	मुनिसुव्रत	शशांक			
१२	अर (अप्तम)	सेवक			
१३	निष्पाप (अपाप)	प्रेमक			
१४	निष्कषाय	अतोरण			
१५	विपुल (विमल)	रैवत			
१६	निर्मल	कृष्ण (वासुदेव)	तीसरे नरक से		
१७	चित्रगुप्त	सिरि (बलराम)			
१८	समाधिगुप्त	भगलि			
१९	स्वयंभू	विगलि (बागलि)			
२०	अनिवत्तिक(अनिवर्तक)	द्वीपायन			
२१	जय	माणवक (कनकपाद)			
२२	विमल	नारद			
२३	देवपाल	सरूपदत्त (चारुपाद)			
२४	अनन्तवीर्य	सात्यकी पुत्र (रुद्र-महादेव)	तीसरे नरक से	५०० धनुष	एक करोड़ पूर्व वर्ष

इस प्रकार तिलोयपणएत्ति के चतुर्थ अधिकार (गाथा नंबर १५७८ से १५८६) में उल्लेख है। इसी तरह श्रीगुणभद्राचार्य विरचित उत्तरपुराण के श्लोक नंबर ४७१ से ४७४ पर्व ७६ में भी लिखा है।

प्रश्न—आगामी काल में कौन-कौन से जीव तीर्थंकर होंगे? इस विषय में कई जगह कोई छोटी मोटी पुस्तक में और नाम देखने में आये हैं।

गाथा- **अट्टहरि णव पडिहरि चक्कि चउक्को य एय बलभद्दो।**
सेणिय समंतभद्दो तित्थय राहुंति णियमेण॥

समाधान—प्रथम तो यह गाथा ठीक नहीं और कौन से शास्त्र की है इसका भी पता नहीं और इसका अर्थ भी ठीक नहीं जमता है। कारण 'त्रिपिष्ठ' नाम का पहला नारायण (हरि) का जीव श्रीवर्धमान तीर्थंकर होकर मुक्त हुआ है। (देखो उत्तर पुराण पर्व ७४) और ८ वाँ नारायण हरि लक्ष्मण का जीव आगे पुष्करार्ध द्वीप के विदेह क्षेत्र में जन्म लेने वाला है ऐसा पद्मपुराण पर्व १०६ में लिखा है। इन दोनों नारायणों को घटाने से सात ही नारायण रह जाते हैं, परन्तु गाथा में 'अट्टहरि' लिखा है। और 'अश्वग्रीव' नाम का पहला प्रतिनारायण (पडिहरि) का जीव इन प्रतिनारायणों में 'मृगध्वज' नाम का केवली होकर मुक्त हो चुका है। तब नव प्रतिनारायण कैसे संभव है? और भी आदि अंत के चौंबीस होनहार जीव अन्त के रुद्र पर्यंत चौथे काल में ही हो चुके हैं फिर पाँचवें काल में हुए समन्तभद्र महाराज का जीव इन चौबीस में आना कैसे संभव है? और समंत भद्र महाराज ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध कब किए थे? और भी अनेक युक्ति प्रयुक्ति से इस गाथा में कथित अर्थ नहीं जमता है। इसलिए तिलोयपण्णत्ति और उत्तरपुराण के कथनानुसार अर्थ का श्रद्धान करना चाहिए। इस विषय को पाठक समझ लें।

[१]भूतकाल के तीर्थंकरों के नाम-१. निर्वाण, २. सागर, ३. महासाधु, ४. विमलप्रभ, ५. शुद्धाभदेव, ६. श्रीधर, ७. श्रीदत्त, ८. सिद्धाभदेव, ९. अमलप्रभ, १०. उद्धारदेव, ११. अग्निदेव, १२. संयम, १३. शिव, १४. पुष्पांजली, १५. उत्साह, १६. परमेश्वर, १७. ज्ञानेश्वर, १८. विमलेश्वर, १९. यशोधर, २०. कृष्णमति, २१. ज्ञानमति, २२. शुद्धमति, २३. श्रीभद्र, २४. अनन्तवीर्य।

॥ त्रिकालवर्ती तीर्थंकरेभ्यो नमो नमः॥

---

१. **जयसेन प्रतिष्ठा पाठ ४७०-४९३, जै. सि. को. भा.-२, पृ० ३७७।**

वर्तमानकालीन चक्रवर्ती महापुरुष

क्रमांक १	चक्रवर्तियों के नाम (सकल चक्रवर्ती) २	चक्रवर्तियों के पूर्व के तीन भवान्तर		
		पिछले तीसरे भव का नाम ३	पिछले तीसरे भव का नगर ४	कहाँ से आकर चक्रवर्ती हुए ५
१	भरत	पीठराजा	पुंडरीकिनी	सर्वार्थसिद्धि
२	सगर	विजततेजराज	पृथिवीपुर	विजयविमान
३	मघवा	शशिप्रभराज	पुंडरीकिनी	ग्रैवेयक
४	सनत्कुमार	धर्मरुचीराज	महापुरी	महेन्द्रस्वर्ग
५	शान्तिनाथ	मेघराज	पुंडरीकिनी	सर्वार्थसिद्धि
६	कुन्थुनाथ	सिंहरथराज	रत्नसंचयपुर	सर्वार्थसिद्धि
७	अरहनाथ	धनपतिराज	क्षेमपुर	जयन्तानुत्तर
८	सुभौम	कनकप्रभराज	धान्यपुर	जयन्तानुत्तर
९	पद्मनाथ (महापद्म)	चित्तसुप्रसन्नराज	वीतशोकपुर	ब्रह्मस्वर्ग
१०	हरिषेण	महेन्द्रदत्तराज	विजय	महेन्द्रस्वर्ग
११	जयसेन	असीकान्तराज	राजपुर	ब्रह्मस्वर्ग
१२	ब्रह्मदत्त	संभूतराज	काशीपुर	पद्मयुगुलस्वर्ग

जघन्येन जिनाधीशा भवन्ति विंशतिप्रमाः।

चक्राधिपाश्च सर्वत्र नृदेक्खचरार्चिताः॥ ६१ सिद्धान्तसार॥

अर्थात्- अढाई द्वीप में तीर्थंकरों की जघन्य संख्या बीस रहती है, इनके सिवाय देव, मनुष्य और विद्याधरों से पूज्य ऐसे चक्रवर्ती भी होते हैं।

१. कौन से क्षेत्र की अपेक्षा कितने चक्रवर्ती कहे गए हैं—भरत और ऐरावत खंड में कालानुसार एक-एक चक्रवर्ती होते हैं। भरतक्षेत्र में जिस प्रकार एक आर्य खंड और पाँच मलेच्छ खंड मिलकर ६ खंड होते हैं उसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र में भी छह खंड होते हैं। विदेह क्षेत्र में जो ३२ देश हैं उन देशों में भरत क्षेत्र के समान छह-छह खंड होते हैं और उन देशों में एक-एक चक्रवर्ती होते रहते हैं। पंच विदेह क्षेत्र की अपेक्षा एक समय में १६० तीर्थंकर, सकल चक्रवर्ती तथा अर्ध चक्रवर्ती कहे गए हैं। पाँच ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा इनकी उत्कृष्ट संख्या १७० होती है। जघन्य से विदेहों की अपेक्षा कम से कम संख्या तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों तथा अर्ध चक्रवर्तियों की बीस कही गई है। त्रिलोकसार में लिखा है–

तित्थद्ध-सयल चक्की सट्ठिसयं पुरवरेणअवरेण।
वीसं वीसं सयले खेत्ते सत्तरिसयं वरदो॥ ६८१॥

चक्रवर्तियों की संख्या जो १२ कही है वह भरत और ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा से कही गई है। विदेह क्षेत्र में वे प्राय: सर्वत्र होते रहते हैं वहाँ उत्कृष्ट या जघन्य संख्या का नियम नहीं है।

चक्रवर्ती सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें :-

जन्मभूमि

जन्मपुरी (राजधानी) ६	जनक (पिता) ७	जननी (माता) ८	शरीर की ऊँचाई (धनुष) ९	शरीर का वर्ण १०
अयोध्या	ऋषभदेव	यशस्वति	५००	स्वर्ण
अयोध्या	विजय	सुमंगला	४५०	स्वर्ण
श्रावस्ति कौशलापुर	सुमित्र	भद्रवति	४२॥	स्वर्ण
हस्तिनागपुर (कौसलापुर)	विजय	सहदेवी	४२	स्वर्ण
हस्तिनागपुर	विश्वसेन	ऐरादेवी	४०	स्वर्ण
हस्तिनागपुर	सुरसेन	श्रीकान्ता	३५	स्वर्ण
हस्तिनागपुर	सुदर्शन	मित्रसेना	३०	स्वर्ण
अयोध्या	कीर्तिवीर्य	तारादेवी	२८	स्वर्ण
हस्तिनागपुर (वाराणसी)	पद्मरथ	मयूरी	२२	स्वर्ण
कंपिल नगर (भोगपुर)	हरिकेतु	विप्रा	२०	स्वर्ण
कौशाम्बी	विजय	यशोवती	१५	स्वर्ण
कंपिलनगर (अयोध्या)	ब्रह्मरथ	चूलादेवी	७	स्वर्ण

२. चक्रवर्ती पद—नरक में से आने वाले जीवों को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है। स्वर्ग से आने वाले जीवों को ही यह चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है ऐसा नियम है।

३. भरत चक्रवर्ती का—जन्म चैत्र कृष्ण ९ उत्तराषाढ़ नक्षत्र, ब्रह्मयोग, धनुराशि का चन्द्र जब मीनलग्न में था तब हुआ था।

४. ब्राह्मण वर्ण क्या अनादि से है? नहीं। भरत चक्रवर्ती ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की थी। आदि पुराण पर्व ३८ में लिखा है–

तेषां कृतानि चिन्हानि सूत्रैः पद्माह्वयान्निधेः।
उपात्तै ब्रम्हसूत्राह्वै रेकादशान्तकैः (तेन)॥

अर्थात्- भरत चक्रवर्ती ने 'पद्म' नाम की निधि से एक से लेकर ग्यारह तक ब्रह्मसूत्र देकर ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की थी। इस तरह भरतेश्वर द्वारा चतुर्थ काल के आरम्भ में ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति हुई है।

५. पाँचों विदेह क्षेत्रों में ब्राह्मण वर्ण है या नहीं? वहाँ कितने वर्ण हैं? उत्तर देखो सिद्धान्तसार प्रदीप-

प्रजा वर्णत्रियोपेता जिनधर्मरता शुभा।
व्रतशीलतपोदृष्टि भूषितान द्विजा: क्वचित्॥ ४७॥

अर्थात्- विदेह क्षेत्र में ब्राह्मण नहीं हैं। वहाँ क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये तीन ही वर्ण होते हैं।

पूर्ण आयु में से कुमार कालादि का काल प्रमाण-

क्रमांक	कुमार काल प्रमाण ११	मांडलिकराजा काल प्रमाण १२	दिग्विजय काल प्रमाण १३	चक्रवर्तित्व का काल प्रमाण १४	संयम काल प्रमाण १५
१	७७ लाख पूर्व वर्ष	१००० वर्ष	६०००० वर्ष	६१ हजार वर्ष कम ६ लाख पूर्व	एक लाख पूर्व
२	५० हजार पूर्व वर्ष	५०००० वर्ष	३०००० वर्ष	३० हजार वर्ष कम ७० लाख पूर्व	एक लाख पूर्व
३	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	१०००० वर्ष	३९०००० वर्ष	५०००० वर्ष
४	५०००० वर्ष	५०००० वर्ष	१०००० वर्ष	९०००० "	१००००० वर्ष
५	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	८०० वर्ष	२४२०० "	२५००० वर्ष
६	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष	६०० वर्ष	२३१५० "	२३७५० वर्ष
७	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष	५०० वर्ष	२०६०० "	२१००० वर्ष
८	५००० वर्ष	५००० वर्ष	४०० वर्ष	४९५०० "	०
९	५०० वर्ष	५०० वर्ष	३०० वर्ष	१८७०० "	१०००० वर्ष
१०	३२५ वर्ष	३२५ वर्ष	१५० वर्ष	८८५० "	३५० वर्ष
११	३०० वर्ष	३०० वर्ष	१०० वर्ष	१९०० "	४०० वर्ष
१२	२८ वर्ष	५६ वर्ष	१६ वर्ष	६०० "	०

६. भरत चक्रवर्ती का वृषभाचल पर अपनी प्रशस्ति लिखने का विचार—महान् पुण्यात्मा चक्रवर्ती भरत क्षेत्र के छह खंडों पर विजय प्राप्त करता है। वह पाँच म्लेच्छ खंडों की विजय के लिए विजयार्ध पर्वत की ओर गमन करता है। वहाँ के राजाओं को जीत कर चक्रवर्ती हिमवान पर्वत के

समीप आता है और उसके निकटवर्ती वृषभाचल पर्वत के दर्शनार्थ जाता है। यह सौ योजन ऊँचा तथा सौ योजन चौड़ा है। इस मनोहर पर्वत की शिला पर प्रत्येक विजेता चक्रवर्ती अपने गौरव को सूचित करने वाली प्रशस्ति लिखता है। चक्रवर्ती भरत जब वृषभाचल पर्वत के निकट पहुँचे, तब उन्होंने क्या किया, इस विषय में महापुराण का वर्णन महत्वपूर्ण है। जिनसेन स्वामी लिखते हैं, ''समस्त पृथ्वी को जीतने वाले भरत चक्रवर्ती ने अपने हाथ में काकिणी रत्न लेकर अपना नाम उस पर्वत पर लिखने का विचार किया, उस समय भरतराज ने उस पर्वत पर हजारों चक्रवर्ती राजाओं के नाम लिखे देखे–''

तदा राजसहस्राणां नामान्यत्रैक्षताधिराट्। (पर्व ३२-१४१)

असंख्यात करोड़ कल्पों में जितने चक्रवर्ती राजा हुए थे उनके नामों से भरे हुए उस पर्वत को देखकर भरतेश्वर को बहुत आश्चर्य हुआ। इसे देखकर चक्रवर्ती का गर्व दूर हुआ और उन्होंने निश्चय किया कि भरत क्षेत्र में एक मैं ही शासक नहीं हूँ मेरे समान अनेक चक्रवर्ती शासक हो चुके हैं।

जिस समय भरतेश्वर ने एक चक्रवर्ती के नाम की प्रशस्ति मिटाई थी उस समय उसने निश्चय किया कि सारा संसार स्वार्थी है। अपनी प्रशस्ति में चक्रवर्ती ने लिखा था–

नप्ता श्रीनाभिराजस्य पुत्रः श्रीवृषभेशिनः।
षट्खंडमंडितामेनां यः स्म शास्त्यखिलां महीं ॥१५३॥

जो नाभिराज का पौत्र है श्री वृषभदेव का पुत्र है जिस भरत ने छह खंडों से सुशोभित इस पृथ्वी का पालन किया है।

मत्वाऽसौ गत्वरीं लक्ष्मीं जित्वरः सर्वभूभृतां।
जगद्विसृत्वरीं कीर्तिमतिष्ठिपदिहाचले ॥१५४॥

जो समस्त राजाओं को जीतने वाला है ऐसे मुझ भरत ने लक्ष्मी को चंचल समझ कर विश्व में फैलने वाली कीर्ति को इस पर्वत पर स्थापित किया।

इस प्रकार चक्रवर्ती ने अपना यश फैलाने वाली प्रशस्ति स्वयं अपने अक्षरों से लिखी थी, उस समय देवों ने चक्रवर्ती पर पुष्प वर्षा की थी। आकाश में दुन्दुभि बजी थीं तथा देवताओं ने जय जयकार किया था।

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस जगत् में अगणित प्रतापी और पुण्यात्मा पुरुष हो चुके हैं। जिस तरह भरत महाराज ने एक चक्रवर्ती का नाम अलग कर अपनी गौरव पूर्ण प्रशस्ति लिखी है। इस प्रकार भविष्य में कभी कोई चक्रवर्ती भरत महाराज का नाम भी मिटाये बिना न रहेगा। प्रत्येक जीव को मान कषाय छोड़कर मार्दव भाव को अपनाना चाहिए।

पूर्ण आयु काल प्रमाण १६	कौन-कौन से तीर्थंकर के तीर्थकाल में हो गए? १७
८४ लाख पूर्व वर्ष	वृषभनाथ के तीर्थकाल में हो गए।
७२ लाख पूर्व वर्ष	अजितनाथ के तीर्थकाल में हो गए।
५ लाख पूर्व वर्ष	धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अंतराल काल में हो गए।
३ लाख वर्ष	धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अंतराल काल में हो गए।
१ लाख वर्ष	आप स्वयं चक्रवर्ती थे।
९५००० वर्ष	आप स्वयं चक्रवर्ती थे।
८४००० वर्ष	आप स्वयं चक्रवर्ती थे।
६०००० वर्ष	अरहनाथ और मल्लिनाथ के अंतराल काल में हो गए।
३०००० वर्ष	मल्लिनाथ और मुनिसुव्रतनाथ के अंतराल काल में हो गए।
१०००० वर्ष	मुनिसुव्रतनाथ और नमिनाथ के अंतराल काल में हो गए।
३००० वर्ष	नमिनाथ और नेमिनाथ के अंतराल काल में हो गए।
७०० वर्ष	नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के अंतराल काल में हो गए।

क्रमांक	आगे कौन-सी गति प्राप्त की? १८	भविष्यकाल में होने वाले १२ चक्रवर्तियों के नाम १९	अतीत काल के १२ सकल चक्रवर्तियों के नाम २०
१	सिद्ध (मुक्त) भये	भरत	श्रीषेण
२	सिद्ध (मुक्त) भये	दीर्घदन्त	पुण्डरीक
३	सनत्कुमार स्वर्ग गए	मुक्त दन्त	वज्रनाभि
४	सनत्कुमार स्वर्ग गए	गूढदन्त	वज्रदत्त
५	सिद्ध (मुक्त) भये	श्रीषेण	वज्रघोष
६	सिद्ध (मुक्त) भये	श्रीभूति	चारुदत्त
७	सिद्ध (मुक्त) भये	श्रीकान्त	श्रीदत्त
८	७ वाँ नरक गए।	पद्म	सुवर्णप्रभ
९	सिद्ध (मुक्त) भये	महापद्म	भूवल्लभ
१०	सिद्ध (मुक्त) भये	चित्रवाहन	गुणपाल
११	सिद्ध (मुक्त) भये	विमलवाहन	धर्मसेन
१२	७ वाँ नरक गए।	अरिष्टसेन	कीर्त्योघ

७. चक्रवर्तियों में भरतेश्वर का वैभव–व्यक्तिगत जीवन, परिवार आदि सब विशेष महत्वपूर्ण रहे हैं। आदिनाथ तीर्थंकर के ज्येष्ठ पुत्र होने के साथ उनके द्वारा विद्या का अभ्यास करने का सौभाग्य अद्भुत था। इनके कुटुम्ब में अनेक व्यक्ति चरम शरीरी हुए हैं। आज जिन महावीर भगवान का भरत क्षेत्र में तीर्थ चल रहा है। उन वीर भगवान का जीव सम्राट् भरत का पुत्र मरीचिकुमार के रूप में विद्यमान था। सम्राट् के पुत्रों में भद्र विवर्धन आदि ९२३ राजकुमार अद्भुत चरित्र वाले थे। उन्होंने नित्यनिगोद की अवस्था को छोड़कर कर्मभार हल्का होने से मनुष्य पर्याय प्राप्त की थी और आदिनाथ भगवान् के समवसरण में धर्मोपदेश सुनकर रत्नत्रय से अलंकृत मुनि पदवी को धारण कर अल्प समय में ही मोक्ष प्राप्त किया था। मूलाराधना टीका में इस विषय का इस प्रकार वर्णन किया गया है–**अनादिकालं मिथ्यात्वोदयोद्रेकात् नित्यनिगोदपर्यायमनुभूय भरतचक्रिणः पुत्राः भूत्वा भद्र-विवर्धनादयस्त्रयोवशिंत्यधिकनवशतसंख्याः पुरुदेवपादे श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः अल्पकालेनैव सिद्धाः (पृ० ६६. मूलाराधना)**

हरिवंशपुराण सर्ग १२ में भी उक्त बात का उल्लेख आया है–

अदृष्टपूर्वतीर्थेशाः प्रविष्टाः समवस्थितिम्।
कदाचिच्चक्रिणा सार्धं विवर्धनपुरोगमाः ॥३॥
क्लिष्टा स्थावरकायेष्वनादिमिथ्यात्वदृष्टयः।
दृष्ट्वा भगवतो लक्ष्मीं राजपुत्राः सुविस्मिताः ॥४॥
अंतर्मुहूर्तकालेन प्रतिपन्नसुसंयमाः।
त्रयोविंशान्यहो चित्रं शतानि नवभि र्बभुः ॥५॥

भद्रविवर्धन आदि राजपुत्रों का चरित्र किस मानव के हृदय में आत्मविकास का प्रेम उत्पन्न न करेगा।

स्वयं भरतेश्वर का आध्यात्मिक जीवन मुमुक्षु वर्ग के लिए चमत्कार का जनक रहा है। चक्रवर्ती ने मुनि पदवी धारण करते समय केशों का लोच किया था और तत्काल ही वे भरत, जो कुछ समय पूर्व लौकिक साम्राज्य के स्वामी थे, अब क्षण में केवलज्ञान साम्राज्य के स्वामी हो गए। बत्तीस इन्द्रों ने भगवान भरत की पूजा की, मोक्षमार्ग के दीपक केवली भरत ने बहुत समय तक इस पृथ्वी पर विहार कर कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया। निर्वाण दीक्षा लेने के अल्प काल के पश्चात् उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त करने में सभी तीर्थंकरों की अपेक्षा अद्भुत विशेषता प्रदर्शित की। हरिवंशपुराण में भरत मुनिराज के विषय में ये पद्य महत्वपूर्ण हैं।

पंचमुष्टिभिरुत्पाट्य त्रुट्यत्बंधस्थितिः कचान्।
लोचानन्तरमेवापद् राजन् श्रेणिक! केवलम् ॥१३-३॥

द्वात्रिंशत् त्रिदशेन्द्रैः स, कृतकेवलपूजनः।
दीपको मोक्षमार्गस्य, विजहार चिरं महीं॥१३॥ सर्ग ४॥

हुण्डावसर्पिणी काल की अभूतपूर्व घटनाएँ—सप्त परमस्थानों में प्रतिपादित साम्राज्य पदवी के स्वामी होते हुए भी चक्रवर्ती भरतेश्वर का बाहुबलि स्वामी द्वारा पराजय होना आश्चर्य की वस्तु लगती है, किन्तु आगम में बताया है कि असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालों के पश्चात् आने वाले हुण्डावसर्पिणी काल में ही ऐसी अभूतपूर्व घटनाएँ होती हैं। जिन शासन के मध्य में विपरीत अनके मतों की उत्पत्ति होना, वस्त्र धारण करके निंदनीय सग्रंथ लिंगधारी संप्रदाय का प्रादुर्भाव, जिनेन्द्र भगवान् पर उपसर्ग होना, चक्रवर्ती का मानभंग, कुदेव, उनके मठ, उनकी मूर्ति आदि का होना, अनेक मिथ्या शास्त्रों का निर्माण होना तथा भरत का बाहुबली द्वारा मानभंग सदृश कार्य हुए। कहा भी है–

जिनशासनमध्ये स्युः विपरीता मतान्तराः।
चीवराद्यावृता निंद्याः सग्रंथाः संति लिंगिनः॥१॥
उपसर्गा जिनेन्द्राणां, मानभंगाश्च चक्रिणाम्।
कुदेव-मठ-मूर्त्याद्याः शास्त्राणि अनेकशः॥२॥

इस सम्बन्ध में यह गाथा भी प्रसिद्ध है–

हुंडावसर्पिणीकाले णियमेण भवन्ति पञ्चपाषंडाः।
चक्किहरमाणभंगो उवसग्गो जिणवरिंदाणं॥

भरत बाहुबली आदि का उपरोक्त वर्णन भूतपूर्व नैगमनय की अपेक्षा से किया जाता है। आज तो वे सभी जीव समान आत्मगुणों से शोभायमान सिद्ध परमात्मा के रूप में ईषत्प्राग्भार नाम की अष्टम पृथ्वी पर विराजमान हैं। वह स्थान सर्वार्थसिद्धि से केवल द्वादश योजन दूरी पर स्थित हैं।

९. चक्रवर्ती के चार प्रकार की राजविद्या—(१) आन्वीक्षिकी अपना स्वरूप जानना, अपना बल पहचानना, अच्छा बुरा समझ लेना, सच्चा झूठा समझ लेना, रत्न परीक्षक जिस तरह रत्न की परीक्षा करता है उसी तरह पहिचानना। (२) त्रयी–शास्त्रानुसार धर्म–अधर्म समझ कर अधर्म छोड़ देना और धर्म में प्रवृत्ति करना। (३) वार्ता–अर्थ–अनर्थ को समझ कर प्रजाजनों का रक्षण करना। (४) दंडनीति–योग्य दण्ड विधान द्वारा दुष्टों को मार्ग पर लाना। (देखो महापुराण पर्व ४)

१०. चक्रवर्ती के पाँच इन्द्रियों का विषय बल स्वरूप—

१. स्पर्शनेन्द्रिय से ९ योजन तक का विषय जान लेते हैं।

२. रसनेन्द्रिय से ९ योजन तक का विषय जान लेते हैं।

३. घ्राणेन्द्रिय से ९ योजन तक का विषय जान लेते हैं।

४. चक्षुरिन्द्रिय से ४७२६३$\frac{७}{२०}$ योजन तक देख सकते हैं।

५. श्रोत्रेन्द्रिय से १२ योजन तक का शब्द सुनते हैं।

११. चक्रवर्ती के ७ अंग बलों का स्वरूप—१. स्वामी, २. अमात्य, ३. देश, ४. दुर्ग, ५. खजाना (कोश), ६. षडंग बल, ७. मित्र (सुहृत्) इस प्रकार सात अंग बल होते हैं।

१२. चक्रवर्ती का षडंग (६ प्रकार का) बल—१. चक्रबल, २. ८४ लाख भद्र हाथी होते हैं। ३. ८४ लाख रथ होते हैं। ४. १८ करोड़ जातिवंत (सुलक्षण के) घोड़े होते हैं। ५. ८४ करोड़ वीरभट पैदल सैनिक[1] होते हैं। ६. असंख्यात[2] विद्याधर सैन्य होते हैं। इस प्रकार चक्रवर्ती का षडंग बल समझना चाहिए।

१३. चक्रवर्ती के दशांग भोग—१. दिव्यपुर (पट्टण), २. दिव्यभाजन, ३. दिव्यभोजन, ४. दिव्यशय्या, ५. दिव्य आसन, ६. दिव्य नाटक, ७. दिव्य रत्न, ८. दिव्य निधि, ९. दिव्य सैन्य, १०. दिव्य वाहन। इस प्रकार दशांग भोग होते हैं।

१४. चक्रवर्ती की 'नवनिधि' और उनकी फलदान शक्ति—

१. कालनिधि—ऋतु के अनुसार नाना विध पदार्थ देने वाली होती है।

२. महा कालनिधि—नाना विध भोजन पदार्थ देने वाली होती है। (भाजन वर्तन धातु)

३. माणवक निधि—नाना विध आयुध देने वाली होती है।

४. पिंगल निधि—नाना विध आभरण देने वाली होती है।

५. नैसर्प निधि—नाना विध मन्दिर देने वाली होती है। (महल, प्रासाद)

६. पद्म निधि—नाना विध वस्त्र देने वाली होती है।

७. पाण्डुक निधि—नाना विध धान्य देने वाली होती है। [अनाज एवं षट् रस]

८. शंख निधि—नाना विध वादित्र देने वाली होती है।

९. सर्वरत्न (नानारत्न) निधि—नानाविधरत्न देने वाली होती है।

ये सब निधियाँ नदीमुख में उत्पन्न होते रहते हैं।

१५. चक्रवर्ती के १४ रत्न और उनकी फलदान शक्ति-

चक्रं छत्रमसिर्दंडो मणिश्चर्म च काकिणी।
गृहसेनापतिस्तक्षा पुरोधोऽश्वगजस्त्रियः॥

---

१. ४८ करोड़ पैदल सैनिक (ति० प० गा० १४०४)। २. कई करोड़ विद्याधर (ति० प० गा० १४०२)

१. अयोध्या-सेनापतिरत्न	सेनानायक-आर्यखंड और उत्तम, मध्यम म्लेच्छखंड सिवाय अन्य दिग्विष्टरों को जीतनेवाला सेनापति रत्न है।
२. भद्रमुख-हर्म्यपति-गृहपतिरत्न	भण्डारी-राजमहल का व्यवहार चलाने वाला और हिसाब-किताब रखने वाला गृहपति रत्न होता है।
३. बुद्धिसमुद्र-पुरोहितरत्न	सबको धर्म-कर्मानुष्ठान पूर्वक मार्गदर्शन कराने वाला पुरोहित रत्न होता है।
४. कामवृष्टि-स्थपति-तक्षकरत्न	उत्तम कारीगर-चक्रवर्ती के आलोचनानुसार महल, मंदिर, प्रासाद आदि को तैयार करने वाला तक्षक रत्न है।
५. सुभद्रा-युवति-स्त्रीरत्न	चक्रवर्ती के ९६ हजार स्त्रियों के सिवाय जो मुख्य पट्टरानी होती है वह ही स्त्रीरत्न है।
६. विजयागिरि-गजपतिरत्न	अरिनृपों के गजघटाओं का विघटन करने वाला गजरत्न होता है।
७. पवनंजय-अश्वरत्न	तिमिश्रगुफा के कवाट को विघटन करते समय १२ योजन दौड़ने वाला अश्वरत्न होता है।

इस प्रकार यह ७ सजीवरत्न कहलाते हैं।

८. सुदर्शन-चक्र	आयुध-वैरियों का संहार (अभाव) करने वाला चक्ररत्न होता है।
९. सूर्यप्रभ-छत्ररत्न	आयुध-सैन्यों के ऊपर आने वाली बाधाओं को दूर करने वाला छत्ररत्न होता है।
१०. भद्रमुख-असि-खड्गरत्न	आयुध-चक्रवर्तियों के चित्तोत्सव को करने वाला असिरत्न होते हैं।
११. प्रचण्ड वेग*/प्रवृद्धवंग-दण्डरत्न	आयुध-चक्रवर्तियों के सैन्य की जमीन को साफ कर देने वाला दण्डरत्न है।
१२. चित्ताजननी-काकिणीरत्न	गुफा आदि में रहने वाले अंधकार के स्थानों में चन्द्रादित्यों के समान प्रकाश देने वाला काकिणीरत्न होता है।

* ति० प० गा०१३९३।

१३. चूड़ामणि/चिन्तामणि* रत्न	रत्नविशेष-इच्छित पदार्थ को देने वाला चूड़ामणि रत्न होता हैं।
१४. मज्झ मय*/चर्मरत्न	सैन्यादिकों को नद और नदी से सुरक्षित रीति से पार करा देने वाला चर्मरत्न होता है।

इस प्रकार यह ७ अजीवरत्न कहलाते हैं। इनमें से नम्बर एक से लेकर पाँच तक सजीवरत्न अपने-अपने नगरों में उत्पन्न होते हैं और नम्बर ६-७ विजयार्ध पर्वत में उत्पन्न होते हैं। नम्बर ८ से ११ तक आयुधशाला में उत्पन्न होते हैं। नम्बर १२ से १४ तक के रत्न श्रीदेवी के मन्दिर में उत्पन्न होते हैं। इन १४ महारत्नों में प्रत्येक रत्न का रक्षण एक-एक हजार यक्ष देवता किया करते हैं।

१६ चक्रवर्ती के स्वामित्व का स्वरूप—चक्रवर्ती का ३२ हजार राजाओं पर स्वामित्व होता है। उन राजाओं के लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिए।

नृपति—जो समस्त नर अर्थात् मनुष्यों का रक्षण करने वाला हो वही नृप या नृपति कहलाता है।

भूप—समस्त पृथ्वी का जो रक्षक है वह भूप या भूपति कहलाता है।

राजा—जो समस्त प्रजा जनों को राजी रखने वाला है वही राजा कहलाता है।

इन राजाओं के छह गुण होते हैं—१. संधि=मिलाप (अपसात), २. विग्रह=युद्ध, ३. यान=वाहन, ४. आसन=मुक्काम, ५. संस्थान=वचनों की दृढ़ता (वाचनिक), ६. आश्रय=आधार इसके दो भेद होते हैं, जो अपने से प्रबल रहे उसका आश्रय लेना और जो अपने आधीन रहे, उसे आश्रय देना अर्थात् शरणागतों का प्रतिपालन करना। यही राजा के छह गुण समझना चाहिए।

राजाओं के कर्तव्य कर्म–

१. आत्मपालन करना	–	अर्थात् राज्य करने वालों को प्रथम अपनी आत्मा का पालन करना चाहिए। अर्थात् स्वतः के प्राणों का रक्षण करना चाहिए।
२. मतिपालन करना	–	अर्थात् अपनी बुद्धि निर्मल रखनी चाहिए।
३. कुल पालन करना	–	अर्थात् राजकुलाचारादि संभालना चाहिए।
४. प्रजा पालन करना	–	अर्थात् पुत्र के समान प्रजाजनों की रक्षा करनी चाहिए।

शिष्टों का संरक्षण और दुष्टों का निग्रह करना चाहिए।

उपरोक्त गुण युक्त राजाओं की १८ श्रेणियाँ रहती हैं, उनका स्वरूप–

१. सेनापति—सेना का नायक।

२. गणकपति—ज्योतिषी आदिकों का नायक।

३. वणिक्पति—व्यापारियों का नायक।

४. दण्डपति—समस्त सेना का नायक।

५. मंत्री—पंचांगमंत्र विषय में प्रवीण।

६. महत्तर—कुलवान् अर्थात् कुलविशेष उच्चता।

७. तलवर—कोतवाल का स्वामी।

८. ब्राह्मण, ९. क्षत्रिय, १०. वैश्य

११. शूद्र—इन चार वर्णों का स्वामी।

१२. हाथी, १३. घोड़ा, १४. रथ

१५. पदाति—इस चतुरंग बल का स्वामी।

१६. पुरोहित—आत्महित कार्य का अधिकारी।

१७. अमात्य—देश का अधिकारी।

१८. महामात्य— समस्त राज्य कार्यों का अधिकारी।

इस प्रकार जो १८ श्रेणियों का स्वामी है वही 'राजा' है। और वही 'मुकुटधारी' हो सकता है।

इसी तरह-

जो पाँच सौ मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है वह 'अधिराजा' कहलाता है।

जो एक हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है वह 'महाराजा' कहलाता है।

जो दो हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है वह 'मुकुटबद्ध' या 'अर्धमांडलिक' कहलाता है।

जो चार हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है वह 'मांडलिक' कहलाता है।

जो आठ हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है वह 'महामांडलिक' कहलाता है।

जो सोलह हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है वह 'अर्धचक्री' कहलाता है।

जो बत्तीस हजार मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है वह 'सकल चक्रवर्ती' कहलाता है। अर्थात् षट्खण्ड पृथ्वी का (भरतखण्ड का) अधिपति होता है। इस प्रकार श्रेणीबद्ध चक्रवर्ती का राज्य निराबाघ चलता रहता है।

१७. चक्रवर्ती के देश ग्रामादि की संख्या-षट्खंड मंडित भरतखंड के एक-एक देश में रहने वाले अलग-अलग ग्रामादिकों की संख्या और नामादि लक्षण–

एक-एक देश में एक-एक समुद्र रहता है। उन समुद्रों में टापू अर्थात् ५६ अन्तर्द्वीप हैं। और जहाँ रत्न उत्पन्न होते हैं ऐसे २६ हजार रत्नाकर (समुद्र) हैं और रत्न बिक्री के स्थान भूत ऐसे ६०० प्रत्यंतर कुक्षी हैं और ७०० प्रत्यंतर कुक्षीवास हैं, और ८०० कक्षा हैं। भरतखंड के मुख्य नगर (राजधानी) दोनों नदी (गंगा और सिंधु महानदी) के बीच में विद्यमान आर्यखंड में होता है।

१८. चक्रवर्ती के परिवारादि वैभवों की रूपरेखा -

१. चक्रवर्ती के एक पट्टरानी के सिवाय और ९६ हजार स्त्रियाँ होती हैं। इनमें आर्य खंड की ३२ हजार राजकन्यायें होती हैं, ३२ हजार विद्याधर राजकन्यायें और म्लेच्छखंड की ३२ हजार राजकन्यायें होती हैं। इस प्रकार सब मिलकर ९६ हजार स्त्रियाँ होती हैं।

२. चक्रवर्ती रात्रि के समय अपनी पट्टरानी के महल में ही रहते हैं परन्तु पट्टरानी के पुत्र, संतान नहीं होती है वह वंध्या ही रहती है। इसकी शंखावर्त योनि होनेसे इस योनि में वंशोत्पत्ति नहीं होती है। चक्रवर्ती अपनी पृथक विक्रिया की सहायता से अपने शरीर के अनेक रूप धारण कर सकते हैं इसलिए उनकी अन्य स्त्रियों को पुत्रादिक होते रहते हैं।

३. चक्रवर्ती के पुत्र-पुत्रियाँ संख्यात हजार होते हैं।

३ करोड़ ५० हजार बन्धु वर्ग (भाई बन्धु) होते हैं।

३६०[१] शरीर वैद्य ३६१ इतर वैद्य होते हैं। ३६० अंग रक्षक होते हैं।

३६० स्वयंपाकी (रसोईवाले) होते हैं। और १४ रत्न होते हैं।

४. चक्रवर्ती पर ३२ यक्षदेव ३२ चमर ढुराते रहते हैं।

५. बारह योजन तक सुनाई देने वाले २४ शंख २४ भेरी (नगाड़ा) २४ पटह (वाद्यविशेष) होते हैं।

६. ३२ हजार नाट्यशालायें और ३२ हजार संगीतशालायें होती हैं। ३२ हजार देश और उन प्रत्येक देश के ३२ हजार मुकुटधारी राजाओं पर स्वामित्व होता है। इसी तरह १६ हजार गणबद्ध देवों का स्वामी और ८८ हजार म्लेच्छ राजाओं का स्वामी होता है।

७. एक आर्य खंड और पाँच म्लेच्छखण्ड इस प्रकार छह खण्ड पृथ्वी के स्वामी रहते हैं। एक लाख करोड़ 'हल' होते हैं, ३ करोड़ गोमंडल अर्थात् गौ रहने का स्थान होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि गौ तीन करोड़ से भी ज्यादा होती हैं।

८. भरत चक्रवर्ती के एक करोड़ सोने के थाल थे ऐसा कोई कहते हैं परन्तु वे दाल चावलादि धान पकाने के बर्तन थे। क्योंकि श्लोक में 'स्थाली' शब्द है उसका अर्थ हंडा (बर्तन) ऐसा होता है

१. ति० प० गा० १३८७।

इसलिए वे थाली न रहकर बड़े-बड़े बर्तन थे ऐसा सिद्ध होता है। (देखो आदि पुराण पर्व ३७)

क्रमांक	ग्रामादिकों की संख्या	ग्रामादिकों के नामादि लक्षण
१	ग्राम ९६ करोड़ रहते हैं	जिस गाँव के चारों ओर दीवाल (कोट) होता है उस गाँव को 'ग्राम' कहते हैं।
२	नगर ७५ हजार रहते हैं	जो गाँव चारों ओर दीवाल और चार दरवाजों से संयुक्त है उस गाँव को 'नगर' कहते हैं।
३	खेट १६ हजार[१] रहते हैं	नदी और पर्वतों से वेष्टित रहने वाले गाँव को 'खेट' कहते हैं।
४	खर्वड २४ हजार रहते हैं	पर्वतों से वेष्टित गाँव को 'खर्वड' कहते हैं।
५	मडम्ब ४ हजार रहते हैं	हरेक पाँच सौ ग्राम संयुक्त रहने वाले गाँव को 'मडम्ब' कहते हैं।
६	पट्टण ४८ हजार रहते हैं	यहाँ रत्न उत्पन्न होते हैं उस गाँव को 'पट्टण' कहते हैं।
७	द्रोण ९९ हजार रहते हैं	नदी से वेष्टित हुए ग्राम को 'द्रोण' कहते हैं।
८	संवाहन १४ हजार[२] रहते हैं	उपसमुद्र के तट पर रहने वाले गाँवों को 'संवाहन' कहते हैं।
९	दुर्गाटवी २८ हजार रहते हैं	पर्वतों पर रहने वाले गाँवों को 'दुर्गाटवी' कहते हैं।

१९. भरत चक्रवर्ती के १६ स्वप्न

	स्वप्न दर्शन	स्वप्न का फल
१.	तेईस सिंहों को देखा जो कि इस पृथ्वी पर अकेले ही विहार कर पर्वत के शिखर पर चढ़ गये थे।	श्री महावीर स्वामी को छोड़ कर बाकी तेईस तीर्थंकरों के समय में दुष्ट नयों की अथवा मिथ्याशास्त्रों की उत्पत्ति नहीं होगी।
२.	अकेला सिंह का बच्चा देखा और उसके पीछे-पीछे चलते हुए हिरण देखे।	श्री महावीर स्वामी के तीर्थ में परिग्रह को धारण करने वाले बहुत से कुलिंगी वा अन्य भेषधारी हो जायेंगे।
३.	बड़े हाथी के उठाने योग्य बोझ से जिसकी पीठ टूट गई है ऐसे घोड़े को देखा।	पंचम काल में साधु लोग तपश्चरण के समस्त गुणों को धारण करने के लिए समर्थ नहीं होंगे। मूलगुण और उत्तर गुणों के पालन करने की प्रतिज्ञा लेकर भी कोई उनके पालन करने में आलस्य करने लगेंगे, कोई मूल से सब गुणों को ही नष्ट कर देंगे और कोई मन्दता वा उदासीनता धारण करेंगे।

१. ति० प० गा० १४०५। २. ति० प० गा० १४०७।

	स्वप्न दर्शन	स्वप्न का फल
५.	हाथी के कंधे पर बैठे हुए बन्दर को देखा।	आगे के (पंचमकाल) लोग सदाचार को छोड़कर दुराचारी हो जायेंगे।
६.	अनेक कौवा और पक्षी जिन्हें त्रास दे रहे हैं ऐसे हंस को देखा।	लोग जैन मुनियों को छोड़कर धर्म की इच्छा से अन्य मतियों के साधुओं के समीप जायेंगे।
७.	बहुत से भूतों को नाचते हुए देखा।	प्राचीन क्षत्रियों के वंश का नाश हो जायगा और फिर नीच कुल वाले इस पृथ्वी का शासन वा पालन करेंगे।
८.	जिसके बीच की जगह सूखी पड़ी है और किनारों पर चारों ओर खूब पानी भरा हुआ है ऐसा तालाब देखा।	प्रजा के लोग नामकर्म आदि कारणों से व्यन्तरों को देवता मानकर पूजा सेवा आदि करेंगे।
९.	धूली से मैली हो रही है ऐसी रत्नों की राशि को देखा।	यह धर्म आर्य क्षेत्र में न रहकर म्लेच्छ देश के लोगों में रहेगा।
१०.	आदर सत्कार से जिसकी पूजा की जा रही है ऐसा नैवेद्य खाता हुआ कुत्ते को देखा।	पंचमकाल में मुनि लोग शुक्लध्यान, उत्तम ऋद्धि आदि से विभूषित नहीं होंगे। अव्रती ब्राह्मण गुणी पात्रों के समान आदर सत्कार पावेंगे।
११.	शब्द करता हुआ एक तरुण बैल को विहार करते हुए देखा।	लोग तरुण अवस्था में ही मुनिपद धारण करेंगे वृद्धावस्था में धारण नहीं करेंगे।
१२.	सफेद परिमंडल (चारों ओर गोल सफेद रेखा) से घिरा हुआ है ऐसा चन्द्रमा देखा।	पंचम काल में मुनियों के अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होगा।
१३.	जिन्होंने आपस में मित्रता की है (परस्पर मिलकर जा रहे हैं) तथा उनकी शोभा नष्ट हो रही है ऐसे दो बैल देखे।	पंचम काल में मुनि लोग साथ-साथ रहेंगे एकाविहारी (अकेले विहार करने वाले) नहीं होंगे।
१४.	सूर्य को बादलों से ढका हुआ देखा।	पंचमकाल में केवल ज्ञानरूप सूर्य का उदय नहीं होगा।
१५.	छाया रहित सूखा वृक्ष देखा।	पुरुष और स्त्रियों के सदाचार प्रायः भ्रष्ट हो जायेंगे।
१६.	पुराने पत्तों के समूह को देखा।	महा औषधियों का रस अर्थात् गुण नष्ट हो जायेगा।

इन स्वप्नों को इस प्रकार फल देने वाले और दूर अर्थात् आगामी पंचमकाल में फल देने वाले जानना। इस प्रकार वर्णन महापुराण पर्व ४१ में लिखा है।

२०. ९ प्रतिनारायण इनको प्रतिवासुदेव -

१. यह प्रतिनारायण पद नरक में से आने वाले जीवों को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है।

२. यह सब ही प्रतिनारायण अधोगामी अर्थात् अधोलोक जानेवाले रहते हैं।

३. इनमें जरासंध भूमि गोचरी थे। बाकी सब विद्याधर थे।

४. रावण की लंका कहाँ है? वर्तमान सिंहल द्वीप को बहुत से लोग 'लंका' समझते हैं परन्तु इसे रावण की लंका नहीं समझना चाहिए। लवणोदधि समुद्र में सात सौ योजन लम्बा चौड़ा एक 'राक्षस' नाम का द्वीप है उस द्वीप के मध्य भाग में मेरू पर्वत के समान 'विचित्रकूट' अथवा 'चित्रकूटाचल' नाम का एक पर्वत है। वह पर्वत ९ योजन ऊँचा और ५० योजन लम्बा-चौड़ा है। उस पर्वत पर ३० योजन प्रमाण 'लंका' नाम की नगरी अत्यन्त सुन्दर है। पद्मपुराण में कहा है कि भीम, महाभीम नाम के यक्षों ने 'मेघनाद' विद्याधर से कहा था कि हम लंकापुरी आपको देते हैं। आप वहाँ सुख से रहना। यही आगम कथित रावण की 'लंका' समझनी चाहिए। लोक में लंका नाम से प्रसिद्ध अन्य स्थान भी हो सकते हैं।

५. इन पर सदाकाल १६ चमर ढुरते रहते हैं।

६. रावण को 'राक्षस' समझना अज्ञान है। वे विद्याधर थे 'राक्षस' नामक द्वीप में रहते थे। इसी तरह रावण को 'दशकंठ' समझना भी अज्ञान है।

९ नारायण इनको वासुदेव के शव गोविन्द हरि ऐसा भी कहते हैं-

नारायणों के पूर्व के तीन भव-

क्रमांक १	नारयणों के नाम २	पिछले तीसरे भव के वहाँ के नाम ३	वहाँ की नगरियों के नाम ४	वहाँ के गुरुओं के नाम ५
१	त्रिपिष्ट (त्रिपृष्ट)	विश्वनन्दी	हस्तिनागपुर	संभूत
२	द्विपिष्ट (द्विपृष्ट)	पर्वत	अयोध्या	सुभद्र
३	स्वयंभू	धनमित्र	श्रावस्ति	वसुदर्शन
४	पुरुषोत्तम	सागरदत्त	कौशाम्बी	श्रेयांस
५	नरसिंह (पुरुषसिंह)	विकट	पौदनापुर	भूतिसंग
६	पुंडरीक (पुरुषपुण्डरीक)	प्रियमित्र	शैलनगर	वसुभूती
७	दत्त (पुरुषदत्त)	मानचेष्टित	सिंहपुर	घोषसेन
८	नारायण (लक्ष्मण)	पुनर्वसु	कौशाम्बी	परांभोधि
९	कृष्ण	गंगदेव (निर्णामिक)	हस्तिनागपुर	द्रुमसेन

९. प्रतिनारायण- इनको प्रतिवासुदेव, प्रतिशत्रु और प्रतिहरि ऐसा भी कहते हैं।

क्रमांक १	प्रतिनारायणों के नाम २	राजधानी का नाम ३	शरीर की ऊँचाई (धनुष) ४	आयु प्रमाण वर्ष ५
१	अश्वग्रीव	अल्कापुर	८०	८४ लाख
२	तारक	विजयपुर	७०	७२ लाख
३	मेरक	नन्दनपुर	६०	६० लाख
४	मधुकैटभ	हरिपुर	५०	३० लाख
५	निशुंभ	सिंहपुर	४५	१० लाख
६	बली	पृथ्वीपुर	२९	६५ हजार
७	प्रहलाद (प्रहरण)	सूर्यपुर	२२	३२ हजार
८	रावण	लंका	१६	१२ हजार
९	जरासंध	राजगृही	१०	१ हजार

यह सब अर्ध चक्री होते हैं।

	जन्म भूमि				
पिछले भव के स्वर्गों के नाम कहाँ से आए? ६	राजधानी ७	जनक (पिता) ८	शरीर की जननी (माता) ९	ऊँचाई धनुष १०	कुमार काल वर्ष ११
महाशुक्र स्वर्ग	पौदनापुर	प्रजापति	मृगावती	८०	२५०००
०	द्वारकापुर	ब्रह्मभूत	माधवी	७०	२५०००
लांतव स्वर्ग	हस्तिनागपुर	रौद्रनन्द	पृथिवी	६०	१२५००
सहस्रार स्वर्ग	हस्तिनागपुर	सौम	सीता	५०	७००
ब्रह्म स्वर्ग	चक्रपुर	प्रख्यात	अम्बिका	४५	३००
महेन्द्र स्वर्ग	कुशाग्रपुर	वरसेन	लक्ष्मी	२९	२५०
सौधर्म स्वर्ग	मिथिलापुर	शिवाकर	केशिनी	२२	२००
सनत्कुमार स्वर्ग	अयोध्या	दशरथ	सुमित्रा	१६	१००
महाशुक्र स्वर्ग	मथुरा	वसुदेव	देवकी	१०	१६

कौन-कौन से तीर्थकाल में हो गए? ६	आगे कौन-सी गति प्राप्त की है? ७	भविष्यत्काल में होने वाले ९ प्रतिनारायणों के नाम ८	अतीत काल के ९ प्रतिवसु देवों के नाम ९
नारायणों का जो तीर्थकाल है वही इन प्रतिनारायणों का समझना चाहिए	७ वाँ नरक गए	श्रीकंठ	निशुंभ
	६ वाँ नरक गए	हरिकंठ	विद्युत्प्रभ
	६ वाँ नरक गए	नीलकंठ	धनरसिक
	६ वाँ नरक गए	अश्वकंठ	मनोवेग
	६ वाँ नरक गए	सुकंठ	चित्रवेग
	६ वाँ नरक गए	शिखिकंठ	दृढ़रथ
	५ वाँ नरक गए	अश्वग्रीव	वज्रजंघ
	४ था नरक गए	हयग्रीव	विद्युदन्ड
	३ रा नरक गए	मयूरग्रीव	प्रल्हाद

क्रमांक	मांडलिक राजा वर्ष १२	विजय काल वर्ष १३	अर्ध चक्री राज्य वैभव काल प्रमाण वर्ष १४	पूर्ण आयु काल प्रमाण वर्ष १५	पट्टरानियों के नाम १६
१	२५०००	१०००	८३४९०००	८४ लाख वर्ष	सुभद्रा
२	२५०००	१००	७१४९९००	७२ लाख वर्ष	रूपिणी
३	१२५००	९०	५९७४९१०	६० लाख वर्ष	प्रभवा
४	१३००	८०	२९९७९२०	३० लाख वर्ष	मनोहरा
५	१२५०	७०	९९८३८०	१० लाख वर्ष	सुनेत्रा
६	२५०	६०	६४४४०	६५ हजार वर्ष	विमलसुन्दरी
७	५०	५०	३१७००	३२ हजार वर्ष	आनन्दवती
८	३००	४०	११५६०	१२ हजार वर्ष	प्रभावती
९	५६	८	९२०	१ हजार वर्ष	रुक्मिणी

कौन-कौन से तीर्थकाल में हो गए? १७	आगे कौन-सी गति प्राप्त की है? १८	भविष्यत्काल में होने वाले ९ नारायणों के नाम १९	अतीत काल के ९ नारायणों के नाम २०
बलदेवों का जो	७ वाँ नरक गए	नन्दी	काकुत्स्थ
तीर्थकाल है वही	६ वाँ नरक गए	नन्दीमित्र	वरभद्र
नारायणों का तीर्थकाल	६ वाँ नरक गए	नन्दीषेण	सुभद्र
समझना चाहिए	६ वाँ नरक गए	नन्दीभूति	संश्लिष्ट
	६ वाँ नरक गए	बल	वरवीर
	६ वाँ नरक गए	महाबल	शत्रुंजय
	५ वाँ नरक गए	अतिबल	दमितारि
	४ थी भूमि नरक गए	त्रिपृष्ट	प्रियदत्त
	३ री भूमि नरक गए	द्विपृष्ट	विमलवाहन

सूचना-९ नारायण

१. यह नारायण पद नरक में से आने वाले जीवों को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है ऐसा नियम है।

२. यह सब ही नारायण अधोगामी अर्थात् रत्नप्रभा आदि भूमियों में जाने वाले होते हैं।

३. इन पर सदाकाल १६ चमर ढुरते रहते हैं।

४. इनके सात प्रकार के आयुध अर्थात् महास्त्र होते हैं-

१. सुनन्दक नाम का खड्ग, २. पाँचजन्य नाम का शंख।

३. शार्ङ्ग नाम का धनुष, ४. सुदर्शन नाम का चक्र, ५. कौस्तुभ नाम की मणि

६. अमोघा नाम की शक्ति, ७. कौमुदी नाम की गदा होती है।

५. राजा शिशुपाल ने कृष्ण नाम के नारायण को रुक्मिणी का हरण करते समय एक सौ गालियाँ दी। तदनन्तर कृष्ण ने उनको मारा। इस प्रकार हरिवंश पुराण में वर्णन आया है।

६. 'त्रिपिष्ट' नाम का पहला नारायण (हरि) का जीव 'वर्धमान' तीर्थंकर होकर मुक्त हुआ है। इस प्रकार उत्तर पुराण पर्व ७४ में लिखा है।

७. 'लक्ष्मण' नाम का ८ वाँ नारायण (हरि) का जीव पुष्करार्द्ध द्वीप के विदेह क्षेत्र में जन्म लेने

वाला है। इस प्रकार पद्मपुराण पर्व १०६ में लिखा है।

८. कोटिशिला या कोटिकशिला आठ योजन लम्बी चौड़ी और एक योजन ऊँची होती है। इसको सिद्धशिला भी कहते हैं–

नाभिगिरिशिरोदेशे शिला योजनमुत्थिता।
अष्टयोजनविस्तीर्णा सिद्धस्थानं मुनीशिनाम्॥

९. इस कोटि शिला को हर एक नारायण (हरि) अपनी भुजाओं में उठाते हैं तो कौन नारायण ने कहाँ तक उठाई थी?

उत्तर–

१. त्रिपृष्ट महापुरुष ने वह शिला मस्तक के ऊपर जहाँ तक कि भुजा पहुँचती है वहाँ तक उठाई थी।

२. द्विपृष्ट महापुरुष ने वह शिला मस्तक तक उठाई थी।

३. स्वयंभू महापुरुष ने वह शिला कंठ तक उठाई थी।

४. पुरुषोत्तम महापुरुष ने वह शिला वक्षस्थल तक उठाई थी।

५. पुरुषसिंह महापुरुष ने वह शिला हृदय तक उठाई थी।

६. पुंडरीक महापुरुष ने वह शिला कमर तक उठाई थी।

७. दत्तक महापुरुष ने वह शिला जंघा तक उठाई थी।

८. लक्ष्मण महापुरुष ने वह शिला घोंटू तक उठाई थी।

९. कृष्ण महापुरुष ने वह शिला चार अंगुल ऊँचे तक उठाई थी।

इस प्रकार हरिवंश पुराण के त्रेपनवें सर्ग में लिखा है।

९ बलदेव-इनको बलभद्र, रामचन्द्र, राम ऐसा भी कहते हैं।

बलभद्रों के पूर्व के तीन भवांतर-

क्र. १	बलदेवों के नाम २	पिछले तीसरे भव के नगर ३	पिछले तीसरे भव का नाम ४	वहाँ के उनके गुरुओं के नाम ५	पिछले भव के स्वर्गादिकों के नाम ६
१	विजय	पुंडरीकिनी	बाल	अमृतार	अनुत्तरविमान
२	अचल	पृथिवी	मारूतदेव	महासुव्रत	अनुत्तरविमान
३	सुधर्म (भद्र-धर्मप्रभ)	आनन्दपुरी	नन्दीमित्र	सुव्रत	अनुत्तरविमान
४	सुप्रभ	नन्दपुरी	महाबल	वृषभ	सहस्रारस्वर्ग
५	सुदर्शन	वीतशोका	पुरुषर्षभ	प्रजापाल	सहस्रारस्वर्ग
६	नन्दीषेण (आनन्द)	विजयपुर	सुदर्शन	दम्वर	सहस्रारस्वर्ग
७	नन्दीमित्र (नन्दन)	सुसीमा	वसुधर	सुधर्म	ब्रह्मस्वर्ग
८	रामचन्द्र	क्षेमा	श्रीरामचन्द्र	आर्णव	ब्रह्मस्वर्ग
९	बलिराम (पद्म)	हस्तिनागपुर	शंख	विद्रुम	महाशुक्रस्वर्ग

९ नारद

क्र.	नारदों के नाम	विशेष-
१	भीम	१. नारायणों का जो तीर्थकाल है वही इनका समझना।
२	महाभीम	२. यह नारद पद नरक में से आने वाले जीवों को कभी भी प्राप्त नहीं हो
३	रौद्र (रुद्र)	सकता है।
४	महारौद्र	३. सब ही नारद अधोगामी अर्थात् अधोलोक जाने वाले होते हैं।
५	काल	४. सब ही कलहप्रिय होते हैं और धर्म विषय में भी रत रहते हैं। सब ही
६	महाकाल	भव्य होने से परंपरा से मुक्तिगामी होते हैं। वर्तमान में सभी हिंसा दोष
७	दुर्मुख	से अधोलोक जाते हैं।
८	नरमुख	५. इनके शरीर की ऊँचाई, आयु आदि के विषय में सामग्री उपलब्ध न
९	अधोमुख	होने से नहीं दे सका हूँ।

जन्मभूमि -

राजधानी ७	जनक (पिता) ८	जननी (माता) ९	दीक्षागुरुओं के नाम १०	शरीर की ऊँचाई (धनुष) ११
पौदनापुर	प्रजापति	भद्रांभोजा	सुवर्णकुंभ	८०
द्वारकापुरी	ब्रह्मभूत	सुभद्रा	सत्यकीर्ति	७०
हस्तिनागपुर	रौद्रनन्द	सुवेषा	सुधर्म	६०
हस्तिनागपुर	सौम	सुदर्शना	मृगांक	५०
चक्रपुर (खगपुर)	प्रख्यात	सुप्रभा	श्रुतिकीर्ति	४५
कुशाग्रपुर	वरसेन	विजया	सुमित्र	२९
मिथिलापुर	शिवाकर	वैजयन्ती	भवनश्रुत	२२
अयोध्या	दशरथ	अपराजिता(कौशल्या)	सुव्रत	१६
मथुरा (शौरीपुर)	वसुदेव	रोहिणी	सिद्धार्थ	१०

१. यह बलदेव पद नरक से आने वाले जीवों को नहीं प्राप्त होता है।

२. सब ही बलदेव ऊर्ध्वगामी अर्थात् स्वर्ग और मोक्ष जाने वाले होते हैं।

३. बलदेवों के पाँच रत्न[१] अर्थात् आयुध होते हैं-

१. रत्नमाला (हार)

२. लांगल अपराजित हल

३. मूसल

४. स्यन्दन (दिव्य गदा) कोई रथ ऐसा भी कहते हैं

५. शक्ति ये पाँच रत्न क्रीड़ामात्र से शत्रुओं का मान मर्दन करने वाले बलदेवों के होते हैं।

१. ४ रत्न (ति० प० गा० १४४७)

क्र.	आयु का प्रमाण वर्ष १२	कौन-कौन तीर्थंकरों के तीर्थकाल में हुए हैं १३	निर्वाण क्षेत्रों के नाम १४
१	८७ लाख वर्ष	श्रेयांसनाथ के तीर्थकाल में हुए हैं	गजपंथगिरि
२	७७ लाख वर्ष	वासुपूज्य के तीर्थकाल में हुए हैं	गजपंथगिरि
३	६७ लाख वर्ष	विमलनाथ के तीर्थकाल में हुए हैं	गजपंथगिरि
४	३७ लाख वर्ष	अनन्तनाथ के तीर्थकाल में हुए हैं	गजपंथगिरि
५	१७ लाख वर्ष	धर्मनाथ के तीर्थकाल में हुए हैं	गजपंथगिरि
६	६७ हजार वर्ष	अरनाथ और मल्लिनाथ के अंतरालकाल में हुए हैं	गजपंथगिरि
७	३७ हजार वर्ष	मल्लिनाथ और मुनिसुव्रत के अंतरालकाल में हुए हैं	गजपंथगिरि
८	१७ हजार वर्ष	मुनिसुव्रत और नमिनाथ के अंतरालकाल में हुए हैं	तुंगीगिरि
९	१२ सौ वर्ष	नेमिनाथ के तीर्थकाल में हुए हैं	पाँचवा ब्रह्म स्वर्ग

आगे कौन-सी गति प्राप्त की १५	भविष्यकाल में होने वाले ९ बलदेवों के नाम १६	अतीतकाल के ९ बलदेवों के नाम १७
सिद्ध भये	चन्द्र	श्रीकान्त
सिद्ध भये	महाचन्द्र	कान्तचित्त
सिद्ध भये	वरचन्द्र (चन्द्रघर)	वरबुद्धि
सिद्ध भये	वरचन्द्र (चन्द्रसिंह)	मनोरथ
सिद्ध भये	सिंहचन्द्र (वरचन्द्र)	दयामूर्ति
सिद्ध भये	हरिचन्द्र	विपुलकीर्ति
सिद्ध भये	श्रीचन्द्र	प्रभाकर
सिद्ध भये	पूर्णचन्द्र	संजयन्त
ब्रह्मस्वर्ग गए	शुभचन्द्र	जयन्त

१. यह रुद्र पद नरक में से आने वाले जीवों को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है, ऐसा नियम है।
२. सब ही रुद्र अधोगामी अर्थात् अधोलोक जाने वाले होते हैं।

क्र. १	रुद्रों के नाम २	शरीर की ऊँचाई (धनुष प्रमाण) ४	पूर्ण आयु में से कुमार कालादि	
			कुमार काल प्रमाण ५	संयम काल प्रमाण ६
१	भीम (महावली)	५००	२७६६६६६६ पूर्व वर्ष	२७६६६६६८ पूर्व वर्ष
२	बली (जितशत्रु)	४५०	२३६६६६६६ पूर्व वर्ष	२३६६६६६८ पूर्व वर्ष
३	शंभु (रुद्र)	१००	६६६६६ पूर्व वर्ष	६६६६८ पूर्व वर्ष
४	विश्वानल (वैश्वानर)	९०	३३३३३ पूर्व वर्ष	३३३३४ पूर्व वर्ष
५	सुप्रतिष्ठ	८०	२८ लाख वर्ष	२८ लाख वर्ष
६	अचल (बल)	७०	२० लाख वर्ष	२० लाख वर्ष
७	पुंडरीक	६०	१६६६६६६ वर्ष	१६६६६६८ वर्ष
८	अजितंधर	५०	१३३३३३३ वर्ष	१३३३३३४ वर्ष
९	जितनाभि (अजितनाभि)	२८	६६६६६६ वर्ष	६६६६६८ वर्ष
१०	पीठ	२४	३३३३३३ वर्ष	३३३३३४ वर्ष
११	महादेव (सात्यकीपुत्र-स्थाणु)	७ हाथ	७ वर्ष	३४ वर्ष

काल प्रमाण-

तपभंग काल प्रमाण २	पूर्ण आयु काल प्रमाण ४	कौन-कौन से तीर्थंकरों के तीर्थकाल में हो गए? ५	आगे कौन-सी गति प्राप्त की है ६
२७६६६६६६ पूर्व वर्ष	८३ लाख पूर्व वर्ष	ऋषभ नाथ के तीर्थकाल में हो गए	७ वाँ नरक गए
२३६६६६६६ पूर्व वर्ष	७१ लाख पूर्व वर्ष	अजितनाथ के तीर्थकाल में हो गए	७ वाँ नरक गए
६६६६६ पूर्व वर्ष	२ लाख पूर्व वर्ष	पुष्पदन्तनाथ के तीर्थकाल में हो गए	६ वाँ नरक गए
३३३३३ पूर्व वर्ष	१ लाख पूर्व वर्ष	शीतलनाथ के तीर्थकाल में हो गए	६ वाँ नरक गए
२८ लाख वर्ष	८४ लाख वर्ष	श्रेयांशनाथ के तीर्थकाल में हो गए	६ वाँ नरक गए
२० लाख वर्ष	६० लाख वर्ष	वासुपूज्य के तीर्थकाल में हो गए	६ वाँ नरक गए
१६६६६६६ वर्ष	५० लाख वर्ष	विमलनाथ के तीर्थकाल में हो गए	६ वाँ नरक गए
१३३३३३३ वर्ष	४० लाख वर्ष	अनन्तनाथ के तीर्थकाल में हो गए	५ वाँ नरक गए
६६६६६६ वर्ष	२० लाख वर्ष	धर्मनाथ के तीर्थकाल में हो गए	४ थे नरक गए
३३३३३३ वर्ष	१० लाख वर्ष	शान्तिनाथ के तीर्थकाल में हो गए	४ थे नरक गए
२८ वर्ष	६९ वर्ष	महावीर के तीर्थकाल में हो गए	३ री नरक भूमि में गए

कामदेव महापुरुष

पुण्यकर्म के उदय से अत्यन्त सुन्दर रूप धारण करने वाला जितेन्द्रिय सत्पुरुष कामदेव पदवी का धारक होता है। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है–

कालेसु जिणवराणं चउवीसाणं हवन्ति चउवीसा।
ते बाहुबलिपमुहा कंदप्पा णिरुवमायरा॥

अर्थात्–चौबीस तीर्थंकरों के काल में २४ कामदेव होते हैं। इनका सौन्दर्य अनुपम होता है। परन्तु इस हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से कामदेव पदवी प्राप्त महापुरुषों में भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरहनाथ तीर्थंकरों का कथन आगम में आया है।

कामदेवों का वर्णन पढ़ते समय किसी के मन में यह शंका उत्पन्न हो सकती है, कि जिनेन्द्र भगवान ने काम को जीता था, इसीलिए सहस्र नाम पाठ में उन्हें जितकामारिः कहा है– ''**अजितो जितकामारिरमितोऽमित शासनः जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तकः**'' ७-२

वैदिक पुराणों में कथा आयी है कि शिवजी ने अपने तीसरे नेत्र से काम को जलाया था इसलिए इस विषय का समाधान आवश्यक है कि कामदेव का यथार्थ स्वरूप क्या है।

समाधान–काम शब्द द्वारा लोक में जीव के विकारी भावों को ग्रहण किया जाता है। यह विकार मन में उत्पन्न होने से काम को मनसिज, मनोज, मनोभू आदि नामों से जन पुकारते हैं। इस काम भाव के कारण पुरुष स्त्री शरीर के प्रति उसी प्रकार आकर्षित होकर विनाश को प्राप्त करता है, जिस प्रकार प्रकाश प्रेमी पतंगा दीपक की ज्योति में आसक्त होकर जल जाता है। जिनेन्द्र भगवान् ने अपने आत्मबल और समाधि की प्रचंड अग्नि में उसी काम विकार को सदा के लिए स्वाहा कर दिया। जिसके इशारे पर देव, दानव, मानव, पशुपक्षी आदि जीव नाचा करते हैं। वैदिक पुराणों तथा अन्य धर्म के ग्रन्थों में इस बात की कथाएँ हैं कि काम ने अपने हथियार कामिनी के द्वारा उनके धर्म में माने गए भगवान् ब्रह्मा आदि की तपस्या को छेद कर किस प्रकार की दुर्गति की है। इस काम को मन्मथ भी कहते हैं। दधि मन्थन करने वाले काष्ठ यंत्र के संचालन द्वारा जैसे दधि का मन्थन होता है उसी प्रकार काम-पिशाच द्वारा भी पीड़ित पुरुष की मानसिक स्थिति होती है। अतएव इस काम वासना का क्षय करने के कारण जिनेन्द्र भगवान को जितकामारि कहा है। अनंत प्राणियों को अपने वश में करने वाले काम का नाश करने से जिनेन्द्र भगवान में अनंत शक्ति का सद्भाव भी शास्त्रकारों ने सूचित किया है।

महादेव ने अपने तृतीय नेत्र द्वारा कामदेव को नष्टकर दिया है यह पौराणिक कथन वैज्ञानिक सत्य शून्य है। यदि शंभु ने काम को जीत लिया या जला दिया तो फिर अपने आधे अंग में प्रिय पत्नी पार्वती को स्थान देने का और अर्ध नारीश्वर नाम प्राप्त करने का क्या प्रयोजन है। शंभु के शरीर में

काम के विनाश से उत्पन्न भस्म का लगाना विनोदप्रद है जब कि विष्णु अपनी प्रिय वनिता से क्षण भर भी वियोग सहने की क्षमता शून्य है।

महाकवि धनंजय ने विषापहार स्तोत्र में ऋषभ जिनेन्द्र को काम का विनाशक स्वीकार किया है कवि के शब्द हैं–

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन्नुध्दूलितात्मा यदि नाम शंभुः।
अशेत वृंतोपहतोऽपि विष्णुः किं गृह्यते येन भवानजागः॥ १०॥

इसका हिन्दी पद्य में इस प्रकार भाव समझाया गया है–

कामदेव को किया भस्म जगत्राता थे ही।
लीनी भस्म लपेटि नाम शंभु निजदेही॥
सोतो होय अचेत विष्णु वनिताकरि हार्‌यो।
तुमकौं काम न ग्रहै आप घट सदा उजारयो ॥१०॥

वैदिक संत भर्तृहरि ने अपने वैराग्य शतक में भोगियों में मुख्य रूप से अपनी प्रियतमा को शरीर में निरंतर धारण करने वाले शंभु का उदाहरण दिया है और स्त्री संसर्ग का सदा के लिए त्याग करने वाले जिनेन्द्र वीतराग का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

जैन आगम ग्रन्थों में एक सौ उनहत्तर विशिष्ट महापुरुषों में २४ व्यक्तियों को कामदेव पदवी का धारक बताया है। जिनकी अलौकिक मूर्ति उनके काम विजेतापने तथा वीतराग के उज्जवल भावों को प्रभावक रूप में व्यक्त करती हुई श्रवणबेलगोला में विंध्यगिरि पर्वत पर शोभायमान होती है उन बाहुबलि भगवान का चौबीस काम देवों में आद्य स्थान हैं। हनुमान जी की भी कामदेवों में गणना की गई है। महाराज श्री कृष्ण नारायण के पुत्र प्रद्युम्न की भी कामदेवों में गणना की जाती है। ये कामदेव पदवी के धारक, जिनदेव तथा जिन शासन के परम भक्त होते हैं। इनका अनुपम सौंदर्य रमणी वर्ग के मन को मुग्ध करता है। सौन्दर्य के सिन्धु होते हुए भी इनकी मनोवृत्ति गृहस्थ जीवन में परनारी के प्रति मातृत्व की आदर्श भावना से अलंकृत रहती है।

अनगार धर्मांमृत में लिखा है कि अनेक रूपवती सुन्दरियाँ जिनके सौंदर्य से आकर्षित होकर उनकी आकांक्षा करें किन्तु जो जितेन्द्रिय सत्पुरुष अपने को निर्विकार रखे ऐसा जितेन्द्रिय महामना मानव कामदेव के नाम से जैन महापुरुषों की सूची में शोभायमान होता है।

प्रथम कामदेव बाहुबली स्वामी ने मुनि दीक्षा धारण करके एक वर्ष का उपवास किया था। कहा जाता है कि वे अंगूठे के बल पर खड़े रहे क्योंकि उनके मन में इस बात का खेद था कि वे भरत की भूमि पर खड़े हुए हैं। बाहुबलि जैसे विचारवान व्यक्ति के मन में इस प्रकार की शल्य विचित्र सी दिखती है।

समाधान—इस विषय में महापुराणकार जिनसेन स्वामी ने इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है "बाहुबली ने एक वर्ष का उपवास धारण किया था। जिस दिन वह एक वर्ष का उपवास पूरा हुआ उसी दिन भरत ने आकर उनकी पूजा की। उसी समय उन्हें अविनाशी केवलज्ञान रूपी परम ज्योति प्राप्त हुई। युद्ध के समय मेरे द्वारा भरतेश्वर को क्लेश पहुँचा है। इस प्रकार का प्रेम बाहुबलि के हृदय में बैठा हुआ था इसलिए उस केवलज्ञान ने भरत द्वारा पूजा की अपेक्षा की थी"

भावार्थ—भरत को मुझसे कष्ट पहुँचा है यह प्रेम का भाव बाहुबलि स्वामी के हृदय में था। वह भरत के पूजा करते ही निकल गया और उस प्रेम रूप भाव के निकलते ही उन्हें केवलज्ञान प्रकट हो गया। महापुराणकार के शब्द ये हैं-

संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल।
हृद्यस्य हार्द तेनासीत्तत्पूजाऽपेक्षि केवलं ॥३६ पर्व-१८६॥

भरतेश्वर ने केवलज्ञान उत्पन्न होने के पहले जो बाहुबलि की पूजा की थी वह अपने अपराध नाश करने के लिए की थी और केवलज्ञान उत्पन्न होने के पीछे जो पूजा की थी वह केवलज्ञान उत्पन्न होने का आनन्द मनाने के लिए की थी।

चक्रवर्ती ने जो बाहुबलि केवली की पूजा रत्नमयी की थी उसका महाकवि ने इस प्रकार वर्णन किया है "भरतेश्वर ने रत्नों का अर्घ चढ़ाया था। गंगा के जल की जलधारा दी थी। रत्नों की ज्योति के दीपक चढ़ाये थे। मोतियों से अक्षत की पूजा की थी, अमृत के पिंड का नैवेद्य चढ़ाया था। मलयागिरि चंदन की धूप चढ़ाई थी, पारिजात आदि देव वृक्षों के फूलों से पुष्प पूजा की थी।"

सरत्ना निधयः सर्वे फलस्थाने नियोजिताः।
पूजां रत्नमयीमित्थं रत्नेशो निरवर्तयत् ॥१९५॥

फलों की जगह चक्रवर्ती भरत ने सब रत्न और निधियाँ चढ़ा दी थीं। इस प्रकार उन रत्नों के स्वामी भरतेश्वर ने रत्नमयी पूजा की थी।

जिनसेन स्वामी ने जो समाधान किया है वह आगम का कथन होने से मान्य है ही, साथ में पूर्णतया मनोवैज्ञानिक भी है। इस पूजा द्वारा भरतेश्वर की उज्जवल उदात्त तथा उत्कृष्ट गुरुभक्ति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

चौबीस कामदेवों में हनुमान जी का भी नाम आता है। कामदेव अपने शरीर सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध रहते हैं। इस पर यह शंका उत्पन्न होती है कि जगत में हनुमान का आकार बन्दर का माना गया है। उसके श्रेष्ठ सौन्दर्य की कल्पना विचित्र सी लगती है। यथार्थ रहस्य क्या है?

समाधान—हिन्दू पुराणों में रामभक्त हनुमान को वानर स्वीकार किया है। जैन ग्रन्थों में ऐसा

कथन नहीं है। हिन्दु ग्रन्थ हनुमान को पवन अर्थात् वायु का पुत्र कहते हैं। जैन शास्त्रों में ऐसी तर्क तथा युक्ति विरोधी मान्यता को तनिक भी स्थान नहीं है। महाराज पवनञ्जय विद्याधरों के राजा थे। उनको पुरुष पर्याय वाला माना है। उनके पुण्यवान, प्रतापी तथा चरम शरीरी पुत्र का नाम हनुमान था। उनकी ध्वजा में वानर का चिह्न था इससे उनको 'कपिध्वज' माना है। इस वानर चिह्न के कारण विद्याधरों के लिए वानर शब्द का व्यवहार चल पड़ा। यही कथन पद्मपुराण पर्व १६ में आया है–

अयं तु व्यक्ल एवास्ति शब्दोऽन्यत्र प्रयोगवान्।
यष्टिहस्तो यथा यष्टिः कुतः कुंतकरस्तथा ॥२१३॥
तथा वानरचिह्नेन छत्रादिविनिवेशिना।
विद्याधरागता ख्यातिं वानरा इति विष्टपे ॥२१५॥

यह बात स्पष्ट है कि एक शब्द का दूसरे स्थान पर भी प्रयोग होता है। यष्टि अर्थात् लाठी को हाथ में रखने वाले पुरुष को यष्टि कहते हैं इसी प्रकार कुंत अर्थात् भाले को हाथ में रखने वाले को कुंत कहते हैं। इसी प्रकार छत्रादि में विद्यमान वानर चिह्न के कारण विद्याधर लोगों की जगत् में वानर रूप से प्रसिद्धि हुई।

ग्रन्थ का यह पद्य भी महत्वपूर्ण है–

एवं वानरकेतूनां वंशे संख्यातविवर्जिताः।
आत्मीयैः कर्मभिः प्राप्ताः स्वर्ग मोक्षं च मानवाः ॥२०७॥

इस वानर ध्वजा वालों के वंश में उत्पन्न होने वाले असंख्य मानवों ने अपने उद्योग के द्वारा स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त किया है।

इससे हनुमान के विषय में शंका को रंचमात्र भी स्थान नहीं रहता है। महान् पुण्यात्मा, बलशाली, ज्ञानवान हनुमान विद्याओं के स्वामी पुरुष रत्न थे। उसकी ध्वजा में वानर का चिह्न था। आज भी भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के ध्वज चिह्न अनेक प्रकार के रहते हैं। उन चिह्नों के कारण उन राष्ट्रों को चिह्नात्मक स्वीकार करने पर बड़ा अनर्थ हो जायेगा। भारत का झंडा तिरंगा है। इससे भारतवासी को कोई तीन रंग वाला मानने लगे, तो जैसे उसे अज्ञानी कहेंगे उसी प्रकार कपि का ध्वज होने के कारण हनुमान के कपि मान कर वैसा श्रद्धान करना होगा।

हिन्दु पुराणों की दृष्टि और सर्वज्ञ ज्ञान से प्रकाशित जैन दृष्टि में बहुत अन्तर है। उदाहरणार्थ द्रौपदी का पंचभर्तारी मानना। जहाँ सती सीता को एक रामचन्द्र को ही पतिदेव स्वीकार करने के कारण स्तुति की गई है, वहाँ द्रौपदी को पंचव्यक्तियों की पत्नी कहना महान् अपवाद पूर्ण वाणी है। शील तथा सदाचार के विपरीत है।

हरिवंशपुराण में कहा है कि पूर्व जन्म के स्नेह से द्रुपद राजा की पुत्री द्रौपदी ने अर्जुन को ही

पति स्वीकार किया था। द्रौपदी के पंच भर्तारी रूप से अपवाद का कारण पूर्व जन्म का निदान बंध रहा है। द्रौपदी ने अपने पूर्वभव में बहुत व्रत पालन किए थे। उसकी दृष्टि वसंतसेना वेश्या पर पड़ी जो अनेक कामी व्यक्तियों से घिरी हुई थी। उसे देखकर द्रौपदी के जीव ने वसंतसेना के समान सौभाग्य की मनोकामना की थी उसके फलस्वरूप द्रौपदी को सती होते हुए भी पंच भर्तारी रूप का अपवाद प्राप्त हुआ। हरिवंशपुराण के ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं–

वसंतसेनां गणिकां कामुकैः परिवेष्टितां।
दृष्ट्वा वन-विहारेऽसावेकदा क्रीडनोद्यतां ॥१३४॥
निदानमकरोत् क्लिष्टा दुर्यशःप्राप्तिकारणम्।
सौभाग्यमीदृशं मेऽन्य जन्मन्यस्त्विति सादरा ॥१३५॥

अतएव द्रौपदी को सीता की तरह सती मानना चाहिए। सीता जिस प्रकार रामचन्द्र की रानी थी, इसी प्रकार द्रौपदी अर्जुन की रानी थी। सती स्त्री का अपवाद महान पाप का कारण है, अतएव सती द्रौपदी को पंचभर्तारी मानने की कल्पना भी पाप का कारण होगी।

हिन्दु परम्परा में भी द्रौपदी की अहिल्या, सीता, तारा, मंदोदरी के साथ पंच महापतिव्रताओं में गणना की जाती है–

अहिल्या द्रौपदी सीता तारा मंदोदरी तथा।
पंचसाध्वीं स्मरेन्नित्यं महापातकनाशिनीम्॥

२४ कामदेव महापुरुष

क्रमांक १	कामदेवों के नाम २	कौन से तीर्थकाल में हुए? ३	कौन-सी गति प्राप्त की? ४	निर्वाण क्षेत्र ५
१	बाहुबली	ऋषभनाथ	सिद्ध भए	पोदनपुर
२	प्रजापति	अजितनाथ	सिद्ध भए	पोदनपुर
३	श्रीधर	संभवनाथ	सिद्ध भए	पोदनपुर
४	दर्शनभद्र	अभिनन्दननाथ	सिद्ध भए	पोदनपुर
५	प्रसेनचन्द्र	सुमतिनाथ	सिद्ध भए	पोदनपुर
६	चन्द्रवर्ण	पद्मप्रभ	सिद्ध भए	पोदनपुर
७	अग्निमुख	सुपार्श्वनाथ	सिद्ध भए	पोदनपुर
८	सनत्कुमार	चन्द्रप्रभ	सिद्ध भए	सिद्धवरकूट
९	वत्सराज	पुष्पदन्त	सिद्ध भए	सिद्धवरकूट
१०	कनकप्रभ	शीतलनाथ	सिद्ध भए	सिद्धवरकूट
११	मेघप्रभ	श्रेयांशनाथ	सिद्ध भए	सिद्धवरकूट
१२	शान्तिनाथ	शान्तिनाथ	सिद्ध भए	सम्मेदशिखर
१३	कुन्थुनाथ	कुन्थुनाथ	सिद्ध भए	सम्मेदशिखर
१४	अरनाथ	अरनाथ	सिद्ध भए	सम्मेदशिखर
१५	विजयराज	अरनाथ	सिद्ध भए	सिद्धवरकूट
१६	श्रीचन्द्र	मल्लिनाथ	सिद्ध भए	सिद्धवरकूट
१७	नलराज	मल्लिनाथ	सिद्ध भए	सिद्धवरकूट
१८	हनुमन्त	मुनिसुव्रतनाथ	सिद्ध भए	तुंगीगिरि
१९	बलिराज	नमिनाथ	सिद्ध भए	सिद्धवरकूट
२०	वसुदेव	नेमिनाथ	सिद्ध भए	सिद्धवरकूट
२१	प्रद्युम्न	नेमिनाथ	सिद्ध भए	ऊर्जयन्तगिरि
२२	नागकुमार	पार्श्वनाथ	सिद्ध भए	कैलासपर्वत
२३	जीवन्धर	महावीर	सिद्ध भए	सिद्धवरकूट
२४	जम्बूस्वामी	महावीर	सिद्ध भए	जम्बूवन

विदेहक्षेत्र

श्री अकलंकस्वामी ने राजवार्तिक अध्याय ३ पृ० १२२ में लिखा है–''**तत्राहि मुनयो देहोच्छेदार्थं यतमानाः विदेहत्वमाकंदंति**'' वहाँ मुनिगण देहत्यागार्थ उद्योग करते हुए देहरहितपना अर्थात् सिद्ध पद प्राप्त करते हैं।

शंका—ननुच भरतैरावतयोरपि विदेहाः? ऐसी स्थिति में भरत और ऐरावत भी विदेह कहे जावेंगे, क्योंकि वहाँ से सिद्ध पद प्राप्त होता है। **समाधान—**''सत्यं संति कदाचिन्नतु सर्वकालं, तत्र तु सततं धर्मोच्छेदाभावाद्विदेहाः संति, प्रकर्षापेक्षो विदेहव्यपदेशः॥'' ठीक है भरत-ऐरावत से सर्वकाल मोक्ष नहीं होता है। किन्तु दुखमा-सुखमाकाल में ही विदेहता होती है। विदेहक्षेत्र में कभी भी धर्म का उच्छेद नहीं होता है अतः अधिकता की अपेक्षा उस क्षेत्र को विदेह कहा गया है।

विदेह क्षेत्र के तीर्थंकर केवलियों के कल्याणक—पूर्व पश्चिम दोनों विदेह क्षेत्रों में अर्थात् पंच मेरू सम्बन्धी १६० विदेह क्षेत्रों में होने वाले तीर्थंकरों के लिए ऐसा नियम नहीं है कि जैसा भरत और ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकर पंचकल्याणक वाले होते हैं वहाँ तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाला व्यक्ति यदि चरमशरीरी हो अर्थात् उसी भव से मोक्ष प्राप्त करने वाला हो और गृहस्थ अवस्था में रहते हुए उसने तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया हो तो उसके तीन कल्याणक (तप, ज्ञान और मोक्ष) होते हैं। और जिसने मुनि होकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया हो तो उसके दो कल्याणक ज्ञान और मोक्ष होते हैं। यदि वह चरमशरीरी नहीं होगा अर्थात् जिसने पहले भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया है तो वह गर्भ जन्मादि पंचकल्याणकों का स्वामी होगा। यहाँ दोनों प्रकार के महापुरुष होते हैं। किन्हीं के पाँचों कल्याणक होते हैं और किन्हीं के कम भी होते हैं।

त्रिलोकसार में लिखा है कि विदेहक्षेत्र में सदा केवली भगवान्, शलाका पुरुष, ऋद्धिधारी मुनीश्वरों की विपुल संख्या पाई जाती है, इससे वहाँ दुर्भिक्ष, ईति, भीति, कुदेव तथा मिथ्यालिंगी और उनके पूजक मिथ्यामतियों का अभाव रहता है। उक्तं च-

देसा दुब्भिक्खीदी-मारि-कुदेव-वण्णलिंगिमदहीणा।
भरिदा सदावि केवलि-सलाग-पुरिसिड्ढि-साहूहिं ॥६८०॥

गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ५४६ की जीवप्रबोधिनी संस्कृत टीका में लिखा है ''**तीर्थबंध-प्रारंभश्चरमांगासंयतदेशसंयतयोस्तदा कल्याणानि निष्क्रमणादीनि त्रीणि, प्रमत्ताप्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे द्वे प्राग्भवे तदा गर्भावतारादीनि पंचेत्यवसेयं**'' (पृ० ७०८) अर्थात् चरमशरीरी असंयत द्वारा जब तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारम्भ होता है तब उनके तप, ज्ञान तथा निर्वाण ये तीन कल्याणक होते हैं। प्रमत्त गुणस्थान वाले चरम शरीरी व्यक्तियों द्वारा जब तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारम्भ किया जाता है। तब उनके ज्ञान कल्याणक तथा मोक्ष कल्याणक ये दो होते हैं। जब पूर्व भव

में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया जाता है तो पाँचों कल्याणक होते हैं।

भरत तथा ऐरावत में पंचकल्याणक वाले ही तीर्थंकर होते हैं। विदेह में पाँच तथा तीन और दो कल्याणक वाले भी तीर्थंकर होते हैं। उपरोक्त शास्त्राधार से यह बात निराबाध सिद्ध होती है। जिन तीर्थंकरों के तीन या दो कल्याणक होते हैं। उनके दस जन्मातिशय होंगे या नहीं यह विचारणीय बात है। तर्क की दृष्टि से उनके अर्हत अवस्था में ३६ गुण मानना होगा। यदि इसके विरोध में आगम की वाणी मिले तो तदनुसार ही श्रद्धा करना उचित है। सामान्य केवली के भी ३६ गुण मानना ठीक जंचता है। हमें स्पष्ट रूप से आगम का आधार नहीं मिला।

विदेहक्षेत्र में मोक्ष के योग्य संहननादि समुचित सामग्री की सदा उपलब्धि होने से वहाँ मोक्ष का मार्ग सतत चलता रहता है। अतएव मुमुक्षु मानव में ऐसी इच्छा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि इस दुषमा काल की क्रीड़ा भूमि पाप प्रचुर पंचम काल युक्त भरत क्षेत्र से निकलकर तीर्थंकर केवली आदि के विहार से पुनीत विदेह में जाकर यह जीव आत्मा का कल्याण करे। इसका क्या उपाय है? यदि सम्यक्त्व की उपलब्धि हेतु है, तो बात बड़ी कठिन है, कारण सम्यक्त्व की चर्चा चाहें जितनी की जाये और जो चाहे करे, उस सम्यक्त्व रत्न के स्वामी इस क्षेत्र में दो चार अर्थात् अंगुलियों पर गिनने लायक कहे गए हैं।

समाधान—उक्त शंका का निराकरण इस गाथा द्वारा होता है, जो बताती है कि इस काल में भरत क्षेत्र से १२३ भद्र परिणाम वाले यहाँ से पूर्व विदेह में जावेंगे और नौवें वर्ष में केवलज्ञान को प्राप्त करके केवली भगवान् होंगे। सिद्धान्तसार की वह गाथा इस प्रकार है–

जीवा सय-तेईसा पंचमकाले य भद्दपरिणामा।
उप्पाइ पुव्वविदेहे नवमइवरसे दु केवली होदि॥

यहाँ से विदेह जाने वाले जीव के सम्यक्त्व का अभाव आवश्यक है। यदि सम्यक्त्वी जीव है तो वह मरणकर देव पर्याय को प्राप्त करेगा, कारण यहाँ नरकायुकी बंधव्युच्छित्ति प्रथम गुणस्थान में होती है। सासादन गुणस्थान में तिर्यंचायु के साथ मनुष्यायु की बंधव्युच्छित्ति हो जाने से अविरत सम्यक्त्वी जीव देवायु का ही यहाँ से बंध करेगा। गोम्मटरसार कर्मकांड की गाथा, ११० तथा १०८ में बताया गया है कि मनुष्यों तथा तिर्यचों के वज्रवृषभनाराच संहनन औदारिक शरीर औदारिक आंगोपांग मनुष्यायु, मनुष्यगति तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी इन छह प्रकृतियों की बंधव्युच्छिति चौथे गुणस्थान के बदले दूसरे गुणस्थान में होती है। कहा भी है–

उवरिम छण्हं च छिदी सासणसम्मे हवे णियमा ॥१०८॥

ऐसी स्थिति में सम्यक्त्वी मनुष्य आगामी देवायु का बंध करेगा। विदेह में जाने वाला मनुष्य सम्यक्त्व सहित मरण नहीं करेगा। ऐसी कर्म सिद्धान्त की व्यवस्था होने से धार्मिक व्यक्तियों के मन

में भक्ति, व्रत संयम की ओर विशेष अनुराग उत्पन्न होना चाहिए, कारण यह किसे मालूम है कि भरत से विदेह जाने वाले भद्र परिणामी १२३ जीवों में किसको स्थान प्राप्त होता है। तत्व की बात यह है कि काल की कलुषता का आश्रय ले अकर्मण्यता को नहीं अपनाना चाहिए तथा विषयों का दास न बनकर आत्मकल्याण के लिए बुद्धि तथा विवेक पूर्वक उद्योग करते रहना चाहिए। पुरुषार्थी नररत्न ही जयश्री को वरण करते हैं। प्रमादी का भविष्य सदा अंधकार में रहता है।

इस गाथा के भाव को स्मरण रखते हुए विचारवान मानव को आत्म हितार्थ उद्योग करना चाहिए। इसी से क्षपकराज आचार्य शांतिसागर महाराज ने अपनी मंगल वाणी में कहा था वत्स! डरो मत-बाबलो भीऊ न का।

वर्तमान के विदेह क्षेत्रस्थ विंशति तीर्थंकरों के नाम चिह्नादि

क्र.	तीर्थंकरों के नाम	चिह्न	पिता का नाम	माता का नाम	नगरी का नाम
१	सीमन्धर	वृषभ	श्रेयांस	सत्यदेवी	पुँडरीकिणी
२	युगमन्धर	हाथी	सुदृढ़रथ	सुतारा	सुसीमा
३	बाहु	मृग	सुग्रीव	विजया	अयोध्या
४	सुबाहु	कपिल	निशाटिल	सुनन्दा	अलकापुरी
५	सुजात (संजातक)	सूरज	देवसेन	सेना	विजया
६	स्वयंप्रभ	चन्द्रमा	मित्रभूत	सुमंगला	सुसीमा
७	ऋषभानन	हरि	कीरत	वीरसेना	अयोध्या
८	अनन्तवीर्य	गज	मेघ	सुमंगला	विजया
९	सुरप्रभ (सूर्यप्रभ)	सूर्य	नागराज/नागरथ	भद्रा	पुँडरीकिणी
१०	विशालकीर्ति	चन्द्रमा	विजसुराय	विजया	सुसीमा
११	बज्रधर	शंख	पद्मरथ	सरस्वती	पुँडरीकिणी
१२	चन्द्रानन	वृषभ	वाल्मीकि	पद्मावती	विनीता
१३	भद्रबाहु (चन्द्रबाहु)	पद्म	देवनन्दी	सुरेणुका	विजया
१४	भुजंगम	चन्द्रमा	महाबल	महिमा	सुसीमा
१५	ईश्वर	सूर्य	गलसेन	ज्वाला	अयोध्या
१६	नेमप्रभ (नमि)	वृषभ	वीरसेन	सेना	पुँडरीकिणी
१७	वीरसेन	ऐरावत	भोपालभुवपाल	सुभानुमती	विजया
१८	महाभद्र	चन्द्रमा	देवराज	उमादेवी	सुसीमा
१९	देवयश (यशकीर्ति)	साथिया	श्रवभूत	गंगादेवी	अयोध्या
२०	अजितवीर्य	पद्म	सुबोध	कनकादेवी	अयोध्या

अन्तिम मंगल-स्मरण

येऽतीतापेक्षयाऽनंताः संख्येया वर्तमानतः।
अनंतानंतमानास्तु भाविकालव्यपेक्षया॥
तेऽर्हन्तः संतु नः सिद्धाः सूर्युपाध्यायसाधवः।
मंगलं गुरवः पंच सर्वे सर्वत्र सर्वदा॥

जो अतीतकाल की अपेक्षा से अनन्त संख्या वाले है, वर्तमान काल की अपेक्षा से जो संख्यात है तथा भविष्यकाल की अपेक्षा से जो अनन्तानन्त संख्या युक्त हैं, वे समस्त अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु रूप पंचगुरु समुदाय सदा काल सर्वत्र हमारे लिए मंगल स्वरूप होवे।

''जयतु सदा जिनधर्मः सूरिः श्री शान्तिसागरो जयतु''

यह जैन धर्म सदा जयवंत हो तथा भाद्रपद शुक्ल २ श्रीवीरनिर्वाण संवत् २४८१ विक्रम संवत् २०१२ को ८४ वर्ष की आयु में दिवंगत आचार्यवर्य श्रीशान्तिसागर महाराज सदा जयवंत रहें।

परिशिष्ट

तीर्थंकर की माता के १६ स्वप्न दर्शन और उनका फल -

(४३ पृष्ठ देखिए)
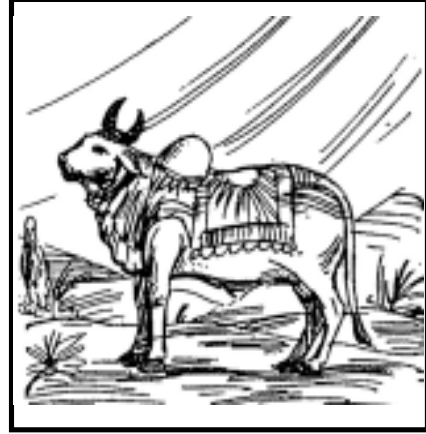
१. गर्जना करने वाला सफेद हाथी को देखा।

१. पुण्याधिकारी सर्वश्रेष्ठ तीन लोक का अधिपति (तीर्थंकर) पुत्र होगा।

२. सफेद बैल को देखा।

२. धर्मधारी जगत्पूज्य होगा।

३. सिंह को देखा।

३. अनन्त बल का धारी होगा।

४. लक्ष्मी का कलशाभिषेक देखा।

४. धर्म की वृद्धि करेगा।
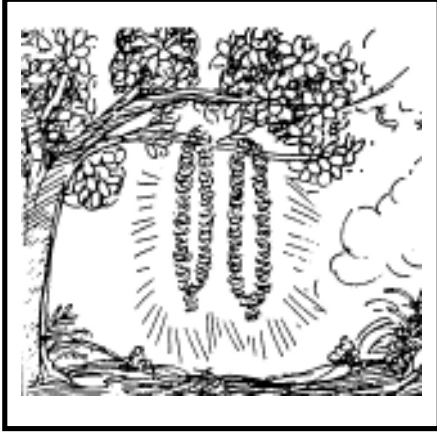
५. लटकती हुई फूलों की दो मालाएँ देखी।
५. सुमेरु पर्वत पर अभिषेक होगा।

६. पूर्ण चन्द्रमा को देखा।
६. तीन लोक में आनन्दकारी होगा।

७. उदय होते हुए सूर्य को देखा।
७. महा प्रतापी होगा।
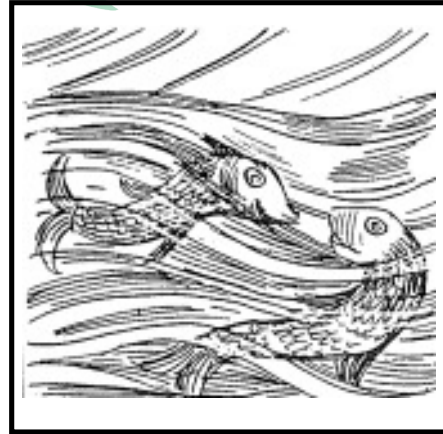
८. सरोवर में क्रीड़ा करने वाले दो मीन देखे।
८. अनेक निधि का स्वामी होगा।
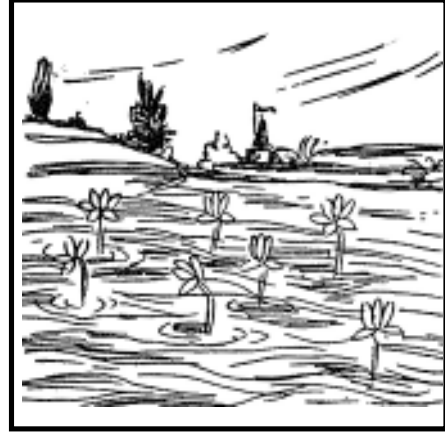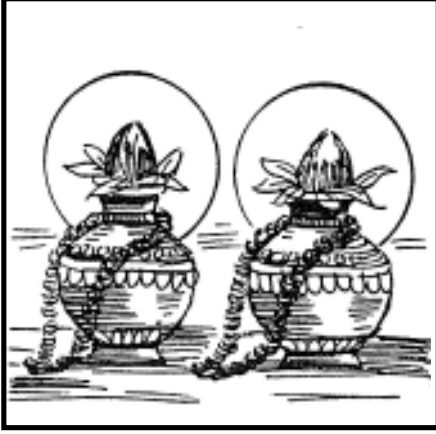
९. स्वर्णमय दो पूर्ण कलश देखे।
९. अनेक सुखों का भोक्ता होगा।

१०. पद्म सरोवर देखा।
१०. एक हजार आठ लक्षणों का धारी होगा।
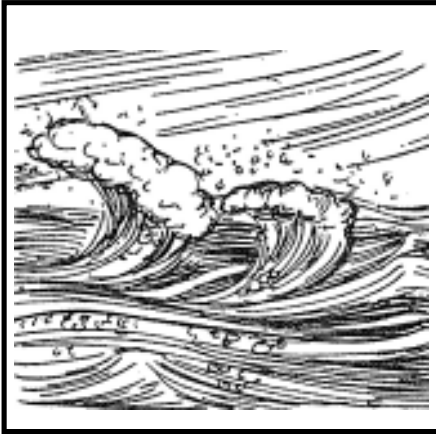
११. उन्मत्त लहर युक्त समुद्र देखा।
११. केवलज्ञान का धारी होगा।
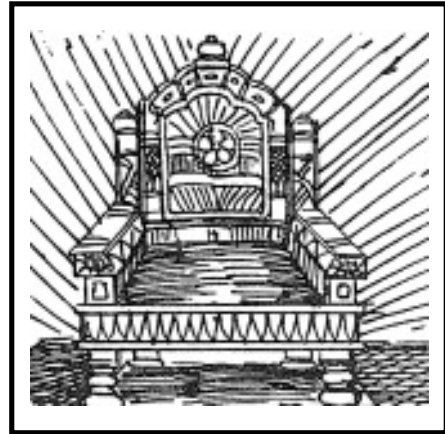
१२. रत्नजड़ित सिंहासन देखा।
१२. बड़े राज्य का भोक्ता होगा।

१३. स्वर्ग का देव विमान देखा।
१३. स्वर्ग से अवतार होगा।

१४. धरणेन्द्र (नागेन्द्र) भवन देखा।
१४. जन्म से ही अवधिज्ञानी होगा।
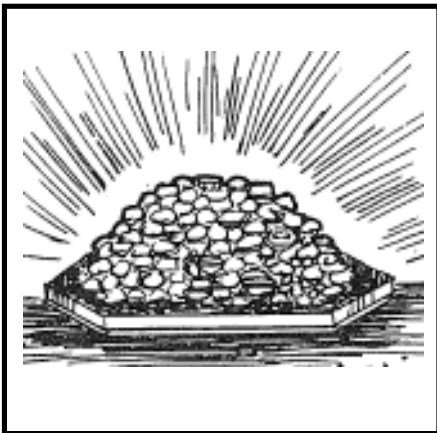
१५. प्रकाशमान रत्नराशी देखी।
१५. गुणों का निधान होगा।

१६. धूम रहित प्रखर अग्नि ज्वाला देखी।
१६. अष्ट कर्म का नाश करेगा।

ऐरावत हाथी

देखें-पृ० ४६

जब तीर्थंकर का जन्म होता है उस समय इन्द्र की आज्ञानुसार कुबेर की प्रेरणा से एक लाख योजन विस्तार का 'ऐरावत' नाम के हाथी की रचना होती है। उसकी ऊँचाई पच्चीस हजार योजन की होती है। उसकी शोभा अपूर्व रहती है। उस हाथी पर इन्द्र बैठकर अपने परिवार के साथ तीर्थंकर भगवान के महल के आँगन में आता है। उस हाथी की ३२ सूँड़ रहती हैं-

निर्वाण (मोक्ष) कल्याणक के बाद
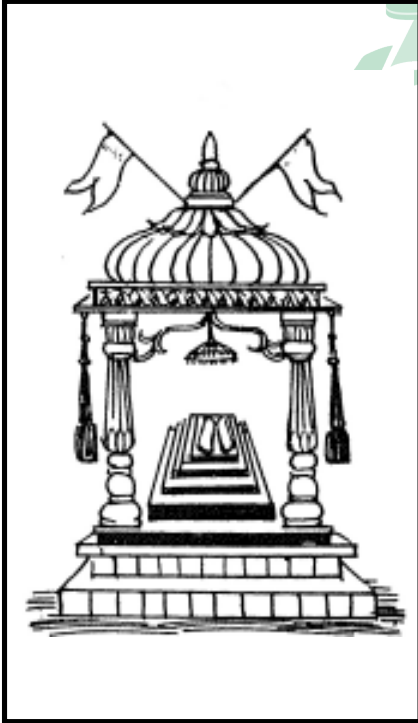
चरण पादुका

सुदर्शनमेरु या सुमेरु पर्वत
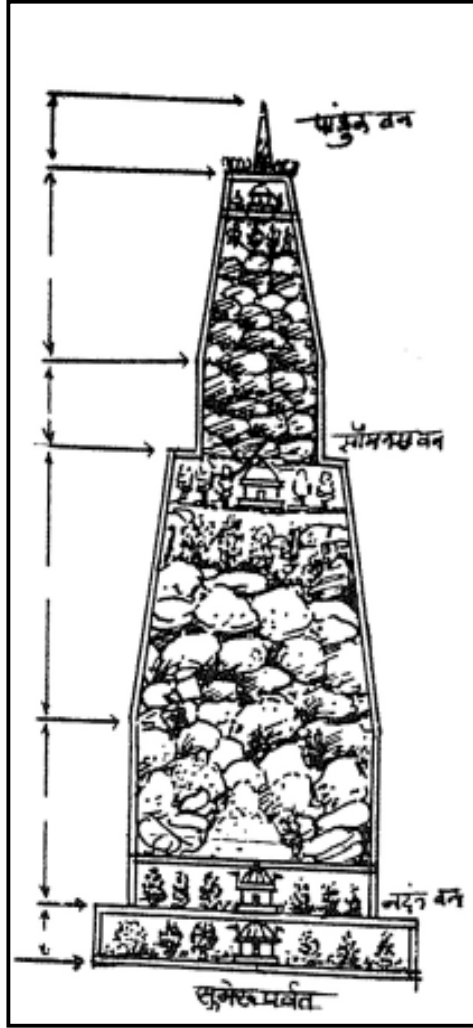
मध्यलोक में असंख्यातद्वीप समुद्रों के अत्यंत मध्य भाग में रहने वाले जम्बूद्वीप के मध्य भाग में पद्म कर्णिका के समान रहते हुए मेखलालंकृत सुदर्शन मेरु या सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। इसका मूल विस्तार १००९० योजन होते हुए चित्राभूमि में यह एक हजार योजन नींवरूप में है। भूभाग पर इसका भूव्यास (चौड़ाई) दश हजार योजन है मेरू के मूल से लेकर एक हजार योजन ऊँचाई पर अर्थात् भूभाग पर भद्रसालवन २५० योजन तक चारों तरफ बिछा हुआ है। भद्र सालवन से ५०० योजन ऊँचाई पर ५०० योजन विस्तार का नन्दन वन है। नन्दन वन से ११००० योजन तक पर्वत की ऊँचाई खड़ा होते हुए आगे ५१५०० योजन तक ढाल रूप में ऊँचाई है। अनन्तर अर्थात् नन्दन वन से ६२५०० योजन ऊँचाई पर सौमनसवन ५०० योजन विस्तार का है। सौमनस वन से ११००० योजन तक पर्वत की ऊँचाई खड़ा होते हुए आगे २५००० योजन तक ढाल रूप में ऊँचाई है। अनन्तर अर्थात् सौमनसवन से ३६००० योजन ऊँचाई पर ४९४ योजन विस्तार का पांडुक वन है। यही पांडुक वन मेरू अग्र भाग होते हुए उसकी चौड़ाई एक हजार योजन की है। पाण्डुक वन के बीच में पाण्डुकवन से ४० योजन ऊँचाई का वैडूर्य रत्नमयी चूलिका मूल में १२ योजन चौड़ाई मध्यम में ८ योजन और अग्र भाग में ४ योजन है। लिखा भी है–

विदेहक्षेत्रमध्यरथकुरुक्षेत्र द्वयावधि।
योजनानां सहस्राणि नवति र्नवचोच्छितः॥
मेखलात्रयसंयुक्तः ख्यातो मेरूमेहीधरः।
ऊर्ध्वं चूलिकायोद्भाति स चत्वारिंशदुच्छयः॥ – बृहत् हरिवंश पुराण

आहारदान की महिमा

तीर्थंकर प्रभु को दीक्षा के बाद
प्रथम आहार देने वाले प्रभृति

समवसरण सभा
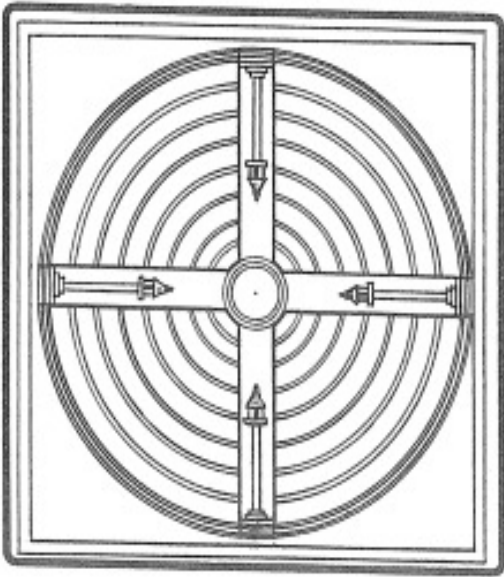
सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर विक्रिया के द्वारा सम्पूर्ण तीर्थंकरों के समवसरणों को विचित्र रूप से रचता है। समवसरण के इकतीस अधिकार होते हैं वे–

१. सामान्य भूमि का प्रमाण, २. सोपानों का प्रमाण, ३. विन्यास, ४. विधि, ५. धूलिसाल, ६. चैत्यप्रसाद भूमियाँ, ७. नृत्यशाला, ८. मानस्तंभ, ९. वेदी, १०. खातिका, ११. वेदी, १२. लताभूमि, १३. साल, १४. उपवनभूमि, १५. नृत्यशाला, १६. वेदी, १७. ध्वजक्षोणी, १८. साल, १९. कल्पभूमि, २०. नृत्यशाला, २१. वेदी, २२. भवनमही, २३. स्तूप, २४. साल, २५. श्री मंडप, २६. ऋषि आदि गणों का विन्यास, २७. वेदी, २८. पीठ, २९. द्वितीय पीठ, ३०. तृतीयपीठ, ३१. गंधकुटी का प्रमाण इस प्रकार पृथक् अधिकार हैं।

भगवान् ऋषभदेव के समवसरण की सम्पूर्ण सामान्य भूमि सूर्यमंडल के सदृश गोल स्कंध (भिन्न)

इन्द्रनील मणिमयी और १२ योजन प्रमाण विस्तार युक्त थी। यह जो सामान्य भूमि का प्रमाण बतलाया गया है वह अवसर्पिणीकाल का है। उत्सर्पिणीकाल में इससे विपरीत है। विदेहक्षेत्र के सम्पूर्ण तीर्थंकरों के समवसरण की भूमि बारह योजन प्रमाण ही रहती है।

धूलिसालों का वर्णन में (तिलोयपण्णत्ति अ. ४ गाथा ७३८) लिखा है कि प्रत्येक गोपुर के बाहर और मध्य भाग में द्वार के पार्श्व भागों में मंगल द्रव्य, निधि और धूप घट से युक्त विस्तीर्ण पुतलियाँ होती हैं तथा अकृत्रिम जिनालयों की गंधकुटी में जिनप्रतिमा के सामने भी अष्ट मंगल द्रव्य रखे रहते हैं, वे बड़े सुशोभित होते हैं। इनमें से प्रत्येक १०८-१०८ होते हैं। उनके नाम ये हैं-

भियारकलसदप्पवीयण धयचामरादवत्तमहा।
सुवइट्ठ मंगलाणि य अट्ठहियसयाणि पत्तेयं ॥९८९॥

-त्रिलोकसार

काल, महाकाल, पाण्डु, माणवक शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल और नानारत्न ये नवनिधियाँ प्रत्येक एक सौ आठ २ होती हैं। (देखो ७३९ गाथा)

पहिला पीठ वैडूर्य मणिमय है उसके ऊपर सुवर्णमय द्वितीय पीठ है, और उसके भी ऊपर बहुत वर्ण के रत्नों से निर्मित तृतीय पीठ होता है।

पीठ के ऊपर मान स्तंभ होते हैं। उनका बाहुल्य ऋषभ देव के समवशरण में २३९५२ धनुष प्रमाण था। (देखिए तिलोयपण्णत्ति गाथा ७७६)

मानस्तंभ के शिखर पर उपरिम भाग में प्रत्येक दिशा में, आठ प्रातिहार्यों से युक्त रमणीय एक एक जिनेन्द्र प्रतिमायें होती हैं। इसलिए दूर से ही मानस्तम्भों के देखने से मान से युक्त मिथ्यादृष्टि लोग अभिमान से रहित हो जाते हैं। इसलिए इनको '**मानस्तंभ**' कहा गया है। (देखिए गाथा ७८२)

अष्टमंगल द्रव्य
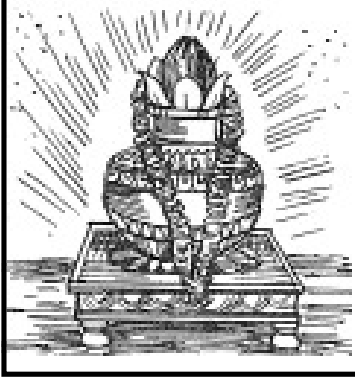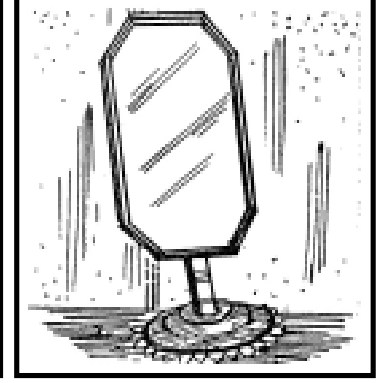
भृंगार (झारी)   कलश   दर्पण
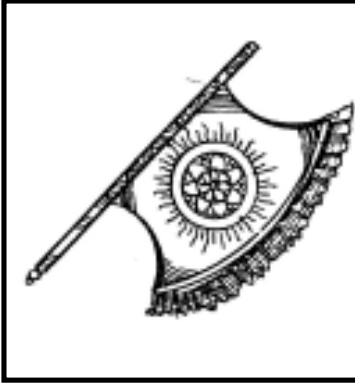
ताल व्यंजन (पंखा)   ध्वजा   चँवर
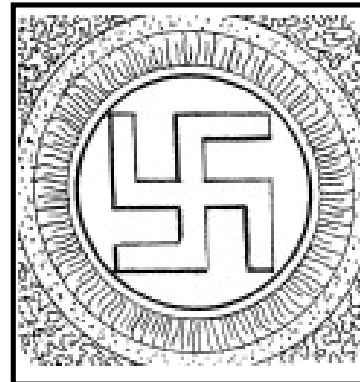
छत्र   सुप्रतिष्ठ (स्वस्तिक या साथिया)

अष्टप्रातिहार्य और उनका स्वरूप

सिंहासन
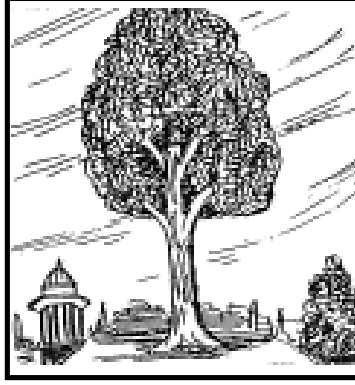
अशोक वृक्ष

छत्र त्रय
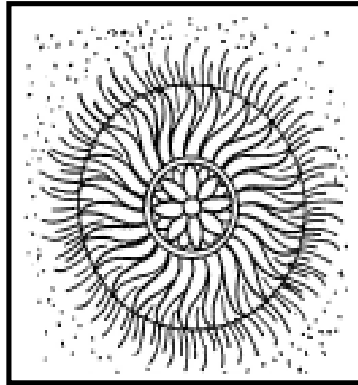
भामण्डल या प्रभामण्डल
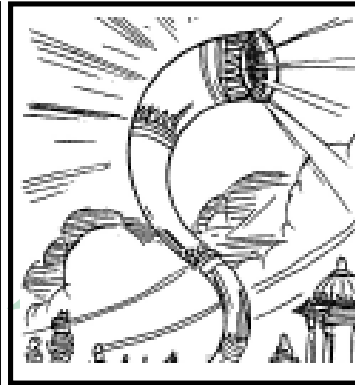
दिव्यध्वनि

सुरपुष्पवृष्टि
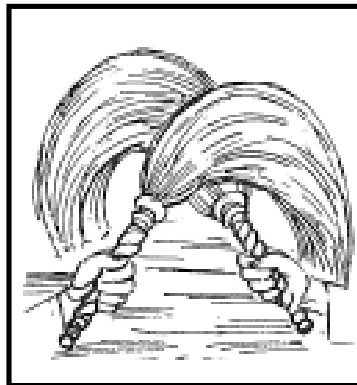
चँवर

देवदुन्दुभि

कल्प भूमि में पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और तेजांग ये दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं।

श्री मण्डप भूमि—अनुपम, मनोहर, उत्तम रत्नों के स्तंभों पर स्थित और मुक्ताजालादि से शोभायमान आठवीं श्री मण्डप भूमि होती है। निर्मल स्फटिकमणि से निर्मित सोलह दीवालों के बीच में बारह कोठे होते हैं। इन कोठों की ऊँचाई अपने-अपने जिनेन्द्र की ऊँचाई से बारह गुणी होती है।

गणों की रचना—(बारह सभा) प्रथम कोठे में अक्षीणमहानसऋद्धि तथा सर्पिस्त्रावि, क्षीरास्त्रावि, अमृतस्त्राविरूप रस ऋद्धियों के धारक गणधरदेव प्रमुख बैठा करते हैं। दूसरे कोठे में **कल्पवासिनी देवियाँ** और तीसरे कोठे में अतिशय नम्र **आर्यिकायें** तथा **श्राविकायें** बैठा करती हैं। चतुर्थ कोठे में **ज्योतिषी देवों की देवियाँ** और पाँचवे कोठे में **व्यंतर देवों की देवियाँ** बैठा करती हैं। छठे कोठे में **भवनवासिनी देवियाँ** और सातवें कोठे में दश प्रकार के **भवनवासी देव** बैठते हैं। आठवें कोठे में किन्नरादिक आठ प्रकार के **व्यंतर देव** और नवमें कोठे में **चन्द्रसूर्यादिक ज्योतिषी देव** बैठते हैं। दशवें कोठे में सौधर्म स्वर्ग से आदि लेकर अच्युत स्वर्ग तक के देव और उनके इन्द्र तथा ग्यारहवें कोठे में **चक्रवर्ती; मांडलिक राजा** एवं अन्य मनुष्य बैठते हैं। बारहवें कोठे में **सिंह, हाथी, व्याघ्र और हरिणादिक तिर्यंच** जीव इनमें पूर्व वैर को छोडकर शत्रु भी उत्तम मित्र भाव से युक्त होकर बैठते हैं। समवसरण में तिर्यंच प्राणी भी अपने अपने वैर छोड़कर मित्र भाव से बैठते हैं तो इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के चरणों की अगाध महिमा कहाँ तक वर्णन कर सकें? अर्थात् भगवान् की अपरम्पार महिमा है।

गंधकुटी—तीसरी पीठिकाओं के ऊपर एक-एक गंधकुटी होती है। यह गंधकुटी चँवर, किंकिणी, वन्दनमाला और हारादिक से रमणीय, गोशिर, मलयचन्दन और कालागरु इत्यादि धूपों के गंध से व्याप्त प्रज्वलित रत्नों के दीपकों से सहित तथा नाचती हुई विचित्र ध्वजाओं की पंक्तियों से संयुक्त होती है। उस गंध कुटी की चौड़ाई और लम्बाई भगवान् ऋषभनाथ के समवसरण में ६०० धनुष प्रमाण थी। फिर २५ धनुष श्री नेमिनाथ पर्यंत क्रम से कम होती गई है। भगवान् वर्धमान तीर्थंकर के समवसरण में गंधकुटी का विस्तार पचास धनुष प्रमाण था। गंध कुटियों के मध्य में पादपीठ सहित रमणीय सिंहासन होते हैं। स्फटिक मणिमय रत्नजड़ित उन सिंहासनों की ऊँचाई तीर्थंकरों की ऊँचाई के ही योग्य हुआ करती है। लोक और अलोक को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान भगवान् अरहंत देव उन सिंहासनों के ऊपर आकाश मार्ग में चार अंगुल के अंतराल से स्थित रहते हैं।

पंचपरमेष्ठी—णमोकारमंत्र में जो अरिहंतादिकों को नमस्कार किया गया है, वे अरिहंतादि आत्मा के पदों और गुणों में सबसे बड़े हैं तथा राजा, महाराजा, चक्रवर्ती वा इन्द्र, अहमिन्द्र भी उनको शिर झुकाते हैं, उन्हें परमेष्ठी कहते हैं। अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पंचपरमेष्ठी हैं।

अरहन्त परमेष्ठी

घातिक्षयजमनंत ज्ञानादि चतुष्टयं विभूत्याढ्यम्।
येषामरत्यर्हंतस्तोऽत्र जिनेन्द्राः समुद्दिष्टाः॥ १॥

अर्थ—घातिकर्मों के क्षय होने से समवसरण, छत्र, चमर, सिंहासन इत्यादि ऐश्वर्य सहित जिनको अनंत चतुष्टय की प्राप्ति हुई है। वे अरहंत परमेष्ठी है। इन्हीं को ही तीर्थंकर, देवाधिदेव, देव आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।

तीर्थंकर—जिनके गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष ऐसे पाँच कल्याणक होते हैं जिनके शरीर पर १००८ सुलक्षण (चिह्न) रहते हैं जो धर्म रूपी तीर्थ को चलाने वाले अर्थात् प्रसार करने वाले हों, जिनकी समवसरण रूपी सभा में तीनों लोकों के जीव आकर दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश सुनते हों, चक्रवर्ती आदि नरेन्द्र, विद्याधर, नागेन्द्र महाविभूति के धारक इन्द्र, अहमिन्द्रादिक सभी तरह के जीव जिनकी विनय-स्तुति-नुति करते हों, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं।

देव—जिसमें वीतरागता, सर्वज्ञता, हितोपदेशिता ये तीन गुण हों, उसे ही सच्चा देव (आप्त) समझना चाहिए।

शास्त्र—जो आप्त या सच्चे देव का कहा हुआ हो, वादी-प्रतिपादी जिसका खण्डन न कर सकते हो और पूर्वापर विरोध से जो रहित हो, वही सच्चा शास्त्र या परमागम कहलाता है।

सूचना—अष्टमंगल द्रव्य और अष्ट प्रतिहार्यों का विवरण समवसरण प्रकरण में देखिए।

सिद्ध परमेष्ठी

शुक्लध्यानविशेषान्निरस्तनिःशेषकर्म शेषकर्मसंघाताः।
सम्यक्त्वादिगुणाढ्याः सिद्धाः सिद्धिं प्रयच्छन्तु॥ २॥

अर्थ—व्युपरति क्रियानिवर्तिनि नामा शुक्लध्यान से सर्व कर्मों का नाश होने से सम्यक्त्वादि आठ गुणों की प्राप्ति जिसने कर ली है, उसी को सिद्ध परमेष्ठी कहते हैं। वे सिद्ध भगवान् हमको मोक्ष की प्राप्ति करावें।

सिद्धलोक—(तिलोयपण्णत्ति, अ. ९, गाथा ३ से १६ देखिए)

१. आठवीं पृथ्वी के ऊपर (७०५०) सात हजार पचास धनुष जाकर सिद्धों का आवास है।

२. सिद्धों के निवास क्षेत्र का प्रमाण ८४०४७४०८१५६२५/८ इतने योजन है।

३. अतीत समयों की संख्या में छह मास और आठ समय का भाग देकर आठ कम छह सौ अर्थात् पाँच सौ वानवै से गुणाकार करने पर जो प्राप्त हो उतने सिद्ध हैं।

४. इन सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना (५२५) पाँच सौ पच्चीस धनुष और जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ प्रमाण है।

५. लोकविनिश्चय ग्रन्थ में लोक विभाग में सब सिद्धों की अवगाहना का प्रमाण कुछ कम चरम शरीर के समान कहा है।

६. पाठांतर से मालूम होता है कि अन्तिम भव में जिसका जैसा आकार दीर्घता और बाहुल्य हो उसके तृतीय भाग से कम सब सिद्धों की अवगाहना होती है।

७. एक जीव से अवगाहित क्षेत्र के भीतर जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम अवगाहना से सहित अनंत सिद्ध जीव होते हैं।

८. मनुष्यलोक प्रमाण स्थित तनुवात के उपरिम भाग में सब सिद्धों के शिर सदृश होते हैं। अधस्तन भाग में कोई विसदृश होते हैं।

९. जितने मार्ग जाने योग्य हैं, उतना जाकर लोक शिखर पर सब सिद्ध भगवान पृथक्-पृथक् मोम से रहित मूषक के अभ्यन्तर आकाश के सदृश स्थित हो जाते हैं।

१०. **सिद्ध परमेष्ठी कैसे है?** समाधान-शुद्धद्रव्य की अपेक्षा से एक रूप है। व्यवहार की अपेक्षा से सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व इस प्रकार आठ गुण से युक्त है। निश्चयनय की अपेक्षा से सिद्ध समूह अनन्तानन्त गुण से युक्त विराजमान हैं।

अस्तित्व—अनेक वस्तु स्वभावनैं लिए होय सो अस्तित्व कहिए।

वस्तुत्व—अनेक वस्तु स्वभाव सहित वस्तुत्व कहिए।

प्रमेयत्व—अपनी मर्यादा लिए होय सौ प्रमेयत्व कहिए।

अगुरुलघुत्व—न भास्वान ऐसा स्वभाव लिए होय सो अगुरुलघु कहिए।

द्रव्य- अपने गुण पर्यायनैं लिए द्रवै सो द्रव्य कहिए।

प्रदेशी- अपनी सत्ताविषै तिष्ठै सो प्रदेशी सो प्रदेशी कहिए।

चेतन- अपना चेतनज्ञान स्वभाव लिए होय सो चेतन कहिए।

अमूर्तिक- चेतन स्वभाव सहित पुद्गल के बीस गुण रहित होय सो अमूर्तिक कहिए, ज्ञान दर्शन सहित स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रहित अमूर्तिक है।

ये आठ गुण निर्मल हैं, विशुद्ध हैं, द्रव्य के स्वाभाविक आठों गुण हैं, शुद्ध है। सब जीवनि

विषैं ये आठों गुन पाईए।

आचार्य परमेष्ठी

पंचधाचरंत्याचारं शिष्यानाचारयन्ति च।
सर्वशास्त्रविदो धीरास्तेऽत्राचार्याः प्रकीर्तिताः॥ ३॥

अर्थ—जो पाँच प्रकार का आचार पालन करने में तत्पर रहते हुए शिष्यों से भी आचार पालन कराते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। अर्थात् दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार इन पाँच प्रकार का आचार स्वतः पालन करते हुए शिष्यों से भी यही आचार पालन कराते हैं। जो सर्व शास्त्र को जानते हुए परिषह, उपसर्ग सहन करके आपका धैर्य गुण जग को बतलाते हैं। वे आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी

दिशन्ति द्वादशांगादि शास्त्रं लाभादि वर्जिताः।
स्वयं शुद्धव्रतोपेता उपाध्यायास्तु ते मताः॥ ४॥

अर्थ—द्वादशांगादि शास्त्र शिष्यों को जो पढ़ाते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं। अर्थात् जो आप स्वयं अहिंसादि पाँच महाव्रतों को निर्दोष पालते हैं और शिष्यों से कुछ प्रतिफल की लाभ (आशा) नहीं रखते हुए या आपकी लोक में कीर्ति हो इत्यादि हेतु रहित निस्पृह होकर प्रेम से जो शिष्यों को उनके हित की इच्छा से द्वादशांगादि शास्त्र पढ़ाते हैं, वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं।

साधु परमेष्ठी

ये व्याख्यान्ति न शास्त्रं न ददति दीक्षादिकं च शिष्याणां।
कर्मोन्मूलन्शक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो क्षेयाः॥ ५॥

अर्थ—शिष्यों को दीक्षा देना, संघ का रक्षण करना, पढ़ाना इत्यादि कार्य जिसने छोड़ दिया है और जो सर्व कार्यों का नाश करने के लिए समर्थ होते हैं, रत्नत्रय की आराधना करने में सदा तत्पर रहते हैं। उसी को साधु परमेष्ठी कहते हैं। अर्थात् जो मोक्ष साध्य करते हैं या करेंगे, वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं।

भरत चक्रवर्ती के १६ स्वप्न दर्शन और उन स्वप्नों का फलस्वरूप

१. तेईस सिंहों को देखा।

१. श्री महावीर स्वामी को छोड़ कर बाकी तेईस तीर्थंकरों के समय में दुष्ट नयों की अथवा मिथ्याशास्त्रों की उत्पत्ति नहीं होगी।

२. एक सिंह के पीछे मृग समूह।

२. श्री महावीर स्वामी के तीर्थ में परिग्रह को धारण करने वाले बहुत से कुलिंगी वा अन्य भेषधारी हो जायेंगे।

३. घोड़े पर हाथी चढ़ रहा है।

३. पंचम काल में साधु लोग तपश्चरण के समस्त गुणों को धारण करने के लिए समर्थ नहीं होंगे। मूलगुण और उत्तर गुणों के पालन करने की प्रतिज्ञा लेकर भी कोई उनके पालन करने में आलस्य करने लगेंगे, कोई मूल से सब गुणों को ही नष्ट कर देंगे और कोई मन्दता वा उदासीनता धारण करेंगे।
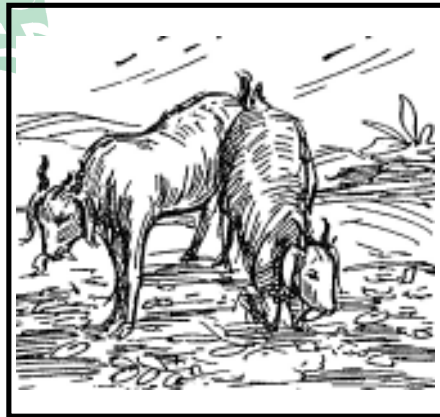
४. दो बकरे सूखे पत्ते खा रहे हैं।

४. आगे के (पंचमकाल) लोग सदाचार को छोड़कर दुराचारी हो जायेंगे।
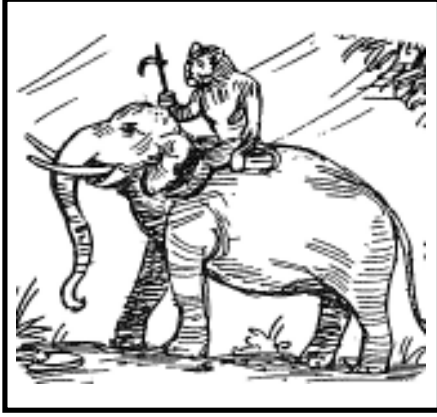
५. हाथी पर बन्दर बैठा है।

५. प्राचीन क्षत्रियों के वंश का नाश हो जायगा और फिर नीच कुल वाले इस पृथ्वी का शासन वा पालन करेंगे।

६. हँस को कौवे सता रहे हैं।

६. लोग जैन मुनियों को छोड़कर धर्म की इच्छा से अन्य मतियों के साधुओं के समीप जायेंगे।

७. भूत प्रेत नाच रहे हैं।

७. अज्ञानी जीव भूतादि कुदेवों की पूजा जिनदेव के समान करेंगे।

८. तालब मध्य में खाली है और किनारों पर जल भरा हुआ है।

८. उत्तम तीर्थों में धर्म का अभाव होगा। हीन स्थान में धर्म रहेगा।
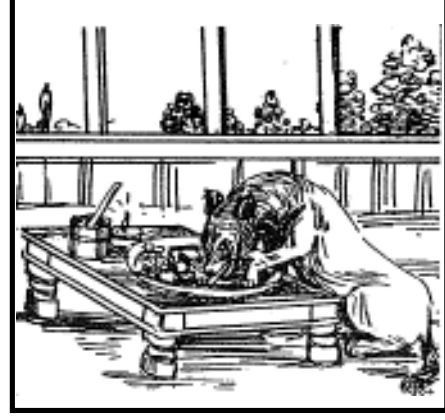
९. रत्नराशि धूल में मिली हुई है।

९. पंचमकाल में मुनि लोग शुक्ल-ध्यान, उत्तम ऋद्धि आदि से विभूषित नहीं होंगे।

१०. कुत्ता पूजन का द्रव्य खा रहा है।

१०. अव्रती ब्राह्मण गुणी पात्रों के समान आदर सत्कार पावेंगे।

११. एक तरुण बैल को देखा।

११. पंचमकाल के जीव तरुण अवस्था में धर्म साधन करेंगे। परन्तु वृद्धावस्था में अरुचि करेंगे।
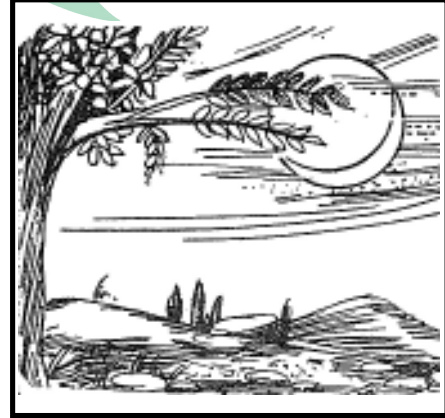
१२. शाखा सहित चन्द्रमा को देखा।

१२. पंचम काल में मुनियों के अवधि ज्ञान व मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा।
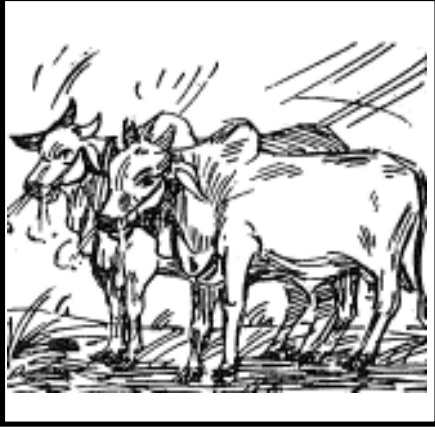
१३. युगल बैल दहाड़ रहे हैं।
१३. पंचम काल में मुनि संघ सहित रहेंगे एकाकी नहीं रहेंगे।

१४. सूर्य मेघों से घिरा हुआ है।
१४. पंचम काल में केवलज्ञान नहीं होगा।

१५. छाया रहित सूखे वृक्ष को देखा।
१५. पंचम काल के स्त्री पुरुष शीलव्रत धारण करके भी कुशील सेवन करेंगे।

१६. सूखे जीर्ण पत्ते।
१६. पंचम काल में अन्न आदि औषधियाँ नीरस होंगी।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्न दर्शन और उन स्वप्नों का फल स्वरूप
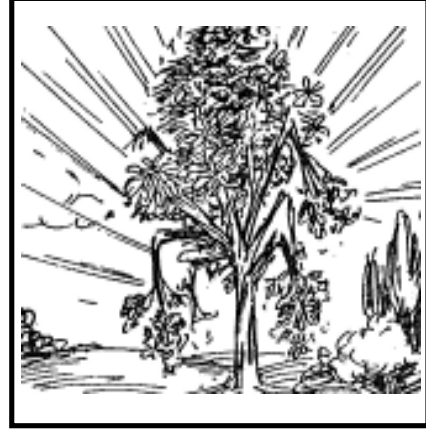
१. सूर्य मंडल अस्त होते हुए देखा।
१. पंचम काल में अंग पूर्व के धारी मुनि कोई नहीं रहेंगे।

२. कल्प वृक्ष की शाखा टूटी हुई देखी।
२. अभी से कोई क्षत्रिय राजा जिन दीक्षा नहीं धारण करेंगे।
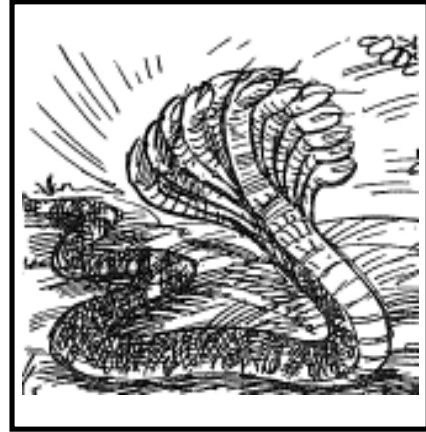
३. सीमा उल्लंघन किए हुए समुद्र।
३. राजा लोग अन्यायी होंगे, उनको परधन हरण की इच्छा होगी।

४. बारह फणों का सर्प देखा।
४. बारह वर्षों तक अकाल (दुष्काल) पड़ेगा।
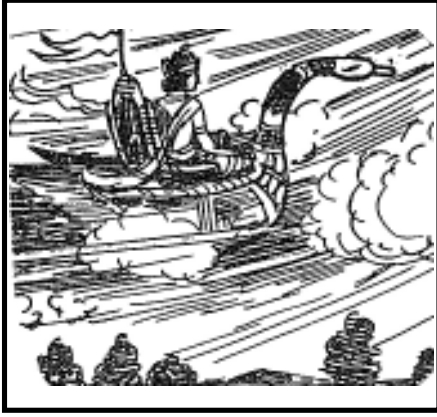
५. देव विमान वापस लौटा जा रहा है।

५. पंचम काल में यहाँ देव नहीं आवेंगे। चारण मुनि और विद्याधर नीचे नहीं आवेंगे।

६. ऊँट पर राजकुमार बैठा है।

६. राजा लोग दया धर्म नहीं पालेंगे, हिंसा करेंगे।

७. दो काले हाथी लड़ रहे हैं।

७. समय पर पानी नहीं बरसेगा व निर्ग्रंथ मुनि सग्रंथ होंगे।

८. महारथ में गोवत्स जुड़े हैं।

८. युवावस्था ही में कदाचित् कोई दीक्षा धारण करेंगे, वृद्धावस्था में दीक्षा नहीं पालेंगे।

९. नग्न स्त्रियाँ नाच रहीं हैं।

९. दिगम्बर नग्न मुनि होवेंगे परंतु वे कपटी और पाखंडी होवेंगे। कुदोषों की विशेष पूजा होती रहेगी।

१०. सुवर्ण पात्र में कुत्ता खा रहा है।

१०. उत्तम कुल वालों में से अब लक्ष्मी पाखंडी और मध्यम कुल वाले लोगों में चली जायेंगी।

११. जुगनू चमकते देखा।

११. जैन धर्म का विस्तार अब बहुत थोड़ा रहेगा, और अन्य धर्म का विस्तार ज्यादा होगा।

१२. सूखा हुआ सरोवर में दक्षिण दिशा में थोड़ा-सा जल दिखा।

१२. जिन-जिन स्थानों में पंच कल्याणक हुए हैं उन-उन स्थानों में धर्म की हानि होगी। अब से जिन धर्म रहे तो उसी दक्षिण दिशा में रहेगा।

१३. रज में कमल खिला हुआ देखा।

१३. ब्राह्मण और क्षत्रिय ये अन्य धर्म से चलेंगे। वैश्य लोग जैन धर्म पालेंगे, व धनवान होंगे।

१४. छिद्र सहित चन्द्रमा देखा।

१४. जिन शासन में अनेक भेद प्रभेद होयेंगे।

१५. हाथी पर बन्दर बैठा हुआ देखा।

१५. क्षत्रिय लोग सेवक होंगे, नीच लोग राज्य करेंगे।

१६. रत्न राशि रज में देखी।

१६. मुनिमुनियों में अनेक फूट होगी। आपस में स्नेह भाव नहीं रहेगा।